श्री सहजानन्द शास्त्रमाला–७५

भागवत धर्म

रचयिता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

संपादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।
(उ० प्र०)

प्रथमसंस्करण ११०० | १९६० | न्योछावर २)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ

(२) श्रीमती फूलमाला जी धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर, मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावोंकी नामावली:—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह.
(५) श्री ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून।
(१५) ,, श्रीमान ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि० सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर

(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरधारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मन्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) सेठ छदामीलाल जी जैन, फिरोजाबाद
(२८) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२९) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
(३०) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छावड़ा, झूमरीतिलैया
* (३१) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३२) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या, जयपुर
* (३३) ,, बा० दयाराम जी जैन R. S. D. O., सदर मेरठ
* (३४) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
* (३५) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी, जैन सहारनपुर
* (३६) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
×(३७) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
×(३८ ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोट— जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावों की स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये है बाकी आने है तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं। श्रीमती बल्लोबाई जी ध० प० सि० रतनचन्द जी जैन, जबलपुरने संरक्षक सदस्यता स्वीकार की है।

यत् किञ्चत्

प्रिय पाठकवृन्द !

आपको यह जानकर परम हर्ष होगा कि एक ऐसी पुस्तक जो कि धर्मके बारेमें निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक शैलीसे लिखी गई है आपके हाथमें आ रही है। इस पुस्तकके रचयिता अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री महोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज हैं।

प्रस्तुत पुस्तकके संपादनका कार्य अत्यन्त कठिन था और यह ठीक है कि इसके संपादनकी क्षमता भी मैंने अपने आपमें अनुभव नहीं की तथा पुस्तककी उपयोगिताने मुझे इसके संपादन करनेके लिये प्रोत्साहित किया है।

भागवत धर्म एक १९५९ की डायरीके रूपमें अवश्य लिखा गया है, न परंतु अपने आपमें यह एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है।

इस पुस्तकमें जिन २ उपयोगी जिन विषयोंका विवेचन है, उनका दिग्दर्शन पुस्तकके प्रथम पाठ "आद्य जल्पमें" उल्लिखित विषयोंके नाम पढ़कर सहजज्ञात हो सकता है।

आशा है पाठकगण इससे लाभ उठायेंगे तथा द्वितीय संस्करणके लिये कोई उपयोगी सुझाव देना चाहें तो 'सहजानंद शास्त्रमाला, सदर मेरठ' को लिखने का कष्ट करें।

जून
१९६२

—संपादक

॥ नमः सिद्धाय ॥

अध्यात्मयोगी शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी "सहजानन्दजी"
महाराज द्वारा विरचित

भागवत धर्म

सहजानन्द डायरी १९५९

१—आद्य जल्प

आज उपवास सानन्द हो रहा है। इस वर्षकी डायरी लेखनके लिये बड़े आकार प्रकारकी डायरी आई है। इतने लम्बे विलक्षण विचार तो उठते नहीं, जो उनसे ये विस्तृत-पत्र भरे जावें। अतः आज यह विचार कर कि बहुत समय से लोग मुझसे यह कहते चले आ रहे हैं कि धर्मके बारेमे बहुमुखी जानकारी हो सके, ऐसी पुस्तक होना चाहिये, सो यह संकल्प हुआ है कि सही बात बिना बनावटके सीधे सादेरूप में लिखी जावे। इस पुस्तकका नाम "भागवत धर्म" उपयुक्त जंचा है, क्योंकि सच्चिदानन्दमय वीतराग सर्वज्ञ भगवान्की भक्ति द्वारसे गुजर कर तत्त्वज्ञानके यत्नमें ही आत्मधर्मका परिचय हुआ है। जो आत्मधर्म अनन्तज्योतिर्मय व सहजानन्दमय प्रसिद्ध हुआ है व जिसकी उपासना में ही आत्मकल्याण सुनिश्चित है। यही सत्य शान्तिपथ है। इन्हीं कारणोंसे इस पुस्तकके अपर नाम चार और हो सकते हैं— (१) आत्मधर्म, (२) आत्म-कल्याण, (३) सत्य शान्तिपथ, (४) सहजानंदमार्ग।

यह कार्य मुझ जैसे अल्पज्ञानीके लिये बहुत बड़ा कार्य है। भगवद्भक्ति एवं आत्मोपासना मुझमें अधिकाधिक वर्ती, जिसके प्रसादसे प्राप्त हुई निर्मलता एवं धर्मोत्साहमें इस कार्यको निर्विघ्न परिसमाप्त कर लिया जावे।

इस पुस्तकके विषय इस प्रकार हो सकेंगे— विश्वके पदार्थ, जगत्के जीवों

की स्थिति, चेतनकी महिमा, क्लेश मुक्तिका उपाय, दृष्टिवाद, विश्वव्यवस्था, वैदिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, ईसाई मजहबसे प्राप्तव्य शिक्षा, मुसलिम मजहब से प्राप्तव्य शिक्षा, हिन्दू दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, नैयायिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, निष्कामकर्मयोग दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, मीमांसकदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, अद्वैत दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, वैशेषिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, सांख्य-दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, बौद्ध दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, पातञ्जलियोगदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, वेदान्त (उपनिषद) दर्शन से प्राप्तव्य शिक्षा, जैनदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा, आधुनिक मजहब, आत्मस्वरूप, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, काल रचना, लोकरचना, जीवगणना, कर्मसत्त्व, कर्मोदय, कर्मोदीरणा, कर्मसंक्रमण, कर्मोत्कर्षण, कर्मापकर्षण, कर्मबन्धापसरण, कर्मोपशम, कर्मस्थितिनिर्जरा, अकालमृत्यु, कर्मविपाकनिर्जरा, कर्मप्रकृतिनाश, कर्मक्षयोपशम, कर्मक्षय, गुणस्थान, सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति, स्वरूपाचरण, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, सकल परमात्मा, निकलपरमात्मा, निश्चयधर्म, व्यवहारधर्म, मैत्री, प्रमोद, अनुकम्पा, माध्यस्थ्य, गृहस्थधर्म, मूल आचरण, साधुधर्म, साधुमूलाचार, परमेष्ठित्व, परमात्मत्वविकास, पावन द्रव्य, धर्मक्षेत्र, पुण्यक्षेत्र, धर्मपर्व, पुण्यपर्व, संत जन, स्वात्मोपलब्धि, बोधि, आराधना, परिणामशुद्धि, समाधि, निर्विकल्प-समाधि, समाधिमरण, परलोक, निर्वाण, निर्वाणका परमार्थ कारण, पूर्णसत्य, आत्मभावना, कल्याणार्थीका कर्तव्य।

इस पुस्तकका जो महानुभाव उपयोग करें, उन्हें दो बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है—(१) यदि कोई प्रकरण कठिन लगे तो भी यथाशक्ति अर्थ लगाते हुए पढ़ना आवश्यक है, बीचका प्रकरण छोड़ना नहीं। (२) इस पुस्तकका तात्त्विक विषय वैज्ञानिक ढंगसे पढ़ा जावे; किसी भी कुल धर्मका पक्ष या सम्प्रदायका उपयोग न रख कर पढ़ा जावे।

—:*:—

२—विश्व के पदार्थ

विश्वका अर्थ है सब याने अनेक पदार्थोंका जो समूह है, उसे विश्व कहते हैं। विश्वके पदार्थोंका परिज्ञान करनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि ये

समस्त पदार्थ कितने हैं ? ये समस्त पदार्थ कितने हैं, यह जाननेके लिये यह समझना आवश्यक है कि आखिर एक पदार्थ होता कितना है ? जब यह समझ में आवेगा कि एक पदार्थ इतना होता है तो ऐसे एक एक करके समस्त पदार्थ इतने हैं, यह जाननेमें विलम्ब नहीं लगता।

एक पदार्थ उतना होता है जितने पूरेमें एक परिणमन (दशा) याने पर्याय होना ही पड़े और जितनेसे बाहर वह हो ही नहीं सके, उतने पिण्डको एक पदार्थ कहते हैं। जैसे कि मेरा क्रोध परिणमन मेरेमें समस्त प्रदेशोंमें होता है और मेरेसे बाहर मेरा क्रोध परिणमन नहीं होता, सो इतना यह मैं एक पदार्थ हूं। मेरा ज्ञान परिणमन या आनन्द परिणमन इत्यादि कोई भी मेरा परिणमन मेरेमें ही और मुझमें पूरेमें ही होता है, मेरे प्रदेशोंसे बाहर नहीं होता, सो इतना यह मैं एक पदार्थ हूं। यह शरीरपिण्ड जो कि दिखनेमें एक लगता है, इसमें एक पदार्थका लक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि इतना तो स्थूल बुद्धिमें आरहा है कि हाथ यदि गरमकर लिये जांय तो पैर गरम नहीं हो जाते। पैरमें रोगके कारण रूप, रस, स्पर्श, गंध किसी रूप हो जांय उस रूप हाथ आदि नहीं हो जाते हैं। उस पैर, हाथ आदिमें भी प्रत्येक इन्च इन्चके भागमें जुदा जुदा परिणमन है और उसमें भी भाग प्रति भाग सोचते जांय, उसमें भी प्रत्येक भागमें जुदा जुदा परिणमन है। इस तरह वहाँ जो एक एक अविभागी अंश है याने जिसका दूसरा भाग कभी हो ही नहीं सकता, ऐसा एक एक परमाणु एक एक पदार्थ है। यह परमाणु किया नहीं जा सकता, प्रकृत्या ऐसा अविभागी शुद्ध रूपमें परिणम जाता है। यहाँ एक पदार्थका लक्षण घटित होता है। परमाणुमें जो रूप परिणमन है वह परमाणुमें पूरेमें है और परमाणुसे बाहर नहीं है। इस प्रकार यह शरीर एक पदार्थ नहीं, किन्तु अनन्त पदार्थों (परमाणुओं) का पिण्ड है।

अब बाहर अनेक जगहोंपर भी दृष्टि पसारें। जैसे कि यह मैं आत्मा एक हूं, इस प्रकार एक एक करके समस्त आत्मा अक्षय अनन्तान्त हैं। उन आत्माओं में अनन्त आत्मा तो मुक्त आत्मा हैं और उनसे अनन्तानन्तगुणे अक्षय अनन्तानन्त संसारी आत्मा हैं। संसारी आत्माओंमें असंख्यात तो त्रसत्व आत्मा हैं और

अक्षय अनन्तानन्त वहिर्मुख आत्मा हैं। आत्मा व जीव एकार्थवाचक नाम हैं, क्योंकि आत्मा तो उसे कहते हैं जो "यः स्वभावतः सर्वार्थान् अतति गच्छति व्याप्नोति ज्ञानद्वारा स आत्मा" इस व्युत्पत्तिसे जो स्वभावसे समस्त पदार्थोंमें ज्ञानद्वारा व्यापे वह आत्मा है; तथा जीव उसे कहते हैं "यः चैतन्यप्राणधारणेन जीवति स जीवः" जो चैतन्य प्राणके धारणसे जीवे उसे जीव कहते हैं। यद्यपि आत्मा व जीव एक चेतन द्रव्यके अपरनाम हैं तो भी प्रायः ऐसी रूढ़ि है कि स्वभावदृष्टिसे देखे गये चेतनको आत्मा कहते हैं और परिणमन (पर्याय) की दृष्टिसे देखे गये चेतनको जीव कहते हैं"। इसी आधारपर विशद भिन्नता समझनेके लिये आत्मा व जीव अलग अलग सत्तारूपमें मान लिये गये। फिर भी जीव-आत्मामें लीन होकर ही दुःखसे मुक्त होता है। इस सब कथनमें रहस्य है और इस रहस्य तक पहुँचनेपर ही सत्य आनन्दका अनुभव होता है। इस बातको आगे स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकरणमें तो इतना निश्चय करना है कि जीव अक्षय अनन्तानन्त हैं।

इस प्रकार जीव अक्षय अनन्तानन्त हैं। पुद्गल अक्षय अनन्तानन्त हैं। ये दोनों जातिके द्रव्य क्रियावान् भी हैं। अतः ये निज उपादानशक्तिके परिणमनसे जब गतिक्रिया करते हैं उस समय धर्मनामक द्रव्य गतिक्रियाका उदासीन सहायक होता है और जब चलते हुए ये ठहरते हैं, उस समय अधर्मनामक द्रव्य स्थिति-क्रियाका उदासीन सहायक होता है। ये धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य एक एक ही हैं और समस्त लोक व्याप्त हैं। आकाश द्रव्य एक है और यह अनन्तप्रदेशी है। इसकी कहीं भी सीमा नहीं, केवल यह भेद कल्पनामें कर लिया है कि जितने आकाशमें यह लोक है उतना तो लोकाकाश है और उससे बाहरका आकाश अलोकाकाश है। उक्त समस्त द्रव्योंके परिणमनका हेतुभूत काल द्रव्य है। ये काल द्रव्य असंख्यात हैं और लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य है।

इस प्रकार अक्षय अनन्तानन्त जीव, अक्षय अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य इस तरह अनन्तानन्त पदार्थ हैं। इन पदार्थोंमें से पुद्गल नामक पदार्थ तो मूर्तिक हैं

याने रूप रस गन्ध स्पर्श वाले हैं और मिलकर स्कन्धरूपमें एक पिण्ड हो जांय, ऐसी योग्यतावाले हैं, बांकीके पांचों तरहके पदार्थ अमूर्तिक है।

जिसस्वरूपमें ये पदार्थ स्वभावतः होते हैं उस स्वरूपमें इनका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता और इनका परिणमन भी इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता, केवल पुद्गल द्रव्यका स्थूल परिणमन ही इन्द्रियों द्वारा जाननेमें आ सकता है।

प्रत्येक द्रव्यमें अपने आपकी अनेक परिणतियां होती है, जितने परिणमन हो सकते हैं उतनी शक्तियां द्रव्यमें होती है। ये शक्तियां प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त हैं उनमें से व्यवहारके योग्य कुछ शक्तियोंका वर्णन मिलता है। इन शक्तियोंको गुण कहते हैं। इसकी चर्चा अवसर पाकर विशेष की जावेगी। यहां तो इतना निर्धारित करना है कि वे सब अनन्तानन्त पदार्थ अपनी अपनी शक्तियोंसे तन्मय हैं, उन पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंके परिणमन प्रतिसमय होते रहते हैं। इस तरह प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणमय है। प्रत्येक गुणोंका प्रतिसमय परिणमन नया नया होता है, फिर भी यह सब अभेद है, एक है। हां भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी पर्यायें अवश्य परस्पर व्यतिरेकी हैं, किन्तु उस कालमें वे द्रव्यसे अभेदरूप है। अवर्तमानमें वे व्ययरूप हैं अथवा अभावरूप है।

इन सब पदार्थोंको जातिरूपमें ६ भागोंमें विभक्त किया है। इस लिये द्रव्य ६ हैं, ऐसा भी कह दिया जाता है, किन्तु वस्तुतः द्रव्य ६ नहीं है, अनन्तानन्त हैं। उन सबकी जाति ६ में से कोई न कोई एक प्रकारकी है। वे ६ जातियां ये हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। जीव उसे कहते हैं जिसमें चेतना पाई जावे। पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें मूर्तिकता पाई जावे। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव और पुद्गलके चलनेमे निमित्तभूत हो। अधर्म द्रव्य उसे कहते हैं जो चलते हुए जीव पुद्गलके ठहरनेमें निमित्तभूत हो। आकाशद्रव्य उसे कहते है जिसमें जीव पुद्गल आदि समस्त द्रव्योंका अवगाहन हो। काल द्रव्य उसे कहते है जो जीव आदि सर्व द्रव्योके परिणमनमें निमित्तकारण हो। इन सब द्रव्योंको इन ६ जातिमें भी बांटा जा सकता है और २ जातिमें भी बांटा जा सकता है। जैसे—चेतन, अचेतन; मूर्त, अमूर्त, सक्रिय,

निष्क्रिय; एकप्रदेशी; अनेक प्रदेशी इत्यादि। चेतन तो जीव है, बाकी ५ अचेतन है। मूर्त पुद्गल है, बाकी ५ अमूर्त हैं। सक्रिय जीव व पुद्गल हैं, बाकी ४ निष्क्रिय हैं। एकप्रदेशी कालद्रव्य व पुद्गल द्रव्य हैं, बाकी ४ अनेकप्रदेशी हैं।

इन सब द्रव्योंको यदि एक रूपमें देखा जावे तो सत् रूपमें ही देखा जा सकता है, क्योंकि सभी द्रव्य सत् स्वरूप हैं। इस सत्वको दृष्टिसे एक या अद्वैतमय विश्व जाना जाता है। यही सत्वस्वरूप सत्, ब्रह्म, अद्वैत, विष्णु इत्यादि नामोंसे भी पुकारा जाता है। इसका कारण भी यह है कि इन शब्दोंका भाव भी सत्वस्वरूपमें घटित हो जाता है। जैसे—'वृह्लाति इति ब्रह्म'. जो बढ़े सो ब्रह्म। इस सत्का और संक्षेप तो होता नहीं, अब तो भेदव्यवहारसे उसके बढ़नेकी ही गुन्जाइश है। इस लिये ब्रह्म यही सत्वस्वरूप है। अद्वैत—जो दो या अनेक न हों, एक हो, सो यह सत्व स्वरूप सर्व साधारण धर्म होनेसे एक है। विष्णु—जो सर्वत्र व्यापे सो विष्णु, यह सत्वस्वरूप सर्वपदार्थोंमें व्यापता है।

इन पदार्थोंके प्रदेशविस्तार आकार प्रकाररूप भी परिणमन होता है और पदार्थोंकी शक्तियोंका भी परिणमन होता है। प्रदेशविस्तारादि परिणमनको व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और शक्तियोंके परिणमनको अर्थपर्याय (गुण पर्याय) कहते हैं। जैसे स्कन्धरूपमें परमाणुओंके जो पिण्ड आकार प्रकाररूपमें है वह तो कहलाता व्यञ्जन पर्याय और जो रूप, रस, गंध, स्पर्शका परिणमन है वह कहलाता है अर्थपर्याय और भी, जैसे जीवका मनुष्य पशु आदि पर्यायोंके रूपमें आकारित होना यह तो व्यञ्जनपर्याय है और राग, द्वेष, ज्ञान, शान्ति आदि प्रकट होना अर्थपर्याय है।

इस प्रसङ्गमें व्यञ्जन पर्यायके द्वारसे जीव व पुद्गल द्रव्योंके भेद प्रभेद किये जाते हैं। जीव दो प्रकारके होते हैं—(१) संसारी जीव, (२) मुक्त जीव। संसारी जीव उन्हें कहते हैं जो ससारमें भ्रमण कर नर, नारक, तिर्यञ्च, देव, पर्याय धारण करते हैं। मुक्त जीव उन्हें कहते हैं जो संसारसे छूट गये हैं, ये सदाकाल अनन्त आनंदमय रहेंगे। संसारी जीव दो प्रकारके हैं—(१) त्रस जीव, (२) स्थावर जीव। त्रस जीव दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय,

पञ्चेन्द्रियके भेदसे चार प्रकारके हैं। स्थावर जीव केवल एकेन्द्रिय ही होते हैं और वे ५ प्रकारके हैं— (१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) अग्निकाय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय। पृथ्वी ही जिनका शरीर है वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं। जैसे–मिट्टी, पत्थर लोहा, सोना आदि। ये खानसे निकले हुए अजीव होते हैं। जल ही जिनका शरीर है वे जलकाय कहलाते हैं। जैसे जल–ओस बर्फ आदि। अग्नि ही जिनका शरीर है वे अग्निकाय कहलाते हैं। जैसे आग, बिजली आदि। हवा ही जिनका शरीर है वे वायु काय कहलाते हैं। जैसे हवा, आंधी आदि। वनस्पति ही जिनका शरीर है वे वनस्पतिकाय कहलाते हैं। वनस्पति केवल हरीको ही नहीं कहते हैं, किन्तु हरी तो वनस्पति है ही और निगोद जीवों का शरीर भी वनस्पति कहलाता है। इसी कारण वनस्पतिकाय दो प्रकारकी होती है— (१) प्रत्येक वनस्पति, (२) साधारण वनस्पति। साधारण वनस्पति का ही दूसरा नाम निगोद है। अनन्त निगोद जीवोंका एक शरीर होता है, जिससे वे एक साथ जन्मते हैं और एक साथ मरते हैं। ये जीव एक सेकिण्डमें २३ बार जन्म मरण करते रहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिके जीवोंका एक एक (प्रत्येक) शरीर होता है। प्रत्येक वनस्पति हरी वनस्पतियोंको भी कहते हैं। प्रत्येक वनस्पति दो प्रकारकी है— (१) साधारण सहित (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) वनस्पति, (२) साधारणरहित (अप्रतिष्ठित प्रत्येक) वनस्पति। सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति तो लौकी, सेम, अमरूद, आम आदि हैं और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति मूली, गाजर, आलू आदि हैं। साधारण वनस्पतिके दो भेद हैं— (१) बादरनिगोद, (२) सूक्ष्मनिगोद। बादर निगोदके जीव तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सकल परमात्माका शरीर, आहारकशरीर, देवशरीर, नारकशरीर इन आठ प्रकारके शरीरोंको छोड़कर बाकी सब संसारी जीव शरीरोंके आश्रय रहते हैं, किन्तु सूक्ष्मनिगोद जीव अन्य शरीरके आधार बिना लोकमें सर्वत्र हैं।

इसी प्रसङ्गमें कहे हुए इन्द्रियोंका संक्षिप्त विवरण करते हैं—(१) स्पर्शन इन्द्रिय, (२) रसना इन्द्रिय, (३) घ्राणइन्द्रिय, (४) चक्षुइन्द्रिय, (५) श्रोत्रेन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय उसे कहते हैं जो रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म आदि स्पर्शके ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत अङ्ग हो। जैसे— हाथ, पैर, पीठ, पेट आदि त्वचा अथवा

त्वचामात्र रसना इन्द्रिय उसे कहते हैं जो खट्टा, मीठा आदि रसोंके ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत हों याने जीभ। घ्राण इन्द्रिय उसे कहते हैं जो सुगन्ध, दुर्गन्धके ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत हो याने नाक। चक्षुरिन्द्रिय उसे कहते हैं जो काला, पीला, नीला आदि रूपों के ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत हो याने नेत्र। श्रोत्रेन्द्रिय उसे कहते हैं जो आवाजके ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत हो याने कान।

जिनके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय हो उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति ये एकेन्द्रिय हैं, इनके मात्र सादा शरीर है, जिनमें अङ्ग उपाङ्ग भी कुछ नहीं होते। जिनके स्पर्शन व रसना ये दो इन्द्रियाँ हों वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे लट, केंचुवा जोंक; शंख इत्यादि। जिनके स्पर्शन रसना व घ्राण ये तीन इन्द्रियां हों उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे–खटमल, चिऊंटी इत्यादि। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु ये चार इन्द्रिय पाई जावें उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं। जिनके पांचों ही इन्द्रियां होवें उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। जैसे मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि। पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकारके होते हैं––(१) मनसहित (संज्ञी), (२) मन रहित (असंज्ञी) असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव बहुत ही कम संख्यामें होते हैं—जैसे कोई कोई तोता व जलमें रहनेवाले सर्प आदि। बाकी सारे पञ्चेन्द्रिय संज्ञी ही होते हैं।

पुद्गल द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस, गंध व स्पर्श ये चार गुण पाये जावें। जो कुछ दिखनेमें आते हैं वे सब अनेक पुद्गलोंकी मिलकर पर्यायें हैं, इन्हें स्कन्ध कहते हैं। अनेकों स्कन्ध ऐसे होते हैं जो आंखोंसे नहीं दिख सकते। ये स्कन्ध जितने छोटे होते हैं उनमें गति आदिकी शक्ति अधिक भी हो सकती है। आजकलके विज्ञानमें जो atom एटम प्रचलित हुआ है, वह भी एक प्रकार का सूक्ष्म स्कन्ध है। शुद्ध पुद्गल पावे जो स्कन्धरूपमें नहीं है, केवल एक ही पुद्गल है, जिसे कि परमाणु कहते हैं। उसकी गतिशक्ति अत्यन्त अधिक होती है, जिसका अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। जीवोंके द्वारा अधिष्ठित शरीर भी पुद्गल है, किन्तु इन्हें देखकर जो जीवका व्यवहार होता है, वह जीव के सम्बन्धसे होता है।

पुद्गलमें जो चार गुण हैं वे पुद्गलमें अनादि अनन्त रहते हैं और जैसे कि जीवमें ज्ञानादिगुणोंका तादात्म्य है वैसे ही रूपादिगुणोंका तादात्म्य पुद्गलमें है। ये गुण परिणमते रहते हैं। ये परिणमन इतने प्रकारसे होते हैं—

रूपके परिणमन ५ प्रकारके हैं— (१) कृष्ण, (२) नील, (३) पीत, (४) रक्त और (५) श्वेत। स्कन्धोंमें और और प्रकारके भी रंग दीखते हैं, वे भिन्न-भिन्न वर्णोंमें परिणत पुद्गलोंके संयोगसे ऐसे दीखते हैं। इस बातको इन शब्दोंसे कह सकते हैं कि कई रंगोंके मेलसे भी कितने ही रंग होजाते हैं। जैसे कि नीला व पीला मिलनेसे हरा होजाता है आदि।

रसके परिणमन ५ प्रकारके हैं—(१) अम्ल (खट्टा), (२) मधुर (मीठा) (३) कटु (कडुवा), (४) तिक्त (तीखा), (५) कषायला। अति सूक्ष्म स्कन्ध व परमाणुओंके रस आदि किन्हीं भी परिणमनोंका इन्द्रियोंसे बोध नहीं होता है, किन्तु स्थूल स्कन्धोंके इन परिणमनोंका बोध हो सकता है। किसी किसी स्कन्ध का स्पर्श ज्ञानमें आजाता रसादि नहीं, किसीका गन्ध, किसीका कुछ, बांकी ज्ञानमें आता नहीं, सो वहां यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें अमुक ही गुण है बांकी नहीं, क्योंकि पुद्गलमें चारों ही गुण एक साथ रहते हैं, चाहे कुछ ज्ञानमें आवे व कुछ ज्ञानमें न आवे।

गंध गुणके परिणमन दो प्रकारके होते हैं—(१) सुगन्ध, (२) दुर्गन्ध। जितने भी गंधके प्रकार हैं वे सब इसी २ प्रकारके विस्तार है।

स्पर्श गुणके परिणमन ४ तो द्रव्यगत हैं और ४ आपेक्षिक हैं। इस प्रकार ८ परिणमन होते हैं— (१) स्निग्ध (चिकना), (२) रूक्ष (रूखा), (३) शीत (ठंडा), (४) उष्ण (गर्म), (५) कठोर (कड़ा), (६) कोमल (नरम), (७) लघु (हल्का), (८) गुरु (भारी)। इसमें से पहिलेके ४ परिणमन तो द्रव्यगत हैं, इस लिये परमाणुमें भी पाये जाते हैं और स्कन्धोंमें भी पाये जाते हैं, परन्तु अनन्तरके ४ परिणमन हैं, वे आपेक्षिक हैं। इसलिये स्कन्धोंमें तो पाये जाते हैं परमाणुओंमें नहीं।

यह समस्त विश्व पूर्वोक्त अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य, इस प्रकार

अनन्तानन्त पदार्थोंका समूह है। इस सबको अस्तित्व (सत् स्वरूप) की अपेक्षा एक कहा जाता है। व्यक्तिगत परिणमनसे ज्ञानमें जुदे जुदे भी आते हैं और अनेक युक्तियोंसे भी प्रसिद्ध हैं। अतः स्वरूप सत्वकी अपेक्षा पदार्थ अनेक हैं।

दृश्यमान जितने भी स्कन्ध हैं वे सब ब्रह्म (जीव) के विकार—इस कारण प्रसिद्ध हैं कि ये सब किसी न किसी प्रकारके जीवके शरीर हैं, जैसे चौकीका काठ पहिले पेड़ ही तो था, वह वनस्पतिकाय जीवका शरीर है। सोना, चांदी पृथ्वीकाय जीवका शरीर है इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जो कुछ दिखता है उसकी शकलका प्रारंभ जीवके अङ्गीकारितासे हुआ था व हुआ है।

यह विश्व बहुत विस्तृत है यह तीन भागोंमें विभक्त है—(१) ऊर्द्ध लोक, (२) मध्यलोक, (३) अधोलोक। इनका वर्णन अन्य प्रसङ्गोंपर किया जावेगा। यहाँ तो संक्षेपमें इतना ही निर्देशकर इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

—:※:—

३—जगत्‌के जीवोंकी स्थिति

जगत्‌के जीव इन्द्रियोंकी अपेक्षा ५ भागोंमें विभक्त किये जाते हैं—(१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पञ्चेन्द्रिय। इनमें से एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं— (१) सूक्ष्म, (२) बादर। सूक्ष्म एकेन्द्रियका शरीर किसी भी प्रकार किसी भी पदार्थसे आघातको प्राप्त नहीं होता तथा इनका आधारभूत कोई बादर शरीर भी नहीं होता है। ये जीव समस्त विश्वमें सर्वत्र अनन्तों वर्तमान रहते हैं। बादर एकेन्द्रियका शरीर अन्य पदार्थसे व्याघातको प्राप्त हो सकता है। एकेन्द्रिय जीव जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति—ये ५ प्रकारके कहे गये हैं, इनमें ही कुछ सूक्ष्म शरीर वाले हैं व कुछ बादर शरीर वाले हैं। ये पांचों जो व्यवहार व उपयोगमें आते हैं व दिखते हैं, मालूम पड़ते हैं, वे सब बादर शरीर वाले हैं। पञ्चेन्द्रिय जीव भी दो प्रकारके होते हैं—(१) असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, (२) संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। असंज्ञी मनरहितको कहते हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी ऐसे हैं तो भी इनमें संज्ञी एक भी नहीं होते हैं। इसलिये संज्ञी असंज्ञी भेद

पञ्चेन्द्रियमें ही होते हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय केवल तिर्यञ्चोंमें (पशु पक्षियोंमें) ही होते हैं। ये जीव बहुत ही कम सख्यामें पाये जाते हैं। कोई कोई तोता व जलमें रहने वाले सर्प प्रायः असंज्ञी हैं। मन उसे कहते हैं जिससे शिक्षा, उपदेश, हिताहितविवेक धारण किया जा सके। मन न होनेसे असंज्ञी पञ्चेन्द्रियों में ऐसी योग्यता नहीं होती। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनसहित जीवोंको कहते हैं। नरकगतिके समस्त जीव, देवगतिके समस्त जीव व मनुष्यगतिके समस्त जीव संज्ञी ही होते हैं। तिर्यञ्चगतिके पञ्चेन्द्रिय जीव ही संज्ञी। जैसे घोड़ा, हाथी, बकरा, चिड़िया, मुर्गा, सांप इत्यादि। तिर्यञ्चगतिके पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें असंज्ञी जीव बहुत ही कम होते हैं।

इस प्रकार ये जीव ७ प्रकारके हुए— [१] सूक्ष्म एकेन्द्रिय, [२] बादर-एकेन्द्रिय, [३] द्वीन्द्रिय, [४] त्रीन्द्रिय, [५] चतुरिन्द्रिय, [६] असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय [७] संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। ये सब भव हैं। इनमें जन्म मरण होता रहता है। जिसकी जैसी योग्यता होती है मरकर योग्यतानुसार भवोंमें जन्म ले लेता है। मनुष्य मर कर मनुष्य ही हो या पशु मर कर पशु ही हो इत्यादि ऐसा कोई नियम नहीं है। कोई भी जीव मर कर योग्यतानुसार किसी भी भवमें जन्म ले लेता है। मनुष्य मर कर पशु हो सकता है, पशु मर कर मनुष्य हो जाता है इत्यादि। हां किन्हीं खास कारणोंके वजहसे कुछ ही नियम ऐसे हैं जैसे कि देव मरकर देव नहीं होगा, देव मरकर नारकी नहीं होगा, नारकी मर कर देव नहीं होगा, नारकी मरकर नारकी नहीं होगा, देव मरकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय नहीं होगा, अग्नि व वायु मरकर मनुष्य नहीं होगा इत्यादि। हां तो उक्त ७ प्रकारके जीवोंमे जब कोई जन्म लेता है तो पूर्वभवके अन्त समयसे ही वह जीव अपर्याप्त कहलाने लगता है। अर्थात् जब तक नवीन शरीरकी शरीररूप परिणमने, बढ़नेकी योग्यता नहीं हो जाती है तब तक वह जीव अपर्याप्त कहलाता है। इन अपर्याप्त जीवोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो पर्याप्त न हो पावेंगे, अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण कर जावेंगे तथा कुछ जीव ऐसे हैं जो पर्याप्त नियमसे होंगे व पर्याप्त होनेसे पहिले मरण ही नहीं कर सकते। इन दोनोंको अपर्याप्त कहते हैं। जब शरीर परिणमने की योग्यता हो जाती है तब

वे पर्याप्त कहलाते हैं । एक दृष्टिसे वे जीव भी पर्याप्त कहलाते हैं जो अभी तो अपर्याप्त दशामें है, किन्तु पर्याप्त जरूर होंगे । एक भवमें अपर्याप्त रहनेका समय एक मिनटसे भी बहुत कम होता है ।

चूंकि उक्त सातों प्रकारके जीव पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों तरहके होते हैं । अतः ये सब संसारी जीव १४ प्रकारोंमें जानना चाहिये— [१] सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, [२] सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, [३] बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, [४] बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, [५] द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, [६] द्वीन्द्रिय पर्याप्त, [७] त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, [८] त्रीन्द्रिय पर्याप्त, [९] चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, [१०] चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, [११] असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, [१२] असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त, [१३] संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, [१४] संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त—जिन जीवोंका शरीर सूक्ष्म है, एक स्पर्शन ही इन्द्रिय है तथा जो अपर्याप्त हैं, वे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं । ये समस्त लोकमें सर्वत्र व्याप रहे हैं । जहाँ कुछ भी नहीं दिखाई देता, ऐसे आकाश में भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त ठसाठस भरे हुए हैं । ये जीव ५ प्रकारके हैं — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, व वनस्पति । चूंकि इन जीवोंका बादर शरीर नहीं है, सो इनका शरीर दिख नहीं सकता । इनका उदय इसी प्रकार का है सो इन की जाति ५ प्रकारकी है । अपर्याप्तोंमें भी प्रकार दो होते हैं— (१) निर्वृत्य-पर्याप्त, (२) लब्ध्यपर्याप्त । जो पर्याप्त अवश्य होंगे, पर्याप्त होनेसे पहिले मरण नहीं कर सकते, वे निर्वत्यपर्याप्त कहलाते हैं और जो पर्याप्त होंगे ही नहीं व अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण करते हैं वे लब्ध्यपर्याप्त कहलाते हैं । सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त जीव एक सेकिण्डमें २३ बार जन्म मरण करते हैं । सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्त पर्याप्त हो जाते हैं, फिर भी वे अन्तर्मुहूर्तके अन्दर मरण कर लेते हैं । अन्तर्मुहूर्त समय एक आवली से ऊपर व ४८ मिनटके भीतर अनेक भेद वाला होता है सो इसमें यथायोग्य छोटा अन्तर्मुहूर्त ग्रहण करना है । ये जीव अति बेहोश हैं । सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त जीवोंकी अवस्था जीवों से निकृष्ट दशा है । दुःखमय ही इनका जीवन है ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त—जिन जीवोंका शरीर सूक्ष्म है, एक ही स्पर्शन इन्द्रिय है तथा पर्याप्त हैं उन्हें सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त कहते हैं। ये जीव भी अति दुःखी हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तोंसे यही विशेषता है कि ये पर्याप्त होते हैं। बाकी सब अपर्याप्तोंकी तरह इनका जीवन है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तोंकी अपेक्षा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त कुछ ऊंची अवस्था है।

बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त—जिन एकेन्द्रिय जीवोंका शरीर बादर है और अपर्याप्त है उन्हें बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कहते हैं। इनका शेष वृत्तान्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तोंकी तरह जानना।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त— जिन एकेन्द्रिय जीवोंका शरीर बादर है व पर्याप्त है, वे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। लोकमें लोकके उपयोगमें बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके शरीर आते हैं। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति (पेड़, फल, फूल आदि) सब बादर एकेन्द्रियके काय हैं। खानमें पड़े हुए लोह पाषाण, सुवर्णपाषाण, पाषाण, मृत्तिका आदि सब एकेन्द्रिय जीव हैं, पृथ्वीकायिक हैं। खानसे निकाल दिये जानेपर ये अजीव हो जाते हैं, उनके कायमात्र रहते हैं। खोदने कूटने आदि कृतपीड़ाओं व अज्ञान संज्ञाजन्य पीड़ाओं से ये जीव बहुत पीड़ित रहते हैं। जलकायिक जीव भी तपाये जाने, ओटाये जाने, बिलोरे जाने आदि कष्टोंसे तीव्र दुःखी रहते हैं और अज्ञान संज्ञाजन्य संक्लेशोंसे सन्तप्त रहते हैं। तपाये गये आदि जलोंमें जलके जीव नहीं रहते, वह जल अजीव है। अग्निकायिक जीव भी बुझाये जाने, ढांक देने आदि बाधाओं से व अज्ञान संज्ञाजन्य संक्लेशोंसे सन्तप्त रहते हैं। बिजली, आग, गाज आदि सब अग्निकायिक हैं। कोई कोई बिजली आग अजीव भी होते हैं, किन्तु उनका परिचय परोक्षज्ञानी (अल्पज्ञानी) को नहीं हो पाता। कभी तो ऐसा होता है—किसी बिजली आदिमें पहिले तो अग्नि जीव नहीं होता, पश्चात् जीव हो जाता है। किसीमें ऐसा भी होता कि पहिले तो अग्नि जीव होता पश्चात् अजीव हो जाता आदि परिवर्तन होते रहते हैं, किसीमें शुरूसे अन्त तक अग्नि जीव होता, किसीमें शुरूसे अन्ततक अग्नि जीव नहीं होता आदि। वायुकायिक

जीवोंको भी रोके जाने, हिलाये जाने आदि बाधाओंसे व अज्ञान संज्ञाजन्य पीड़ावोंसे घोर संतप्त रहना पड़ता है। ये वायुकायिक जीव लोकमें सर्वत्र पाये जाते हैं। समस्त लोकके चारों ओर बहुत घनीभूत वायु है, जिसके आधार पर आकाशके बीच यह लोक स्थिर स्थित है। बादर एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीव प्रायः हरितकाय हैं। वनस्पतिकायिक जीव २ प्रकारके होते हैं— [१] प्रत्येक वनस्पति (हरित), [२] साधारण वनस्पति (निगोद)। प्रत्येक वनस्पति में तो एक शरीरका स्वामी एक ही जीव होता, किन्तु साधारण वनस्पतिमें एक शरीरके स्वामी अनन्त जीव होते हैं। प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं—[१] सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति याने साधारण वनस्पति सहित प्रत्येक वनस्पति, [२] अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति याने साधारण वनस्पतिरहित प्रत्येक वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति तो बादर एकेन्द्रिय ही होती है, किन्तु साधारण वनस्पतिमें कोई तो बादर एकेन्द्रिय होती है और कोई सूक्ष्म एकेन्द्रिय होती है। साधारण वनस्पति ३ प्रकारके हैं (१) एक तो ऐसे जीव हैं जिन्होंने आज तक साधारण वनस्पति (निगोद) के सिवाय अन्यभव कोई पाया नहीं और न कभी अन्य भव पावेंगे, निगोद ही रहकर जन्म मरण करते रहें। (२) दूसरे ऐसे जीव हैं जिन्होंने आज तक तो साधारण वनस्पति (निगोद) के सिवाय अन्यभव पाया नहीं, किन्तु भविष्यमें इस निकृष्ट पर्यायसे निकलकर अन्य भव पा लेंगे। (३) तीसरे इस प्रकारके जीव हैं जिन्होंने पहिले कभी अन्य पर्यायें पा ली थीं याने जो पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, तिर्यञ्च, नारकी, मनुष्य, देव इनमें से कुछ या सब हो गये थे, पश्चात् अशुभ परिणाम वश फिर साधारण वनस्पति हो गये हैं। इन जीवोंने मनुष्यगति व देवगतिके उन भवोंको प्राप्त नहीं किया था, जिनके पानेके बाद उसी भवसे या कुछ ही भव बाद मोक्ष जाना निश्चित है। जैसे—चक्रवर्ती, दक्षिण स्वर्गोंके इन्द्र आदि। साधारण वनस्पतिकाय (निगोद) जीवोंका शरीर चाहे बादर भी हो, तब भी आँखोंसे नहीं दिख सकता।

ये सभी एकेन्द्रिय जीव निकृष्ट स्थितिमें हैं। मन, विवेक की कथा तो दूर रहो, स्पर्शन इन्द्रियके सिवाय अन्य कोई इन्द्रिय न होनेसे इन्द्रियज ज्ञानके विशेष

विकाससे भी वंचित हैं। इन एकेन्द्रिय जीवोंमें बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त तो निकृष्ट हैं ही, किन्तु इनसे अधिक निकृष्ट बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त हैं। इनसे अधिक निकृष्ट सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त हैं व इनसे भी निकृष्ट सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त हैं।

द्वीन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके स्पर्शन (त्वचा) व रसनायें दो इन्द्रिय होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे लट, जोंक, शंख, सीप, कौडी वगैरह इन पर्यायोंमें जब कोई जन्म लेता है तब जब तक ये शरीर पर्याप्त नहीं हो जाते तब तक ये अपर्याप्त कहलाते हैं अथवा कई द्वीन्द्रिय जीव ऐसे होते हैं कि जो पर्याप्त होंगे ही नहीं, अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण कर लेंगे वे भी अपर्याप्त कहलाते हैं। यह अवस्था भी बड़ी क्लेशपूर्ण है। मन न होनेसे हित की वहां कोई आशा नहीं। ये जीव अपनेको दिखनेमें नहीं आते। जो भी द्वीन्द्रिय जीव दीखा करते हैं वे पर्याप्त द्वीन्द्रिय हैं। द्वीन्द्रिय जीव व त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें सूक्ष्म शरीरवाले नहीं होते हैं। ये केवल बादर ही होते हैं। अतः इनमें सूक्ष्म, बादरका कोई भेद नहीं है।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त—जिन जीवोंके स्पर्शन (त्वचा) व रसना ये दो ही इन्द्रियां होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव हैं। इनमें आकर कोई जीव जन्म लेता है तो ग्रहण किया हुआ वह शरीर जब पर्याप्त हो जाता है तब वह द्वीन्द्रिय पर्याप्त कहलाता है। दिखने वाले, चलने फिरने वाले द्वीन्द्रिय जीव पर्याप्त द्वीन्द्रिय हैं। इनका जीवन भी क्लेशपूर्ण है, अशक्त, अविवेकी हैं।

त्रीन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती हैं वे त्रीन्द्रिय हैं। इनमें जो अपर्याप्त त्रीन्द्रिय हैं अथवा जब तक ये अपर्याप्त हैं, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। इनकी जिन्दगी भी दयनीय है।

त्रीन्द्रिय पर्याप्त— जो त्रीन्द्रिय हैं व पर्याप्त भी हैं, वे त्रीन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। चिऊंटी, चींटा, खटमल, जूं, तिरूला, इन्द्रगोप, बिच्छू, कानखजूरा, गुबरीला आदि जीव त्रीन्द्रिय हैं। दिखने में आने वाले ये सब पर्याप्त ही हैं। अपर्याप्तोंका शरीर दिखनेमें नहीं आया करता है। कदाचित् अपर्याप्त शरीर

पिण्ड दिखनेमें तो आ सकता, किन्तु वहां अपर्याप्तका निर्णय नहीं हो सकता और यह भी दिखनेका अवसर कदाचित् हो सकता है।

चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु ये चार इन्द्रियां पाई जाती हैं व अपर्याप्त हैं, वे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। ये जीव भी दुःखमय है।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्त— जो चतुरिन्द्रिय हैं व पर्याप्त भी हैं वे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। जैसे मक्खी, मच्छर, भ्रमर, ततइया, टिड्डी वगैरह। ये जीव भी दुःखपूर्ण अवस्थामें स्थित हैं।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके मन तो नहीं है, किन्तु स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां है व जिनका शरीर पर्याप्त नहीं हुआ है याने वृद्धिके योग्य नहीं हो पाया है, उन्हें असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त कहते हैं। ये जीव केवल तिर्यञ्च गतिमें होते हैं और बहुत ही कम संख्यामें होते हैं। ये भी मनरहित हैं और दुःखपूर्ण अवस्थामें स्थित हैं।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त— वे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव जिनका कि शरीर पर्याप्त हो चुका है वे असज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। ये जीव बहुत ही कम संख्यामें केवल तिर्यञ्चगतिमें मिलते हैं। जैसे कोई कोई तोता व प्रायः जलमें रहने वाले सर्प इत्यादि। ये सभी दुःखों करि पीड़ित हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां होती हैं व मन भी होता है, वे जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। इनका शरीर जब तक पर्याप्त नहीं होता अथवा जो जीव पर्याप्त हो ही नहीं सकते व अपर्याप्तिमें ही मरण कर जाते हैं वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। उक्त एकेन्द्रियादिक सभी अपर्याप्त दो दो प्रकारके होते हैं— जो पर्याप्त तो हो जायेंगे किन्तु अभी नहीं हैं वे तो कहलाते हैं निर्वृत्य पर्याप्त और जो पर्याप्त होंगे ही नहीं, वे कहलाते हैं लब्ध्यपर्याप्त। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त देव व नरकगतिमें नहीं होते, केवल मनुष्य व तिर्यञ्च गतिमें ही होते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्त चारों गतियोंमें होते हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त— जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त हो चुके हैं, वे संज्ञी

पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त कहलाते है। ऐसे जीव चारों गतियोंमें होते हैं। उनमें से मनुष्य तो साक्षात् कल्याणके पात्र हैं। उनके सम्यग्दर्शन अणुव्रत सर्व संयम व विशिष्ट तप भी हो सकते हैं, किन्तु तिर्यञ्चों (सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों) में सम्यग्दर्शन व अणुव्रत ही हो सकता है, देव व नारकियोमें सम्यग्दर्शन ही हो सकता है।

सम्यग्दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान हुए बिना सभी जीव बहुत दुःखी है। सम्यग्दर्शन आत्माके सहजस्वरूपकी प्रतीतिको कहते हैं। मनुष्यभवमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी पूर्णता होती है। जो कि साक्षात् मोक्षका कारण है। हम लोग इस समय जिस स्थितिमें है वह स्थिति जगत्के अन्य जीवोंकी अपेक्षा बहुत ही अच्छी स्थिति है। यदि इस स्थितिका लाभ न ले पाया याने तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञानकी प्राप्ति न कर पाई तो यह बड़ी भूलकी बात है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके दुःख का तो कोई पार है ही नहीं, किन्तु संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंमें भी यदि दुःखपर दृष्टि ही जावे तो दुःख ही दुःख नजर आयेगा, केवल ज्ञानी ही सुखी मिलेंगे। सो वे भवके कारण नहीं किन्तु आत्मावलम्बनके कारण सुखी हैं।

नारकी जीव तो अहर्निश असंख्य काल तक मार पीट घात आदिसे संक्लिष्ट रहते हैं, नरकभूमिकी शीत, उष्ण, क्षुधा, प्यास आदि अनेक पीड़ाओंसे दुःखी रहते हैं, आरामका वहां कोई रंच भी साधन नहीं हैं। पशु, पक्षी आदिकी दुर्दशा तो यहाँ भी दिखनेमें आती है। कोई पशु पाले भी जाते हैं तो उनसे जब तक किसीका स्वार्थ सधता है पूंछ होती है, बादमें तो कोई पूंछ होती भी नहीं। भूखे, प्यासे, रोगी, पीड़ितोंकी क्या दुर्दशा है वह छिपी नहीं, उल्टी मार पीट ही उनके भाग्यमें है। देवोंको मानसिक क्लेश बड़ा बना रहता है, क्योंकि पुण्योदयके कारण भूख, प्यास, ठंड, रोग आदिकी तो उनके चिन्ता है ही नहीं तो उस बेकारीमें अट्ट सट्ट भाव प्रायः हो जाते सो वे देव विषयतृष्णासे बड़े अपनेसे बड़े देवोंके वैभवको देख कर मानसिक दुःखसे व्याकुल रहते हैं। मनुष्योंके दुःख तो प्रत्यक्ष ही हो रहे हैं। फिर भी आज जो परिस्थिति है, वह

भी कितनी दुलभ थी, इसे इन उत्तरोत्तर दुर्लभ बातोंके मननसे निश्चय कर लें-- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, मन, पर्याप्ति, मनुष्य, सुदेश, सुकुल, सुरूप, इन्द्रिय सामर्थ्य, नीरोगता, दीर्घायु, सुबुद्धि, धर्म श्रवण, धर्मविचारण, सत् श्रद्धान् सयम भावना विषयनिवृत्ति भावना, कषायनिवृत्ति भावना। अब दुर्लभ रत्नको पाकर वस्तुके यथार्थ ज्ञानकी ओर दृष्टि करें, इसी में हित है।

—: ० :—

४—चेतनकी महिमा

यों तो सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं। अतः सबकी अपने आपमें महिमा है तो भी ज्ञान व आनन्दके अनुभवन की शक्ति चेतनमें होनेसे सबमें सार अथवा प्रधान चेतन पदार्थ है। दृश्यमान सर्वस्कन्ध चेतनके द्वारा किसी रूपसे ग्रहण किये जानेके कारण इस आकारमें हुए हैं। वर्तमान व भूतकालकी दृष्टि लगाकर विचार करें तो दिखने वाले सर्व स्कन्धोंके बारेमें यह कह सकते हैं कि ये सब जीवके काय (शरीर) हैं। ईंट, पत्थर, सोना, चांदी आदि पृथ्वीकायिक जीवके काय हैं। जल, ओस, सींड़ आदि जलकायिक जीवके काय हैं। आग, बिजली आदि अग्निकायिक जीवके काय हैं। सब प्रकारकी हवायें वायुकायिक जीवके काय हैं। कपड़ा, काठ, तृण आदि सब वनस्पतिकायिक जीवके काय हैं। मनुष्य, पशु, कीड़े आदि त्रस जीवके काय हैं। कोई काय जीव सहित हैं और कोई काय ऐसे हैं जिनमें जीव था, किन्तु अब नहीं है। एक दृष्टिसे देखो तो जीवने इन सबको ग्रहण किया, तब इनका यह आकार प्रकार बना। तात्पर्य यह है कि दृश्यमान यह स्कन्ध जीवाधिष्ठित था, जीवाधिष्ठित है तब इनका संस्थान हुआ।

चेतनकी प्रधानताका दूसरा कारण यह है कि यही चेतन तो व्यावहारिक सभी व्यवस्थायें करता है। चेतन न हो तो इस प्रकारका पुद्गल परिणमन किस निमित्तको पाकर हो अथवा चेतन न हो तो इन सब पदार्थोंका ज्ञान न होता, इनका ज्ञान न होने पर इनका अस्तित्वका सद्भाव ही क्या जाना जाता, फिर तो चाहें होते कुछ भी, सब शून्य ही कहलाता। ज्ञाताके अभावमें ज्ञेयका भी अभाव हुआ तो इस तरह शून्य ही तो हो गया, किन्तु ऐसा है तो नहीं।

इस प्रकार किसी न किसी रूपमें विश्वव्यवस्था चेतन पदार्थके कारण है। समझने समझानेका परस्पर व्यवहार भी चेतन पदार्थसे चलता है—इत्यादि कारणोंसे चेतन पदार्थ मुख्य हुआ।

इस चेतन पदार्थमें प्रतिभासकी विशेषता है। इसका प्रतिभास अथवा चेतने का कार्य निरन्तर चलता है। यह किस पदार्थको ओर किस प्रकारसे चेते इस आधारपर सुख, दुःख आनन्दकी परिणतियां चलती है। यह जीव जब निज निरपेक्ष शक्तिकी प्रतीतिसे च्युत होकर बाह्य पदार्थकी ओर आकृष्ट होकर विकल्प करता हुआ चेतता है तब यह आकुलित होता है। जब यह जीव यथार्थ भेदविज्ञान बलसे बाह्यसे हट कर अन्तर्ज्ञानरूपसे परिणमता है तब अनाकुल रहता है और जब सर्व पक्षरहित हो जानेके कारण निज अथवा पर कोई पदार्थ ज्ञानमें आवे ज्ञातामात्र रहने के कारण वह अनाकुल रहता है।

चेतनकी शक्तिकी इतनी महिमा है कि समस्त विश्व ज्ञानमे आजावे, उसके अतिरिक्त इतनी शक्ति और बनी रहती है कि समस्त विश्व बराबर असंख्यात लोक भी यदि और हो तो उन्हें भी जानकर और भी जाननेकी शक्ति रहे। चेतनका कार्य है कि जो कुछ हो व जो कुछ था व जो कुछ होगा सबको एक साथ जान ले। संसार अवस्थामें यद्यपि कर्मरूप द्रव्यावरणके निमित्तसे रागादि रूप भाव आवरण पड़ा है। अतः ज्ञानका विकास अल्प होगया तो भी विकासका सर्वापहार नहीं हो सकता, इसका कारण चेतनका चैतन्य स्वभाव है।

चेतनाका सहज स्वरूप परमोत्कृष्ट है। यह ही किसीकी दृष्टिमें ब्रह्मस्वरूप है, निर्विकल्प होनेके कारण एक है, सर्व सृष्टियोका मूल आधार होनेसे स्रष्टा है, योगियोंका परमाराध्य है। इसकी दृष्टि न हो सकने वालोंकी स्वयं दुर्गति है, इसकी दृष्टि हो जाने वालोंकी स्वय सद्गति है। जगत्के सभी दर्शनों (मतों) के अविर्भावकी साधनाका स्रोत यही है। परमानन्दका निधान यही है। इसीके अवलम्बनसे अनन्तज्ञानका आविर्भाव है। सत्य व शिवमय यही तत्त्व है। तात्पर्य यह है कि खुदकी वास्तविकताके परिज्ञानमे ही सर्व हित है और इस कारण भी चेतनकी महिमा अनुपम

सभी दार्शनिकोंने, सभी विद्वानोने किसी न किसी रूपमें चेतनकी महिमा गाई है। किन्हींकी धारणा है कि सर्व प्रथम विश्वमे मात्र ईश्वर था, जल ही जल था। ईश्वरकी लीलामें भाव हुआ कि "एकोऽहं बहु स्याम्, मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊं, सो वह नाना रूपोंमें आने लगा। अन्तमें यह अपनी लीला संकोच कर एकस्वरूप हो जाता है।" इस वाक्यमें अलङ्कार द्वारा चेतनकी महिमा गाई गई है। यह चेतन अनादितः प्रथम से ही बाह्य पदार्थको जाननेके विकल्पसे रहित होनेके कारण अति आवृत अवस्थामें एक था। था यह तब भी ऐश्वर्यशक्तियुक्त होनेसे ईश्वर, तब उसके निकट भवसागर ही था याने वह भवजलके क्लेशतरङ्गों के बीच था। इसका कुछ विकास होनेको हुआ तब विशुद्ध परिणतिकी लीला हुई और निगोद भवसे निकल कर पशु पक्षी मनुष्य कीट आदि नाना रूप होने लगा। अनेकों लीला करके यह चेतन जब स्वपर पदार्थका यथार्थ श्रद्धान कर लेता है और आत्मस्वभावमें स्थिरता करके सर्व संगसे सर्वथा विमुक्त हो जाता है याने विभावलीला संकोच लेता है तब एक स्वरूप हो जाता है। इसमें आत्मा से परमात्मा होनेकी पद्धतिको अलंकृत भाषामें कह कर चेतनकी ही तो महिमा गाई गई है।

किन्हीं पुरुषोंकी धारणा है कि समय समय पर जगत्‌का उद्धार करनेके लिये, धर्म मार्गका प्रचलन करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता आया है। इसमें भी इस चेतनकी ही तो महिमा गाई है। कोई चेतन जब विशुद्ध भाववाला होता है तो उसकी स्वर्गमें गति होती है। वहांसे मध्यलोकमें आकर विशिष्ट पुरुष होता है। उसकी प्रवृत्ति इतनी विशुद्ध होती है कि उसका निमित्त पाकर अनेक जीव धर्ममार्गमें लग जाते हैं। वह ऐसा शक्तिशाली व पुण्यशाली होता है कि उसके कारण अनेकों जीवोंके अनेकों संकट दूर हो जाते हैं। ऐसे जीव प्रायः देवगति (स्वर्ग) से आये हुए होते हैं। स्वर्ग ऊर्ध्वलोकमें है। ऊर्ध्वलोकसे मध्यलोकमें उतरने याने जन्म लेनेको अवतार कहते हैं। वह चेतन भी ईश्वरत्व शक्तिमय है। अतः इस बात के कहनेमें भी कि "अवसर अवसर पर जगत्‌का उद्धार करनेके लिये, धर्ममार्गका प्रचलन करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता आया है" चेतनकी ही महिमा प्रकट हुई।

ज्ञानमें इतने पदार्थ ज्ञेय होते हैं। इन ज्ञेयोंके प्रतिभाससे चेतनकी ही महिमा प्रकट होती है। चेतनकी महिमासे लोकोंको इस जगत्का परिचय है। मान लो लोकमें सब कुछ होता, परन्तु एक चेतन पदार्थ ही न होता तो क्या स्थिति होती, सब शून्यसा ही होता।

मैं चेतन हूं, अन्य भी अनन्त चेतन हैं। जो महिमा मेरी है वही महिमा सबकी है। किसीसे कोई कम नहीं है। सब चेतनोंका एक स्वरूप है। अहो यह समस्त महिमा प्रतिभास होते ही कषायोंका भार एकदम उतर जाता है, अज्ञानकृत घबड़ाहटका तो वहां पैर भी नहीं आसकता है। हे परमब्रह्म परमेश्वर परम पिता चैतन्य महाप्रभो ! तू ही उपयोगमें बस। इसीसे ही सर्व सिद्धि है।

हे चेतन ! तेरा सर्वत्र चमत्कार और माहात्म्य है। जो कुछ जड़ भी दीख रहा है वह भी चेतन की ही महिमा प्रकट कर रहा है। ये भी बता रहे हैं कि यदि मुझे चेतन पदार्थने अङ्गीकार न किया होता तो हम इस शकलमें कभी भी न हो सकते थे। हममें अब भी जो विचित्र परिवर्तन होगा वह चेतनके सङ्गका प्रसाद होगा।

अहो यह परम अद्भुत अखण्ड चैतन्य ब्रह्म ही सर्व धर्मान्वयियोंका परमेश्वर के रूपमें लक्ष्य रहा है, भले ही कारणवश निश्चय व्यवहारके समन्वयकी असावधानीमें मान्यतामें रूपान्तर आगया हो, किन्तु सबका मूल वही एक अद्वैत है। ॐ तत् सत् परमात्मने नमः।

—:*:—

५—क्लेश मुक्तिका उपाय

क्लेश आत्माका एक दूषित परिणाम है। दूषितपना किसी भी पदार्थमें किसी अन्य पदार्थके सम्बन्ध होनेपर होता है। आत्माके साथ भी किसी अन्य पदार्थका संसर्ग है तब तो क्लेश हो रहा है। वह अन्य पदार्थ किसी भी नामसे पुकारो जब तक उसका संसर्ग दूर नहीं होता तब तक क्लेशका अत्यन्त अभाव नहीं होता। वह पदार्थ कर्म नामसे अति प्रसिद्ध है। सीधे शब्दोंमें यह कह

दिया जाता है कि जब तक कर्मका अभाव नहीं होता तब तक क्लेशका सर्वथा अभाव नहीं होता।

कर्म आत्मासे अन्य याने भिन्न पदार्थ है। पदार्थकी भिन्नता या अन्यता तभी कायम रहती है जब कि यह नियम रहता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का परिणमन नहीं करता। यह बात आत्मा व कर्ममें भी है। आत्मा कर्मका विधान, अभाव नहीं कर सकता; कर्म आत्माका विधान, अभाव नहीं कर सकता, किन्तु इनमें निमित्त नैमित्तिकता अवश्य है कि आत्माके रागादिभाव को निमित्त पाकर कर्मका बन्ध होता और उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर आत्मारागादिविभावमलिन हो जाता।

अब यहाँ यह विचार करना है कि कर्मका अभाव कैसे हो? समाधान— आत्माके ऐसे परिणाम बने कि जिनका निमित्त पाकर कर्म स्वयं अकर्मरूप परिणम जावें। वे आत्माके परिणाम कौन हैं? इसका समाधान इस दृष्टिसे हो जायगा कि यह जानते जावें कि कर्मका बन्ध कैसे परिणामोंको निमित्त पाकर होता है। जैसे परिणामोंका निमित्त पाकर कर्म बन्ध होता है उनसे उल्टे अर्थात् उल्टेसे उल्टे (सीधे) परिणामोंसे कर्मका अभाव होता है।

कर्मबन्धका कारण विरुद्ध भाव है याने स्वभावसे विपरीत भावोंके निमित्त से कर्मबन्ध होता है। राग, द्वेष, मोह भाव—ये विरुद्धभाव हैं। ये ही कर्मबन्धके कारण हैं। तात्पर्य यह है कि स्नेह करना, विरोध करना, मोह करना—ये भाव कर्मबन्धके कारण हैं। इनमें भी विशेषतया अथवा मूलभूत कारण मोह करना है। मोह अज्ञानको कहते हैं। यद्यपि मोहकी प्रसिद्धि रागमें है सो वह यों प्रसिद्ध होगया कि अज्ञानके होते हुए राग विशेष होता अथवा मालूम देता है, वहाँ त्वरित समझमें आने वाले रागकी दृष्टिमें अज्ञानकी कल्पना गौण करदी जाती है सो यद्यपि प्रसिद्धि मोहकी रागमें हो गई तथापि सूक्ष्म विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोह अज्ञानको याने अनेक पदार्थोंमें सम्बन्धकी बुद्धि करनेको कहते हैं। मोह, अज्ञान अविवेक, मिथ्या, भ्रम, विपर्यय ये सब प्रायः एकार्थवाचक हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि जो जैसे पदार्थ हैं उन्हें वैसा न समझकर उल्टे स्वरूप में उनका ग्रहण करना मोह है और यही क्लेशका कारण है और जो जैसे पदार्थ हैं उन्हें वैसा समझकर मात्र ज्ञाता रहना विवेक है और यही क्लेशसे मुक्त होने का उपाय है। दुःखो से छूटना एक सत्य ज्ञानपर ही निर्भर है। भगवद्भक्ति भी कितनी ही की जावे, यदि अर्थों (पदार्थों) का सत्यज्ञान नहीं है तो प्रथम तो यह बात है कि उसने भगवान् ही नहीं समझ पाया, भक्ति ही कहां हुई ? दूसरे यह बात है कि यथार्थ ज्ञानके अभावमें अन्तरमें जब अंधेरा है तो भगवद्भक्ति क्लेशसे कैसे छुटा देगी? इसी प्रकार तपस्या कितनी ही की जावे, यदि पदार्थोंका सत्य ज्ञान ही नहीं है तो देह आदि पर होनेवाले परिणमन संताप, शीत आदि अन्तरके अंधेरेवाले उपयोगको शान्तिकी ओर कैसे ले जायगा ? हां, तत्त्वज्ञान के अभावमें भी भगवद्भक्ति, तपस्या, व्रतपालन, नियम आदि यदि विधिपूर्वक किये गये होते हैं तो वे विशुद्ध परिणामके निमित्त होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर लेनेके लायक भूमिका बनानेके कारण बन जाते हैं और जिसके तत्त्वज्ञान है, उसको संभव होनेवाले विषय कषायके अशुभ परिणामसे परे बनाये रहनेमें वे कारण बनते है, किन्तु मोहको दूर कर देनेमें कारण उसका प्रतिपक्षी विवेक-भाव है याने अज्ञानका दूर कर देनेमें कारण उसका प्रतिपक्षी ज्ञानभाव है।

पदार्थोंका स्वरूप क्या है ? यह जाननेके लिये हम यदि प्रथम ही प्रथम इस ओर चले जायंगे कि पदार्थ कबसे हैं, किसने बनाये तो समस्याका हल करना कुछ दूर होता जायगा तथा यदि वर्तमान स्वरूप, प्रभाव, परिणमन आदि देख कर निर्णय करने बैठेंगे तो स्वरूपका भी निर्णय हो जायगा और पदार्थ कबसे हैं, कैसे बने, किसने बनाये ? इस विषयका भी निर्णय हो जायगा।

विश्वके समस्त पदार्थ मात्र अपनी अपनी सत्तारूप हैं। उनमेंसे कोई किसी अन्य पदार्थके संयोगको निमित्त पाकर अपनी योग्यताके अनुकूल परिणम जाते है। कोई याने जो शुद्ध हैं (निर्मल हैं), वे मात्र कालका निमित्त पाकर शुद्ध एकरूप परिणमते रहते हैं। अशुद्ध पदार्थोंमें निमित्त नैमित्तिकता का मेल होनेसे लोकमें परस्पर स्वस्वामीपने व कर्ताकर्म भावपनेका भ्रम हो गया है। जो प्राण ऐसा मानते हैं कि "अमुक पदार्थ मेरा है, मैं अमुकका हूं या अमुक पदार्थको

मैंने किया, मुझको अमुकने किया" वे आकुलता ही पाते हैं। इसका कारण यह है कि पदार्थ तो अपने अपने परिणमनमें ही परिणमते हैं, परका अपनेको कर्ता माननेवाले प्राणीके भाव तो और भांति हैं और परिणम गया परपदार्थ और भांति तो इसमें आकुलता तो आती ही है तथा परपदार्थको अपनेको स्वामी माना तो परका संयोग वियोग जब जैसा होना है होता है। उसमें जब वियोग हुआ तो अपनेको उसका अधिकारी माननेके कारण वह घोर दुःखी होता है। इस तरह पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता माने बिना संयोगबुद्धि दूर नहीं होती। संयोग बुद्धि दूर हुए बिना मोह दूर नहीं होता। मोह दूर हुए बिना क्लेश दूर नहीं हो सकता। अतः क्लेशसे मुक्ति चाहने वाले महानुभावोंको पदार्थोंके सम्यक् स्वरूप का अवबोध करना चाहिये।

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। इन पदार्थोंके परस्पर निमित्तभावको पाकर चाहे कुछ भी परिणतियां हों, सर्वत्र प्रत्येक द्रव्यकी अपने आपमें परिणति मिलेगी, व परसे भिन्न परिणति रहेगी। हाइड्रोजन नाइट्रोजन हवाके मेलमें जल बन जाता है तो भी वहां प्रत्येक परमाणु अपनी अपनी सत्ता लिये हुए ही अपने आपमें परिणम रहा है। जीव व पुद्गलों के एक समुदायको नारक, पशु, पक्षी, कीट, देव, मनुष्य आदि कहते हैं। उन सब भवों में जीव जीव ही है, पुद्गल पुद्गल ही है। प्रति एक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्योंसे बिल्कुल भिन्न है। अतः किसी द्रव्यका किसी अन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे स्वतन्त्र स्वरूप रूपमें पदार्थोंकी प्रतीति रहे, निज आत्माकी प्रतीति रहे तो आकुलताका कोई कारण नहीं रहता। क्लेश मुक्तिका उपाय सम्यग्ज्ञान है, ज्ञानभावना है, ज्ञानोपासना है। ज्ञानकी अर्चा, आराधना सर्व ऋषियोंने मङ्गलमय माना है।

"नर्ते ज्ञानान्मुक्तिः" इस उक्तिमें ज्ञानको ही मुक्तिका कारण प्रसिद्ध किया है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः", इस सूत्रमें ज्ञानको ही मुक्तिका कारण प्रसिद्ध किया है। आत्मीय निरपेक्ष ऋत ही ब्रह्म है अर्थात् प्रकृति व प्रकृतिज चिदाभास (अविद्या, राग, द्वेष आदि) से भिन्न सर्वात्माओंमें समान त्रिकालव्यापी चैतन्य तत्त्व ही ब्रह्मस्वरूप है। उसके ज्ञानसे ही आवरण व मल

नष्ट होते हैं। इस ही ध्येयकी एकाग्रताको अथवा इस ध्येयके दृढ़तर हो जानेपर जिस किसी भी पदार्थके सत्य स्वरूपसे ध्यानकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं। समाधि ही प्रवर्द्धमान होकर निर्वाणका साक्षात् कारण है। इस तरह ज्ञान और समाधि क्लेशमुक्तिका उपाय है। समाधि ज्ञात तत्त्वके पूर्ण विश्वास हुए बिना नहीं बनती। अतः समाधिमें सम्यग् विश्वास अन्तर्निहित है। इस तरह सम्यग्विश्वास, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र ही मोक्षमार्ग अथवा क्लेश मुक्ति का उपाय है।

मोहमें जीवको क्लेशसे छूटनेका वह उपाय सूझता है, जो क्लेशको बढ़ाने व पैदा करनेका उपाय है। जैसे एक निर्बल बालक जिसको गाली देनेकी बान पड़ी है, वह किसी बलिष्ठ बालकके द्वारा तमाचा लगाये जानेपर उस पिटाईसे होने वाले दुःख को न सह सकनेके कारण उस दुःखको दूर करनेकी इच्छासे बलिष्ठको गाली देता है। तब बलिष्ठ बालक पुनः तमाचा मारता है वह फिर गाली देता है। इस तरह पिटाई चलती रहती है। जब निर्बल बालकको अक्ल आती है कि गाली देनेसे क्लेश ही बढ़ रहा है मिट नहीं रहा है और इस सुबुद्धिके कारण गाली देना बंद कर देता है तो पिटाईका क्लेश भी मिट जाता है। इसी प्रकार यह मोही आत्मा जिसे राग संस्कार व रागकी योग्यता पड़ी हुई है, वह कर्मोदयवश उपद्रवके बीचमें आनेपर या इष्ट संयोग होनेपर होने वाली आकुलताके क्लेशको दूर करनेके लिये द्वेष अथवा राग करता है। परिणाम यह होता है कि कर्मबन्ध, संस्कार व आकुलताका वातावरण चलता ही रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि क्लेश मुक्तिका उपाय है, यह रागादिभाव नहीं है। ये विभाव मिथ्या श्रद्धान पूर्वक हुए हैं। अतः इस विपरीत उपायमें मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र आ ही गये। तात्पर्य यह है, कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र क्लेशमुक्तिके उपाय नहीं हैं प्रत्युत क्लेश वृद्धिके उपाय हैं। क्लेशमुक्तिका उपाय तो ज्ञानभाव अथवा रत्नत्रय ही है।

मोही जीव विभाव पर्यायको अहं (मैं) मानते हैं। इसीको वास्तवमें अहङ्कार कहते हैं। इस अहङ्कारको मिटा देना ही क्लेशमुक्तिका उपाय है। सभी धर्मावलम्बियोंने इस अहङ्कारको मेटनेमें धर्म व भक्ति कहा है। किसीने बताया

पिण्ड दिखनेमें तो आ सकता, किन्तु वहां अपर्याप्तका निर्णय नहीं हो सकता और यह भी दिखनेका अवसर कदाचित् हो सकता है।

चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु ये चार इन्द्रियां पाई जाती हैं व अपर्याप्त हैं, वे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। ये जीव भी दुःखमय है।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्त— जो चतुरिन्द्रिय हैं व पर्याप्त भी हैं वे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। जैसे मक्खी, मच्छर, भ्रमर, ततइया, टिड्डी वगैरह। ये जीव भी दुःखपूर्ण अवस्थामें स्थित हैं।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके मन तो नहीं है, किन्तु स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां है व जिनका शरीर पर्याप्त नहीं हुआ है याने वृद्धिके योग्य नहीं हो पाया है, उन्हें असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त कहते हैं। ये जीव केवल तिर्यञ्च गतिमें होते हैं और बहुत ही कम संख्यामें होते हैं। ये भी मनरहित हैं और दुःखपूर्ण अवस्थामें स्थित हैं।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त— वे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव जिनका कि शरीर पर्याप्त हो चुका है वे असज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त कहलाते हैं। ये जीव बहुत ही कम संख्यामें केवल तिर्यञ्चगतिमें मिलते हैं। जैसे कोई कोई तोता व प्रायः जलमें रहने वाले सर्प इत्यादि। ये सभी दुःखों करि पीड़ित हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त— जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां होती हैं व मन भी होता है, वे जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। इनका शरीर जब तक पर्याप्त नहीं होता अथवा जो जीव पर्याप्त हो ही नहीं सकते व अपर्याप्तमें ही मरण कर जाते हैं वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं। उक्त एकेन्द्रियादिक सभी अपर्याप्त दो दो प्रकारके होते हैं— जो पर्याप्त तो हो जायगे किन्तु अभी नहीं हैं वे तो कहलाते हैं निर्वृत्य पर्याप्त और जो पर्याप्त होंगे ही नहीं, वे कहलाते हैं लब्ध्यपर्याप्त। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त देव व नरकगतिमें नहीं होते, केवल मनुष्य व तिर्यञ्च गतिमें ही होते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्त चारों गतियोंमें होते हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त— जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त हो चुके हैं, वे संज्ञी

वे छद्मस्थ ही तो थे। छद्मस्थ अर्थात् अपूर्व ज्ञानकी अवस्था में रहनेवाले जीवों का बोध विश्वतोमुख नहीं होता अर्थात् छद्मस्थोंका ज्ञान वस्तुके अंश अंशको जानता हुआ रहता है। ऐसी अवस्थामें यदि किसी अंशके ही जानने माननेका ऐसा हठ हो जावे कि अन्य तत्त्वका विरोध करे या अन्य तत्त्वको मिथ्या कहे तो वह हठवाद कहलाता है और यदि अन्य तत्त्वोंका, धर्मोंका, गुणोंका, अशों का विरोध न करके वर्तमानमें अथवा प्रयोजनवश किसी अंशको जाने, देखे, कहे तो वह दृष्टिवाद कहलाता है।

चूं कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और बुद्धिपूर्वक जानना या कहना एक समयमें कुछ धर्मोंका ही हो सकता है। अतः दृष्टिवादका आना प्राकृतिक बात है। इस दृष्टिवादका उपयोग होना प्रत्येक मनुष्योंके अनिवार्य है। सभी अपना व्यवहार एवं प्रवर्तन दृष्टिवाद द्वारा करते हैं। एक ही पुरुषको कोई पिताके रूपमें देखता, कोई पुत्रके रूपमें अथवा भिन्न प्रकरणोंमें, अवसरोंमें, समयोंमें भिन्न भिन्नरूपसे देखता है यह दृष्टिवादका ही तो उपयोग है। दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि पर्यायवाची शब्द हैं। दृष्टिवाद द्वारा यथासंभव सभी दृष्टियोंका संग्रह करके क्रमशः पूर्ण जाने और फिर सभी दृष्टियोंका त्याग करके एक साथ ज्ञानभावके द्वारा पूर्ण जाने यही वस्तुज्ञानके करनेकी सुगम पद्धति है।

दृष्टिवादमें संशय या अनिर्णयको स्थान नहीं है, क्योंकि अपेक्षा रखकर जो धर्म जाना उसका पूर्ण निश्चय रहता है। जैसे रामका पुत्र श्याम, श्यामका पुत्र धाम, इनमें बोला जाय कि धामका श्याम पिता ही है तो इसमें निश्चय ही रहा संशय नहीं व कहा जाय कि रामका श्याम पुत्र ही है तो निश्चय ही रहा। यदि कहा जाय कि रामका श्याम पुत्र भी है तो यह प्रयोग गलत है क्योंकि रामका तो पुत्र ही है और कुछ नहीं इत्यादि। इसी प्रकार कहा जायगा कि द्रव्य दृष्टिसे आत्मा नित्य ही है। यहाँ कुछ भी संशय नहीं है। पर्याय दृष्टिसे आत्मा अनित्य ही है यह निश्चय ही है। यदि कहा जाय कि द्रव्य दृष्टिसे आत्मा नित्य भी है तो यह गलत प्रयोग क्योंकि इसमे यह भी सिद्ध होगा कि द्रव्यदृष्टि बिल्कुल नहीं है।

दृष्टियां दो प्रकारसे प्रवृत्त होती हैं— (१) अभेदरूपसे जानते हुएमें, (२) से अनित्य भी है सो तो है नहीं। अतः दृष्टिवाद निश्चयवाद ही हैं, संशयवाद भेद रूप से जानते हुएमें। जैसे अभेदरूपसे अखण्ड वस्तुको जाना व भेदरूपसे वस्तुके गुणोंको, शक्तियोंको, परिणमनोंको जाना।

दृष्टियां इस प्रकार भी दो तरहसे प्रवृत्त होती हैं— (१) एक ही वस्तुके विषयमें जानना, (२) अनेक वस्तुओंको परस्पर किसी भी सम्बन्धरूपमें जानना।

इनमेंसे पहिली पद्धतिकी दृष्टिको तो निश्चयनय कहते हैं और दूसरी पद्धतिकी दृष्टिको व्यवहारनय कहते हैं। अतः इनको इस प्रकार लक्षणोंमें बांधा जाता है कि जो वस्तुको अभेदरूपसे जाने अथवा एक ही वस्तुके विषयमे जाने उसे तो निश्चयनय कहते हैं और जो वस्तुको भेदरूपसे जाने अथवा अनेक वस्तुओंको किसी भी सम्बन्धरूपमें जाने उसे व्यवहारनय कहते हैं। निश्चयनय व व्यवहारनयका यथा योग्य व्यापक क्षेत्र होनेसे जो तत्व व्यवहारनय का विषय है वही उससे भी बाह्यदृष्टि वाले अन्य तत्वके मुकाविलेमें निश्चयनयका विषय बन जाता है तथा जो तत्व निश्चयनय का विषय है वही उससे भी अधिक अन्तरङ्ग दृष्टिवाले अन्य तत्वके मुकाबिलेमें व्यवहारनयका विषय बन जाता है।

निश्चयनयके ३ भेद हैं— परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय। जो वस्तुको निर्विकल्प, अखण्ड, अभेदरूपसे जाने उसे परमशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। जैसे परम ब्रह्म चैतन्यमात्र है। जो शुद्ध पर्याय सहित वस्तु को जाने उसे अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं जैसे मुक्त जीव सर्वज्ञ है! जो अशुद्ध पर्याय सहित वस्तुको जाने उसे अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। जैसे संसारी जीव रागादि परिणत है।

व्यवहारनयके ४ भेद हैं (१) अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय, (२) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय, (३) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय, (४) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। वस्तुके शाश्वत गुणोंको बताना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जैसे जीवका ज्ञानगुण आदि। वस्तुके गुणोंका विकास बताना उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। जैसे जीवका मतिज्ञान, केलज्ञान अदि। ता

वस्तुको अबुद्धिगत औपाधिक पर्याय बताना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे जीवके अबुद्धिगत (सूक्ष्म, जो समझमें नहीं आते) क्रोधादि। वस्तुको बुद्धिगत औपाधिक पर्याय बताना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, जैसे जीवके बुद्धिगत (समझमें आने वाले, स्थूल) क्रोधादि बताना।

मकान मेरा है, पुत्र मेरा है इत्यादि बातें किस नयमें आती है? किसी भी नयमें नहीं, क्योंकि सम्बन्धरहित पदार्थोमें सम्बन्धकी जबर्दस्ती करना मिथ्या है। यदि इसे नय जैसा रूप दिया भी जाय तो यही कहा जा सकता है कि यह सब उपचारनय कल्पनामें कैसा ही उपचार कर लेने की बात है।

अब विज्ञानपद्धतिसे दृष्टियोंकी बात देखें—इन दृष्टियोंको व्यापक-व्याप्य क्रम से दिखाते है, प्रथम तो सबसे अधिक व्यापक दृष्टि वह है जहाँ प्रयोजनवश असत् में सत्को निरखा जाय, जैसे—मूर्ति बनानेके लिये पाषाण लाये हों तो उस पाषाणको ही कहना कि यह मूर्ति लाये है, रोटी बनानेके यत्नमें अभी कोयला ही चौकेमे धर रहे हों तो भी यह कहना कि रोटी बना रहे है आदि। यह दृष्टि निगम (संकल्प) पूर्वक होती है इसलिये इस दृष्टिको नैगमनय कहते हैं। नैगमनय ३ प्रकारका होता है—(१) भूतनैगमनय (२) भाविनैगम नय, (३) वर्तमान नैगमनय। भूतकी घटनाको वर्तमानमें नियुक्त करना भूतनैगमनय है। जैसे—आई हुई दिवालीके दिन कहना कि आज महावीर स्वामी निर्वाण पधारे है। भविष्यकी घटनाको वर्तमानमें नियुक्त करना भाविनैगम नय है, जैसे भावी तीर्थङ्करोंको आज भी तीर्थङ्करके रूपमें प्रणाम करना। निकट वर्तमान में होने वाली घटनाको अभी कह देना वर्तमाननैगमनय है, जैसे मूर्ति बनानेके लिये लाये हुए पाषाणको मूर्ति कहना, चौकेमें कोयला रखते हुए भी रोटी बनाना कहना आदि। यह दृष्टि यद्यपि व्यवहारमें भी बहुत उपयुक्त होती है, किन्तु इस दृष्टि का आधार द्रव्य है, क्योंकि आगे पीछेकी बातोंका समन्वय द्रव्यके आधार बिना नहीं होता। अतः यह दृष्टि द्रव्यार्थिक है।

एक दृष्टि ऐसी होती है जिसमें तज्जातीय अनेक पदार्थोंका संग्रह हो जाता है, जैसे सत् कहा तो इसमें समस्त सत् आगये, जीव कहा तो इसमें समस्त जीव आगये। इस दृष्टिका नाम संग्रहनय है। संग्रहनय दो प्रकारका होता है—

(१) परसंग्रहनय, (२) अपरसंग्रहनय। परसंग्रहनय तो सर्वोत्कृष्ट संग्रह वाला है, जैसे सत्, द्रव्य आदि शब्दोंसे सूचित होता है। परसंग्रहसे संगृहीत पदार्थोंके भेद करके किसी एक भेदके जातिवालोंका संग्रह करना अपरसंग्रहनय है व अपरसंग्रह से संगृहीत पदार्थोंके भेद करके किसी एक भेदके जातिवालोंका संग्रह करना भी अपरसंग्रहनय है, जैसे जीव, पुद्गल, संसारीजीव आदि शब्दोंसे सूचित होता है। इस दृष्टिका विषय भी द्रव्य है। अतः यह द्रव्यार्थिक नय।

संग्रहनयसे संगृहीत पदार्थोंके भेद करना भी एक दृष्टिकी कला है। इसे व्यवहारनय कहते हैं; जैसे सत्से संगृहीत पदार्थोंके जीव, अजीव ऐसे दो भेद करना, जीवमें संगृहीत सब जीवोंमें से संसारी, मुक्त ऐसे भेद करना, अजीवमें संगृहीत पदार्थोंमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ऐसे भेद करना आदि। इस दृष्टिका विषय भी द्रव्य है। अतः व्यवहारनय भी द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

एक ऐसी भी दृष्टि होती है, जिसमें केवल एक वर्तमान परिणमन देखा जाता है। यद्यपि यहां भी पर्यायपरिणत द्रव्य ही जाना जाता है, किन्तु द्रव्यत्व पर इस दृष्टि में उपयोग नहीं रहता। इस दृष्टिको ऋजुसूत्रनय कहते हैं। यह दृष्टि पर्यायको विषय करती है। अतः यह पर्यायार्थिकनय है। इसी सिलसिले में आगेकी सारी सूक्ष्म दृष्टियाँ भी पर्यायार्थिक नय होती हैं। ऋजुसूत्र शब्दका अर्थ है—ऋजु याने सरल (वर्तमान) को सूते मर्यादित जाने। जिसका तात्पर्य है कि एक वर्तमान परिणमनको जो जाने सो ऋजुसूत्रनय है।

इससे भी सूक्ष्म एक दृष्टि है, जिससे वर्तमान परिणमनको भी भिन्न-भिन्न रूपसे जाना जाता है। यह भेद शब्द शब्दार्थकी अपेक्षासे होता है इससे इसका नाम शब्दनय कहा जाता है। जैसे—स्त्रीके वाचक दार, भार्या, कलत्र आदि अनेक शब्द हैं, किन्तु दार शब्दसे ऐसी स्त्रीका ग्रहण होना जो भाई भाईमें भेद करा दे, भार्याशब्दसे ऐसी स्त्रीका ग्रहण होना जो अपनी परिश्रमकलासे पुत्रपति आदि कुटुम्बका भरण पोषण करे, कलत्र शब्दसे ऐसी स्त्रीका ग्रहण होना, जो पति व पुत्रके कल (शरीर) की रक्षा करे।

इससे भी सूक्ष्म एक दृष्टि है जो एक शब्दके अनेक अर्थोंमें से भी किसी एक अर्थमें ही उपयुक्त होती है याने रूढ़ होती है। इस दृष्टिको समभिरूढनय कहते है। जैसे गो शब्दके अनेक वाच्य अर्थ है—किरण, वाणी, गाय आदि, फिर भी गो शब्द गाय पदार्थके वाचकत्वमें अभिरूढ है।

इससे भी सूक्ष्म एक दृष्टि हो जो समभिरूढ़के अर्थमें भी भेद कर देती है याने समभिरूढ़ आदिसे निश्चय किये गये पदार्थको उस शब्दसे उसी समय कहना या जानना, जब कि वह पदार्थ उस अर्थकी क्रियामें हो रहा हो। जैसे-पुजारी पूजा करते हुए मनुष्यमें ही प्रयुक्त होना आदि। इस नयको एवंभूतनय कहते है।

एक पद्धतिसे सब दृष्टियोंको ३ प्रकारसे बांध सकते हैं—(१) ज्ञाननय, (२) अर्थनय, (३) शब्दनय। जिनका सम्बन्ध बुद्धि व संकल्पके साथ है वह ज्ञाननय है। जिनका सम्बन्ध अर्थके (पदार्थके) साथ है वह अर्थनय है। जिनका सम्बन्ध शब्दके साथ है वह शब्दनय है। उक्त सात नयोंमे से नैगमनयको ज्ञान-नय कहा जाता है; संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र नयको अर्थनय कहा जाता है, क्यों कि ये पदार्थको विषय करते हैं, दो तो द्रव्यकी मुख्यतासे पदार्थको विषय करते है, ऋजुसूत्रनय पर्यायकी मुख्यतासे पदार्थको विषय करता है। शब्दनय, समभिरूढ़नय व एवंभूतनय को शब्दनय कहते हैं अथवा जैसे चौकी कहो तो वह चौकी ज्ञाननयसे तो समझे हुए चौकीके ज्ञेयाकार मात्र है, अर्थनयसे चार खूटोवाली काठकी चौकी है, शब्दनयसे कहे गये या लिखे गये चौकी इन शब्दोंरूप है।

दृष्टियाँ किसी संख्यामें सीमित नहीं की जा सकतीं। जितने वचन व्यवहार होते हैं उतनी दृष्टियां होती हैं। छद्मस्थ (अपूर्णज्ञानी) प्राणी दृष्टियो द्वारा ही पदार्थके निर्णयपर पहुँच पाते हैं। अतः पदार्थनिर्णयकी उत्कण्ठावालोंको दृष्टियोंका परिचय करना चाहिये। दृष्टियोंके परिचय बिना ही किसी दार्शनिक को अन्य दार्शनिकोंकी बात गलत मालूम होती है। यदि अन्य दार्शनिकोंकी बुद्धिको अपनी दृष्टिमें ले लें तो प्रत्येक दार्शनिकोंकी कही हुई बात सही देखता जावेगा।

दृष्टिवादके उपयोग बिना तो व्यवहार भी नहीं चलता, सम्यग्व्यवहारविधि के ज्ञानसे रहित मोहान्ध प्राणी दृष्टिवादका सहारा लिये बिना परमार्थके निर्णयकी ओर जा पावेगा, कैसे ? व्यवहारमें जैसे किसी मनुष्यका पूरा परिचय पाना है तो उस मनुष्यके बारेमें किन किन दृष्टियोंसे ज्ञान किया जाता है तब कहीं कुछ पूरा परिचय मिलता है, जैसे कि यह अमुक चंदका पिता है, अमुकलाल का पुत्र है, अमुकप्रसादका मामा है, अमुकसैनका भानजा है, इतने लक्षका धनवान है, इतनी योग्यताका ज्ञानवाला है इत्यादि अनेक दृष्टियोंसे उसका परिचय पाया जाता है।

यद्यपि परमार्थके अनुभवके कालमें तथा पदार्थके प्रमाणविज्ञानके कालमें दृष्टियोंका उपयोग नहीं रहता तो भी निर्णयके लिये पहिले दृष्टियोंका सहारा लेना आवश्यक ही है। दर्शनशास्त्रोंके सिद्धान्तोंके परखने व परिचित करनेके लिये मुख्य दृष्टियां दो रहती हैं– एक तो वस्तुके स्वभावको देखना, दूसरे वस्तु के परिणमनको देखना। प्रत्येक वस्तुमें स्वभाव व परिणमन दोनों हुआ ही करते हैं। इनमें स्वभाव तो ध्रुव व अविशेष होता है और परिणमन अध्रुव व विशेषरूप होता है। वस्तु और उसका स्वभाव कहीं अलग अलग चीज नहीं है; स्वभाव व वस्तु (स्वभाववान) का भेद करके वस्तुका परिचय कराया जाता है। इसी प्रकार वस्तु व उसका परिणमन उस परिणमनकालमें अलग अलग कुछ नहीं है; किन्तु वस्तु किसी न किसी दशामें अवश्य रहती ही है सो उस दशा (परिणमन) द्वारा वस्तुका परिचय कराया जाता है।

इस प्रकार वस्तुस्वभाव व परिणमन दो दृष्टियोंसे देखा जाता है। इनमें से स्वभावदृष्टिसे देखा जाता है तो पदार्थ ध्रुव, नित्य, एकरूप, अपरिणामी, अविशेष आदि रूपोंमें देखा जाता है तथा परिणमनदृष्टिसे देखा जाता है तो पदार्थ अध्रुव, अनित्य, नानारूप, परिणामी, विशेष रूप आदि रूपोंमें देखा जाता है। स्वभावदृष्टिको द्रव्यार्थिकदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि, सत्यार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि आदि कहते हैं व परिणमनदृष्टिको पर्यायार्थिकदृष्टि, व्यवहारदृष्टि, अपरमार्थदृष्टि, असत्यार्थ दृष्टि, अभूतार्थदृष्टि आदि कहते हैं।

७—विश्वव्यवस्था

विश्वका अर्थ समस्त है। सबके अतिरिक्त जगत् अथवा विश्व कुछ नहीं। इसी कारण विश्व जगत्का अर्थात् लोकका नाम भी पड़ गया। इस विश्वकी व्यवस्था कैसे चलती है, इस प्रश्न का भाव है कि समस्त पदार्थोंकी व्यवस्था कैसे चलती है? इसका समाधान पानेके लिये समस्त पदार्थ कितने हैं, यह पहिले जानना चाहिये। इसका विवरण 'विश्वके पदार्थ' नामक दूसरे अध्यायमें कुछ किया है। समस्त पदार्थ अनन्तानन्त हैं—अनन्तानन्त जीव पदार्थ, अनन्तानन्त पुद्गल पदार्थ, एक धर्मपदार्थ, एक अधर्म पदार्थ, एक आकाश पदार्थ, असंख्यात काल पदार्थ प्रत्येक पदार्थ स्वतः सिद्ध है क्योंकि वह है। असत् का कभी किसी रूपमें भी उत्पाद नहीं हो सकता और न सत् हो सकता। बिना ही किसी पूर्वरूपके रूपान्तर किस आधारपर हो। अतः प्रत्येक पदार्थ स्वतःसिद्ध है। जो स्वतःसिद्ध होता वह अनादिसे होता व अनन्त काल तक रहनेवाला होता है। जो सत् है वह परिणमनशील होता है क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं होता, जिसमें दशा कोई भी न हो और हो। अतः प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। कोई भी परिणमन पदार्थमें एक समयसे अधिक नहीं रहता, क्योंकि पदार्थ परिणमनशील है। पदार्थ अपनी शक्तियोंका ही परिणमन करता है दूसरे पदार्थकी शक्तियोंका परिणमन नहीं करता अर्थात् कोई पदार्थ दूसरे पदार्थकी दशा नहीं बनाता क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही परिणमनशील है।

प्रत्येक पदार्थमें ६ सामान्य गुण होते ही हैं—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) अगुरुलघुत्व, (५) प्रदेशवत्व, (६) प्रमेयत्व। इन गुणोंकी सार्थकता क्रमशः परखना चाहिये। (१) पदार्थमें अस्तित्व तो है ही, क्योंकि अस्तित्व बिना चर्चा ही क्या? अस्तित्व तो है किन्तु सर्वरूपसे अस्तित्व नहीं अर्थात् प्रत्येक अपने स्वरूपसे तो सत् है, किन्तु अन्य समस्त पदार्थके स्वरूपसे असत् है। तभी तो अस्तित्व संभव है। (२) पदार्थमें अपना अपना कार्य संभव है। इस विशेषताको वस्तुत्व कहते हैं। यह वस्तुत्व गुण प्रत्येक पदार्थमें पाया

जाता है। यहां तक वस्तु है—यह सिद्ध हुआ (३) क्या वह वस्तु शाश्वत एक दशा (रूप) में रहती है या नानारूप परिणमती है? इसका उत्तर द्रव्यत्व गुण से मिलता है। द्रव्यत्व गुणके कारण वस्तु प्रति समय परिणमती रहती है। जो कुछ है वह नियमसे परिणमनशील है। शुद्ध पदार्थोंका परिणमन भी सदृश होनेसे चाहे एक लगता है, तो भी वह एक नहीं, किन्तु प्रति समय नवीन नवीन है। (४) अब पदार्थ परिणमनशील होनेसे प्रति समय परिणमता रहता है यह तो सिद्ध हुआ, किन्तु वह परिणमना मर्यादित है या अमर्यादित अर्थात् वह पदार्थ अपने ही गुणोंमें परिणमता है या अन्य द्रव्यके गुणोंमें भी परिणम जाता है? इसका उत्तर अगुरुलघुत्व गुणसे मिलता है। अगुरुलघुत्व गुणके कारण वस्तु अपने ही गुणोंमें परिणमती है अन्य वस्तुके गुणोंमें नहीं परिणमती। इतनी ही बात नहीं, किन्तु वस्तुके अनंत गुणोंमें से एक गुण अवशिष्ट समस्त गुणोंमें से किसी भी गुणों रूप नहीं परिणमता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अगुरुलघुत्व गुण के कारण वस्तु न तो किसी अन्य वस्तुरूप परिणमती है और उसही वस्तु का एक गुण उसी वस्तुके अन्य दूसरे गुणरूप नहीं परिणम जाता। अतः यह बात सुसिद्ध है कि एक वस्तु किसी अन्य वस्तुका परिणमन नहीं कर सकता। यह वस्तुका स्वभाव है। (५) यह सब वस्तुके निजक्षेत्र में होता है, प्रत्येक वस्तु प्रदेशवान् है; कोई (काल व अणु) एक प्रदेशवान् है, कोई (धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, जीवद्रव्य) असंख्यात प्रदेशवान् है, कोई (आकाश द्रव्य) अनन्तप्रदेशवान् है। इस व्यवस्थाका आधार प्रदेशवत्त्व गुण है। (६) ये सभी द्रव्य हैं, ऐसे ज्ञानके विषयभूत हैं, यह प्रमेयत्व गुणके कारण हैं। इस तरह प्रत्येकद्रव्यमें ६ (अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रमेयत्व) साधारण गुण होते ही हैं। अतः पदार्थके होने व परिणमनेकी व्यवस्था पदार्थके स्वभावसे ही है। बाह्य पदार्थोंको निमित्त पाकर अपनी योग्यता व संस्कारके अनुरूप नाना प्रकारसे परिणम जाना यह भी परिणमनेवाले पदार्थके स्वभावसे होता है। ऐसा नाना परिणमन जीव व पुद्गल—इन दो प्रकारके पदार्थोंमें होता है। इस व्यवस्थाका साधारण कारण इन दोनोंमें रहने वाली विभावशक्ति है। विभाव शक्ति होनेसे यदि विभाव परिणमनका संस्कार है तो वाह्य पदार्थोंका निमित्त पाकर विभाव

परिणमन हो जाता है। कैसा पदार्थ कैसे पदार्थोंको निमित्त पाकर किस रूपसे परिणम जाता है यह सब प्रत्यक्षगोचर है, युक्तिसिद्ध है, व साइंसके प्रयोगोंसे अति स्पष्ट है।

पदार्थोंके परिणमनके इस वैज्ञानिक रहस्य (निमित्त नैमित्तिकभाव) का यथार्थ परिचय न होनेसे कोई खास एक नियता होगा, ऐसी कल्पना हो सकती है। प्रथम तो यह कल्पनामात्र है अथवा यह भी कल्पना रहे तो भी निमित्त नैमित्तिक भावके ये सब प्रयोग निर्बाध चल रहे हैं, विपरीतता तो देखनेमें आती नहीं, फिर पदार्थोंकी प्राकृतिक व्यवस्थामें क्या आपत्ति है ?

पात्रस्थ जल अग्निका सन्निधान पाकर अनुष्ण (शीत) अवस्थाको छोड़कर उष्ण हो जाता है। शीत जलका सन्निधान पाकर उष्ण जल उस उष्ण अवस्था को त्यागकर यथायोग्य शीत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। सूर्योदयका निमित्त पाकर योग्य कमलवृत्त प्रमुदित हो जाता है। बनानेवाली महिलाके हस्तव्यापार चकला बेलन तवा अग्नि आदिके सविधि सन्निधानको पाकर आटा रोटी अवस्थाको प्राप्त होता है। साइंसरूपमें अनेकों प्रयोग किये जाते हैं। वहां कोई वस्तु किन्हीं अन्यका संयोग पाकर किस रूप परिणम जाता है, यह प्रत्यक्षगोचर होता है, इत्यादि अनेकों व्यवस्थायें पदार्थोंकी प्रकृतिसे होती हुई सिद्ध होती हैं।

जीवके दुर्भावका निमित्त पाकर अनंत कार्माण वर्गणायें पापप्रकृति रूप परिणम जाती हैं। जीवके सद्भावका निमित्त पाकर अनन्त कार्माण वर्गणायें पुण्यप्रकृतिरूप परिणम जाती हैं। जीवके स्वच्छ ज्ञानभावका निमित्त पाकर अनन्त कार्माण वर्गणायें निर्जीर्ण हो जाती हैं व जो कर्मरहित हैं वे अनन्त आनन्दरूप परिणमते रहते हैं, इत्यादि गूढ़ भावोंकी भी व्यवस्था इसी निमित्त-नैमित्तिकभावके आधार पर है।

जो पदार्थ शुद्ध है व जिन जीव पुद्गलोंमें विभावयोग्यता नहीं होती वे मात्र काल (समय) को निमित्त पाकर शुद्ध निरुपाधि गुणविकासरूप परिणमते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त पदार्थ यथायोग्य बाह्य निमित्तोंको

पाकर अपने अन्तरङ्ग प्रकृतिके अनुरूप परिणमते चले आये हैं, परिणम रहे हैं व परिणमते चले जावेंगे।

जीव ज्ञान, दर्शन, शक्ति व आनन्द का पिण्ड है। यह उपाधिसयोगमें अनादिसे विकार रूपमें परिणमता चला लाया है। विकार परिणाम को निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है, कर्मोदय को निमित्त पाकर विकारभाव होता है। कर्मबन्धके समय ही जीवके विकार व योगके अनुकूल कर्मोंमें स्थिति, फलशक्ति, प्रकृति पड़ जाती है। एक समयमें बांधे हुए कर्म कुछ समय बाद ही क्रमशः हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षो तक व अनेकों सागरों तक उदयमें आते रहते हैं और इस प्रकार एक समयमें उदयमें आ रहे कर्म भी पूर्वके अनेकों समयके विभिन्न परिणामोंसे अर्जित किये हुए होते हैं।

चूंकि एक समयमें विविध शक्तियोंवाले कर्म उदयमें आते हैं। अतः मदता, तीव्रताके अनेक अवसर आते हैं, उन अवसरोंमें अपने आपके पुरुषार्थके बलसे जब जीव निर्मल परिणामयुक्त हो तो उस परिणामकी परम्परासे यथाशीघ्र कल्याण प्राप्त करता है।

विवक्षित आयु कर्मके उदय तक जीव विवक्षित शरीरमें रहता है पश्चात् तुरंत अन्य आयुकर्मका उदय हो जाता है। आयु कर्म ही क्या, सभी कर्मोंके अभावको निर्वाण परमकल्याण कहते हैं। आयु कर्मका संचय जीवके परिणामके अनुसार होता है। यदि कोई बहुत आरम्भ, काम-धन्धेमें व बहुत परिग्रह, तृष्णामें संलग्न रहता है वह नरकायुका बन्ध करता है, जिसके उदय होनेपर नारकीय जीवन होता है। नारकीय जीवन निकृष्ट जीवन है। यदि मायाचार, धोकाबाजी, चुगली आदिका व्यवहार कोई करता है तो उसके तिर्यञ्चायुका बन्ध होता है जिसके उदय होनेपर पशु, पक्षी, कीट, पृथ्वी, जल, आग, वायु, पेड़, निगोद आदिमें जन्म धारण करता है। यदि कोई संयम, सदाचार, तपस्या, दया, दान आदिकी प्रवृत्ति करता है तो उसके देवायुका बन्ध होता है, जिसके उदय होनेपर स्वर्गीय जीवन प्राप्त होता है। यदि अल्प आरम्भ, अल्प काम-धन्धेमें, अल्प परिग्रह, संतोषभावमें काल व्यतीत करता है तो उसके मनुष्यायुका बन्ध होता है, जिसके उदय होनेपर मनुष्य जन्म मिलता है। पूर्ण

ज्ञान व वीतरागभाव होनेपर जीव सब कर्मोंसे रहित होकर मोक्षको प्राप्त करता है।

यह सब भवभ्रमण व भवनिवृत्ति जीवके परिणामके अनुसार होती है।

जितने पुद्गल स्कन्ध दीखते हैं व हैं वे एक द्रव्य नहीं हैं, किन्तु अनेक पुद्गल द्रव्योंका पिण्ड है, क्योंकि एक द्रव्य वह होता है जो कि अखण्ड हो। इन स्कन्धोंके तो भाग हो जाते हैं। इनमें पुद्गल एक एक अणु है। इस तरह दृश्यमान सब स्कंध अनन्त अणुवोंके पिण्ड हैं। जब कोई केवल एक अणु रह जाता है तब उसे शुद्ध पुद्गल द्रव्य कहते हैं। पुद्गल द्रव्य शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो जाते हैं, किन्तु जीव द्रव्य शुद्ध होकर कभी अशुद्ध नहीं हो सकता। पुद्गलकी अशुद्धता स्कन्ध होनेको कहते हैं। शुद्ध पुद्गलोंमें ५ रूपोंमें से कोई एक रूप, ५ रसोंमें से कोई एक रस, २ गन्धोंमें से कोई एक गन्ध तथा शीत उष्णमेंसे एक स्पर्श व स्निग्ध रूक्षमें से एक स्पर्श पाया जाता। पुद्गलाणु व पुद्गलाणुके सम्बन्ध होने याने स्कन्ध होनेका कारण स्निग्ध रूक्ष गुणका परिणमन है। जब कोई एक अणु जितने डिगरी वाला स्निग्ध रूक्ष हो व दूसरा दो डिगरी अधिक स्निग्ध या रूक्ष हो तो दोनोंमें बंध हो जाता है और कम डिगरी गुण वाला अणु अधिक डिगरी वाले अणुके अनुरूप स्निग्ध या रूक्ष रूप परिणम जाता है, किन्तु कोई अणु केवल एक डिगरीका स्निग्ध या रूक्ष परिणति वाला हो तो उसका अन्यसे बन्ध नहीं होता है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य— ये चारों द्रव्य नित्य शुद्ध रहते हैं, अपने आपमें स्वभावपरिणमन करते रहते हैं। ये केवल गति, स्थिति, अवगाह व परिणमनमें निमित्तमात्र कारण होते हैं।

इस तरह समस्त पदार्थोंकी व्यवस्थाके मुख्य ३ कारण हैं— (१) प्रत्येक वस्तुका परिणमनशील स्वभाव होना, (२) प्रत्येक वस्तुका अपने आपमें ही परिणमना अन्यमें नहीं परिणमना व (३) निमित्त-नैमित्तिकभावका होना। यदि अन्य दूसरेके कारण पदार्थका उत्पाद नाश होता तो सदा गड़बड़ियां रहतीं व अन्ततोगत्वा सर्वाभाव हो जाता।

प्रत्येक द्रव्य स्वतः सिद्ध है, स्वयं परिणमनशील है, परको निमित्त पाकर

स्वयं निजकी योग्यताके अनुकूल परिणम जाना वस्तुकी स्वयंकी कला है। जीव भी स्वतः सिद्ध है, स्वयं परिणमनशील है, परको निमित्त पाकर स्वयं निजकी योग्यताके अनुकूल परिणम जाना जीवकी कला है। पुद्गल आदि प्रत्येक द्रव्योंकी यही व्यवस्था है। काल द्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है जिसके परिणमनमें अन्य द्रव्य कोई निमित्त नहीं होता। शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्यके परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है। जीव व पुद्गलके विकार परिणमनमें कर्म निमित्त है व बाह्य वस्तु आश्रयभूत हैं। विकार परिणमनके निमित्त भूत आश्रयभूत बाह्य कारणोंके अभावमें पदार्थ स्वभावके अनुरूप परिणमता है।

इस तरह वैज्ञानिक आधारपर विश्वकी व्यवस्थाकी यह पद्धति है। सबके कार्यके उपादान कारण वे ही सब हैं। यदि उन सबको संग्रहनयसे देखा जाय तो सब सत् स्वरूप ही हैं। इस सामान्य दृष्टिमें वैयक्तिक धारणा नहीं रहती है अतः एक सत्‌रूप हैं। इस साधारण (सामान्य) स्वभावको मद्दे नजर रखकर "सबके परिणमनका कारण क्या है" इस प्रश्नका समाधान किया जावे तो यह कहा जा सकता है कि एक सत्स्वरूप तत्त्व है यही सत्स्वरूप तत्त्व ब्रह्म, अद्वैत आदि अनेक शब्दोंसे वाच्य होता है, जिससे यह भी कहा जा सकता है कि सर्वकी उत्पत्तिका कारण सत् या ब्रह्म है।

८—वैदिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

वैदिककालमें सरल पुरुषोंकी अधिकता थी। उनका पोषण जिन तत्त्वों व शक्तियोंसे होता था वे उनके ध्यानमें सर्वस्व हो जाते थे। यही कारण है कि पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, सूर्य आदिकी देवताओंके रूपमें, साक्षात् व अलंकार भाषामें स्तुतियां रची गईं। लोकहितकी दृष्टिसे ऐसा ध्यान करना किसी सीमातक उचित कहा जा सकता है तथा धर्मपद्धतिसे इन मंत्रोच्चारणादि क्रियाओंके प्रयोगमें अनेक विषयवासनाओंसे विराम पाया जा सकता है, अतएव इन सब कर्म-काण्डोंका धर्मरूपमें अभ्युदय हुआ।

वेदके ४ भाग हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, (४) अथर्ववेद। ऋग्वेदमें ईश्वरकी उपासना, राजाका कर्तव्य, विद्वान व प्रजाका कर्तव्य, कला-कौशल, समृद्धि आदिका वर्णन है जो अस्पष्ट भाषामें हैं, किन्तु विद्वानोंने बुद्धिमत्ताके साथ उनके अर्थ रचे है। पशु, वनस्पति, सूर्य, इन्द्र आदिके नामोंसे अनेक वर्णन हैं, जिनका अर्थ विद्वज्जनों द्वारा नीति, प्रीति, विरति आदि करके अर्थ प्रकट हुआ है, जिससे जाना गया कि वेद वचन रूपक व अलंकारोंकी पद्धतिमें हैं। विवाह, सन्तान आदिके विषयमें भी खूब विवरण किया गया है। यजुर्वेदमें राजा, सेना, शस्त्र, रक्षा आदि विषयोंका प्रधानतासे वर्णन है, जिसके अनेकों जगह परमात्मभक्ति आदि निर्देशक अर्थ भी किये गये हैं। राजनीति, विद्वानोंका राजा द्वारा सन्मान, शत्रुवोंसे रक्षा आदिका वर्णन विशेष होनेसे विद्वानोंने बताया है कि क्षत्रियोंके उद्देश्यसे यह यजुर्वेद हुआ है। यजुर्वेदका मुख्य उपाङ्ग धनुर्वेद है इस कथनसे भी यही ज्ञान होता है। सामवेदमें ईश्वर, अग्नि, इन्द्र आदिकी स्तुति व भक्ति नाना प्रकारोंमें की गई है, साथ ही अनेक गानोंमें सुख, संतान, समृद्धि आदि की कामना भी की गई है। अथर्ववेदमें आचारणोंके उत्तम किये जानेकी प्रेरणा की है। कहीं कहीं आत्मा परमात्माकी भी चर्चा है, साथ ही अनेकों स्थलोंमें सन्तानोत्पाद, राजकाजका भी वर्णन आ जाता है।

उक्त वेदोंमे यद्यपि क्रमशः विषयवार वर्णन नहीं है और इसी कारण यह भी प्रबलतासे छांटा नहीं जा सकता कि कौन-सा वेद किस विषयको लेकर बना? फिर भी उनमें जो वर्णन कुछ अधिक जचा उस अपेक्षासे यह विभाग वर्णन है। वैसे तो सभी वेदोंमें सभी प्रकारका जब चाहे जो वर्णन आया है।

इनसे हम यह शिक्षा लें कि अपना आचरण ठीक बनायें। जिससे हमारा उपकार हो उसके कृतज्ञ बनें। अग्नि, जल, वायु, इन्द्र, राजा, पृथ्वी, औषधि आदि चेतन अचेतन अर्थोंकी स्तुतियां ये जाहिर करती हैं कि पूर्वज पुरुष ऐसे सरल थे कि वे किसी भी उपकारी तत्त्वके प्रति इतने कृतज्ञ हो जाते थे कि वे उसकी उपासना, स्तुति व भक्ति भी करते थे।

उक्त चारों वेद किसी एक सिलसिले व विषयक्रमको लेकर नहीं बने हैं।

इसलिये इस सब समुदायमें विषय विभाग हो नहीं सकता, 'किन्तु रचनाकी पद्धतिसे इनमें विभाग किया गया है— जिन मंत्रोंमें छन्दशास्त्रके अनुसार पादव्यवस्था है उनके संचयको ऋग्वेद कहते हैं। जो मन्त्र गान किये जाते हैं, छन्दरूपमें जिनकी रचना है उनके संचयको सामवेद कहते हैं। जो मन्त्र छन्द-शास्त्रके अनुसार पादबद्ध नहीं और न गान किये जा सकते हैं उन सब मन्त्रोंके संचयका नाम यजुर्वेद है। यजुर्वेदके मंत्रोंमें जो मत्र स्पष्टार्थक हैं उनका नाम अथर्ववेद है। जैसे अथर्ववेद यजुर्वेदमें गर्भित है, वैसे ही सामवेद ऋग्वेदमें गर्भित है। इस तरह किसी दृष्टिसे वेद दो हैं, किसी दृष्टिसे वेद तीन हैं, किसी दृष्टि से वेद चार हैं।

कुछ व्यक्तियोंके ख्याल है कि वेदमें यज्ञमें हिंसाका विधान किया गया है, इससे पशुहिंसा आदि करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसा ख्याल छोड़ देनेमें लाभ है। कारण यह है कि शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं तथा कभी उपमानके स्थान पर उपमेय का भी प्रयोग कर दिया जाता है, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इन्द्रियोंको, मनको, विकल्पोंको घातो याने वश करो इत्यादि। हिंसाके भावको छोड़कर फिर वेदोंके वाच्यपर दृष्टि दी जावे तो इससे, नीति, रीति व उप कारक निमित्तोंका ज्ञान आदि व्यवहारिक अनेक बातोंका इससे बोध मिलता है।

—:*:—

९—ईसाई मजहबसे प्राप्तव्य शिक्षा

अबसे करीब १९०० वर्ष पहिले······ देशमें किसी कुमारी कन्याके गर्भसे ईशुजी उत्पन्न हुए थे। उन्होंने भारतमें भी आकर कुछ समय अध्यात्म शिक्षा प्राप्तकी थी। अहिंसा, न्याय व सत्यके प्रचारके लिये हठात्मक, बलात्मक, सत्याग्रहात्मक, प्रेमात्मक पद्धतियोंसे महान् परिश्रम किया था। इन्हीं आन्दोलनों के फलस्वरूप कुछ शक्तिमान् पुरुषोंके प्रयोगसे उनकी मृत्यु भी हुई थी। उन ईशुके निर्देशन के अनुसार सेवाभावका आज भी प्रचार ईसाई महानुभावोंमें है। उनका जीवन दूसरोंकी सेवाके लिये है यही ईसाई मजहबका मुख्य सिद्धान्त है। कोई अपनेप्रति कृतघ्न कैसा भी व्यवहार करे उसकी तो सेवा ही यथाशक्ति करनेका प्रकाश यहां मिलता है। इस मजहबसे व ईसाई समाजके साधुप्रकृतिक

लोगोंसे यह शिक्षा लेना चाहिये कि 'हम अपनी शक्ति भर दूसरोंकी सेवा करें व किसीके द्वारा कोई कुछ उपद्रव भी आवे तो भी उसको क्षमा करके उसकी सेवा करें।'

ईसाई मतानुयायियों में प्रायः मांसभक्षणकी प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग समझने लगे हैं कि मनुष्यको छोड़कर अन्य प्राणियोंकी हिंसा करना दोषकर नहीं है, किन्तु उनका ऐसा समझना ठीक नहीं है। कारण कि— ईशुकी शिक्षायें पशु, पक्षी आदि सबकी रक्षा करनेका उपदेश है। हिंसा करना धर्म कभी हो ही नहीं सकता। इससे तो सभी प्राणियोंकी सेवा करनेकी शिक्षा लेनी चाहिये। ईशुके उपदेशोंमें यह भी कहा गया है कि यदि कोई तुम्हारे गालपर तमाचा मारता है तो तुम दूसरा तमाचा भी झेलनेके लिये अपना दूसरा गाल उसके सामने करदो। इसका भाव यह है कि विरोधीपर भी रोष मत लावो।

—:※:—

१०—मुसलिम मजहबसे प्राप्तव्य शिक्षा

अबसे करीब १३०० वर्ष पहिले अरब देशमें मुहम्मदजी होगये हैं। ये किसी भी कार्यके लिये क्रान्तिका आदर अधिक करते थे। बाल्यकालसे ही संगठनकी ओर ध्यान गया। किन्हीं बातोंमें तो अपनी माता जी से भी विसंवाद कर बैठते थे। सुना है कि अरब देशमें एक जिनालय था, उसमें अनेक बिम्ब थे, जिनका मुख पूर्वकी ओर था। इनकी उपासना इनके कुलमें होती थी। इन्हें साकार पूजा करनी व्यर्थ जंचा और उनके हटानेका विचार रखा। माताजीके समझानेपर अन्तमें यह तय हुआ कि इसके अन्तद्वारपर पत्थरशिला जड़ दी जावे ताकि ये पूरी तरहसे बन्द रहें। ऐसा ही किया गया। लोग बाहरसे ही शिलाको प्रणाम करके उपासना करने लगे। अब खुदा (ईश्वर) की आराधना निराकार रूपमें होने लगी और इसी प्रकार प्रचार भी हुआ।

मुसलिम मजहबमें जो भी पुराने ग्रन्थ हैं, सभीमें जीवदयाको महत्व दिया गया है। सबकी भलाई करनेपर अनेकों स्थलोंपर प्रकाश किया है। पैगम्बरोंने न्याय, सदाचार, जीवरक्षा आदि लोकोपकारी सिद्धान्तोंका प्रचार किया है।

मुसलिम मतानुयायियोंमें भी प्राय: मांसभक्षणकी प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग ऐसा समझने लगे हैं कि इस मजहबमें हिंसा करना जायज बताया होगा, किन्तु ऐसा ख्याल करना ठीक नहीं है। कारण कि कोई भी महापुरुष जीव-हिंसाको जायज नहीं कह सकता तथा कुरानोंमें अनेकों जगह कीड़ी-मकोड़ी आदि सभी जीवोंकी दया करनेका उपदेश मिलता है। मक्का-मदीनाकी यात्रा करनेमें वे यात्री जूं तकको भी सिरसे निकालकर अलग नहीं फेंकते, कोई कीड़ी न मर जावे इस पर विशेष ध्यान रखते है। मांसभक्षक देशोंके लोगोंको अनेको नियमोमें मांसत्याग करवाया गया था। कहीं कभी मांस-भक्षणकी प्रवृत्ति रह गई और वह बढ़ती गई तो इसे व्यक्तिगत दोष समझना चाहिये। मांस भक्षण व जीवहिंसाका ख्याल छोड़कर इस मजहबसे हमें प्रेम, ईशभक्ति, रहम आदि अनेक बातोंकी शिक्षा लेना चाहिये।

११—हिन्दू दर्शन

आजकल प्राचीन दर्शनोंमें से जो दर्शन प्रचलित है, उनमें केवल जैन-दर्शन व बौद्ध-दर्शन प्राय: केवल निज-निज सिद्धान्तसे आभृत है। इनके अतिरिक्त दार्शनिक प्रणालीसे ही प्राय: अन्य सब दर्शनोका मिश्रित रूपसे एक दर्शन पाया जाता है, जिसका नाम व्युत्पाद्यरूपमे तो नही है, किन्तु प्रचलित रूपमें "हिन्दू धर्म" कहा जाता है। चूंकि प्रत्येक दर्शन अपनी अपनी अपेक्षासे ठीक है। इस कारण उन उन अपेक्षाओंको दृष्टिमे रखकर उन सब दर्शनोको माना जाना ही चाहिये। सब दर्शनोंकी मान्यताओंको समीचीन बताना स्याद्वाद द्वारा जैन-दर्शनमें हुआ है। इसी प्रकार दार्शनिक प्रणालीसे प्रचलित हिन्दू दर्शनमे भी प्राय: अनेक दर्शनोंकी बात गर्भित है। सृष्टिकर्ता एक ईश्वर है, सृष्टि ब्रह्मसे परे है, सृष्टि ब्रह्मकी माया है, ईश्वरका भी अवतार होता है, पदार्थमें सत्त्व रजो तमो गुण हैं, जिनमें किसी एककी प्रधानतासे उस उस प्रकारकी सृष्टि होती रहती है, आत्मा व प्रकृतिके अविवेकसे संसार व सुख दु:ख आदि तथा आत्मा व प्रकृतिके विवेकसे परम आनन्द व मोक्ष होता है, परमात्मा

होनेपर उसका फिर संसार या अवतार नहीं होता इत्यादि अनेकविध मान्यताओंका इसमें संग्रह है। यदि विवक्षानुसार इनका मर्म पानेका यत्न करें तो ये सब अविरुद्ध बातें हैं जो कि उस दृष्टिमें हो सकती हैं। इस मतमें शास्त्रोंमें उपयोगी समझकर ऋषियोंने अनेक सिद्धान्तोंका प्रणयन किया है। इस तरह शास्त्र अनेक प्रकारके हैं, पुराण भी अनेक तरहके हैं, देव भी अनेक प्रकारसे माने गये है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, पञ्चानन, दुर्गा, भवानी, शीतला, लक्ष्मी, शाकुम्भरी, अन्नपूर्णा, सरस्वती, गनगोर आदि अनेक देव माने गये हैं, जिनकी उपासना भिन्न भिन्न उद्देश्यको लेकर होती है। गुरु भी अनेक प्रकारके भेषमें माने गये हैं। केश रखे, भस्म लगे, छाल पहिने, चर्म पहिने, टाट पहिने, जूता पहिने, खड़ाऊं पहिने, शस्त्र लिये, वाहन लिये, धूनी रमाये, रंगीन वस्त्र पहिने आदि अनेक वेषोंमें संन्यासी, साधु, गुरु माने गये हैं, किन्तु सदाचारकी उपेक्षा नहीं की गई है।

इस मतमें जहां जिससे कोई शिक्षा, लोककार्य उपकार प्राप्त हुआ उसमें देव अथवा गुरुकी स्थापना की गई है। हिन्दु सम्प्रदायके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय हैं। अतः विविध मन्तव्य व विविध क्रिया व्यवहारोंका होना प्राकृतिक बात है। इस सम्बन्धमें सभी एक मत हैं कि काम, क्रोध, मान, माया, लोभ व मोह इन छह प्रकारके शत्रुओंका विध्वंस होनेपर ही कल्याण होगा।

हिन्दू शब्दका अर्थ है— हिं=हिंसासे, दू=दूर अर्थात् जो हिंसासे दूर रहे वह हिंदू। इस अर्थसे जीवदयामें जो विश्वास व आचरण करते हैं, वे सब हिन्दू हैं, किन्तु यह अब रूढ़ शब्द रह गया है। इस दर्शनमें मुख्यता राम-अवतारकी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की बाल्यावस्थासे लेकर उनके उस जीवन तकके सब चरित्रोंकी यहां उपासना है तथा उनकी पत्नी श्री सीताजीकी भी उसी आदरके साथ उपासना है। जैन-दर्शनमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको बलभद्र व पद्म कहा है और गार्हस्थ्य चरित्रके बादका चरित्र बताया है कि वे सर्व आरम्भ परिग्रहसे विरत होकर परमब्रह्मकी उपासनामें लग गये थे। इसके परिणामस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मांगी तुंगी पर्वतसे परमोत्कृष्ट समाधिरत होकर मोक्ष प्राप्त किया। श्री सीताजीकी सतियोंमें प्रधानता जैन-दर्शनने बताकर

यह कहा है कि श्री सीताजीने अग्निकुण्ड परीक्षाके बाद आयव्रित धारण करके तपस्या करके १६वें स्वर्गमें प्रतीन्द्र पद पाया है।

हिन्दू जातिके सम्प्रदाय प्राय: वैदिक मतके अनुयायी हैं, किन्तु सुधार, अध्यात्मवाद, प्रयोगानुभव आदि आशयोंके कारण विभिन्न सम्प्रदाय उनमें हुए हैं। जैसे रामभक्त, कृष्णभक्त, शैव, दुर्गाभक्त, शाक्त, सनातनी, आर्य आदि। इस धर्ममें भगवद् गीता एक प्रधान ग्रन्थ है। निष्काम कर्मयोग, प्रकृतिपुरुषविवेक, उत्पाद व्ययध्रौव्य, सत्त्व रज तम, ईश्वरकर्तृत्व, अकर्तृत्व आदि अनेक सिद्धान्तों का इसमें संचय है तथा किसी स्थलमें यह भी बताया है कि कर्मकर्ता तो जीव है, किन्तु फलदाता ईश्वर है। इसमें यह मर्म है कि यह जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, चाहे तो यह सद्विचारोंसे पुण्यका बन्ध करले, चाहे तो यह दुर्विचारोंसे पापका बन्ध करले या सर्वविकल्पोंको दूर कर शुद्ध चिद्ब्रह्मका आश्रय कर मुक्तिके मार्गमें विहार करले। हाँ, पुण्य या पापको बांधकर यह चाहे कि मैं उसके फलसे बच जाऊं या पाप करके भी मुझे क्लेश न मिले, सुख ही मिले तो इन बातोंके लिये वह विवश है।

इन सब सिद्धान्तोंसे हमें यह शिक्षा लेना चाहिये कि हम अपने परिणामों को स्वच्छ रखनेका उद्यम करें अन्यथा हम परवश होकर संसारमें रुलते रहेंगे।

—: * :—

१२—नैयायिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

इस दर्शनमें "तत्त्वज्ञानसे दुःखका अत्यन्त उच्छेद होता है" यह कह कर तत्त्व की व्यवस्था इस प्रकार बताई है—पदार्थ १६ होते हैं—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति व (१६) निग्रहस्थान। दार्शनिक दृष्टिसे पदार्थ इस तरह १६ ही रहें यह व्यवस्था यद्यपि नहीं बनती है क्योंकि अनध्यवसाय, विपर्यय, जिज्ञासा, प्रश्न आदि पदार्थोंका तो इसमें संग्रह नहीं है। यदि प्रमाण व प्रमेयमें इनका अन्तर्भाव हो तो प्रमाण व प्रमेयमें

सबका अन्तर्भाव करके फिर जाति, लक्षण आदि आधार बनाकर उनके सम्यक् प्रकारसे भेद करना चाहिये, तथापि यहां तत्त्वज्ञानसे इतना ही प्रयोजन लिया जावे कि दुःखके कारणोंको व दुःख को यथार्थ समझकर उनसे उपेक्षाकी जावे। सर्वप्रथम यह बात सबके यहाँ विचारणीय रही है कि जो सुख पाना चाहता है वह क्या पदार्थ है ? यद्यपि इसका उत्तर उपरिलिखित १६ नामोंमें से नही मिलता, फिर भी इसे प्रमेयके अन्तर्गत समझकर विचार किया जा सकता है। उक्त १६ पदार्थोंके नामोंको देखकर यह ध्वनित होता है कि इस प्रक्रियाका आशय किसी भी प्रकार दूसरोंके मन्तव्यको खण्डित करके स्वमतमण्डित करना। यह बात कुछ प्रकट हो ही जावेगी जब इन १६ पदार्थोंके लक्षण किये जावेंगे। अस्तु ! प्रकृत बात यह है कि सुख चाहने वाला क्या पदार्थ है ? उत्तर मिलेगा "चेतन"। यह चेतन कहांसे आया ? इस प्रश्नपर इस दर्शनका मन्तव्य है कि चेतन ही क्या, चराचर समस्त ही पदार्थ एक सदाशिव ईश्वर द्वारा किया गया है। इस मन्तव्यमें उनका सिद्धान्त है "अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।" अर्थात् यह अज्ञ जन्तु अपने सुख दुःखका अनीश है, वह तो ईश्वरसे प्रेरित होता हुआ स्वर्ग अथवा नरकको जाता है। यह मन्तव्य उचित है या अनुचित, इसकी समीक्षा यहां नही करनी है, विवेकीजन खुद निर्णय कर सकते हैं। इससे एक बातकी शिक्षा मिलती है कि प्राणी यह सोच सकता है कि मैं सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि का कर्ता नही हूं, स्वामी नही हूँ और इसकी भावनाके परिणामस्वरूप प्राणी अपनेको सुख दुःख का, राग द्वेषादिका अकर्ता मानकर उनसे लगाव हटा सकता है, किन्तु ध्रुव स्वरूपका परिचय पाये बिना उपयोगकी स्थिरता नही हो सकती। सो सभव है कि कर्तृत्वविकल्पका परिहार कर देनेपर यदि अन्य विकल्पोंको अवकाश न मिले तो यथार्थस्वरूपका परिचय हो ले। ऐसा होनेके लिये न तो ब्रह्मके कर्तापनका विकल्प होना चाहिये, न खुदके कर्तापनका विकल्प होना चाहिये और न अन्यके कर्तापनका विकल्प होना चाहिये। इस सहज ज्योतिके अनुभवके लिये तो पूर्णतया अकर्तृत्वका प्रत्यय रहना चाहिये, क्योंकि निर्विकल्पक समाधि या अनुभूतिकी सिद्धि विकल्पके अभावसे ही है।

इसी दर्शनमें न्याय कसौटीके सिद्धान्तपर यह भी माना गया है कि आत्मा अनादि सिद्ध है और आत्मा व शरीरका सम्बन्ध भी अनादि सिद्ध है। यह आत्मा एक शरीरको छोड़ता है और अन्य शरीरको ग्रहण करता है, यही इसका जन्म मरण कहा जाता है। आत्मा शरीर मन व इन्द्रियोंसे भिन्न है, इसको युक्तिबलसे भी सिद्ध किया गया है—(१) एक ही अर्थका ग्रहण दर्शन व स्पर्शन आदिसे होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता आत्मा एक स्वतन्त्र है। यदि इन्द्रियां ही द्रष्टा, ज्ञाता होतीं तो एक इन्द्रियसे ग्रहण किये गये अर्थका दूसरे इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता, क्योंकि अन्यपुरुषके द्वारा दृष्ट अर्थका और अन्य पुरुष स्मरण नहीं कर सकता। इन्द्रियोंके द्वारा प्रतिनयत अर्थके अवगमकी व्यवस्था भी आत्माकी सिद्धि ही करती है कि कोई स्वतन्त्र गृहीता है जो इन्द्रियोंके द्वारा नियत नियत अर्थको ग्रहण करता है। इस प्रकार यह आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न ही है। (२) आत्मा देहसे भी भिन्न है क्योंकि मृत देहको जलानेसे उस आत्माके वधका पाप नहीं लगता। यहां प्रश्न यह हो सकता है कि आत्मा तो नित्य माना गया है फिर जीवित शरीरके जलानेमें भी पाप नहीं लगना चाहिये, इसका समाधान है कि आत्माके वधका नाम हिंसा नहीं, किन्तु कार्याश्रय शरीरके उपघातसे एवं उपभोगके कारणभूत इन्द्रियोंके उपघातसे हिंसा मानी गई है अर्थात् शरीर व इन्द्रियके प्रबन्धके उच्छेदका नाम हिंसा है। (३) आत्मा मनसे भिन्न है, क्योंकि आत्मा मन्ता (ज्ञाता) है और मन मति (जानने) का साधन है। यदि मनको ही आत्मा कहो तो मतिसाधन कुछ और मानना पड़ेगा। इस तरह मन्ता और मतिसाधन दो तो मानना ही पड़ेंगे। अब नाम जो चाहे रख लो; केवल संज्ञाभेदकी ही बात रहो।

उक्त १६ पदार्थोंका सामान्य निर्देशन इस प्रकार है—(१) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द—ये चार प्रमाण हैं। (२) आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग— ये १६ प्रमेय है। (३) समान अनेक धर्मकी उपपत्ति होनेसे या विप्रतिपत्ति होनेसे या उपलब्धि व अनुपलब्धिकी अव्यवस्था होनेसे विशेषकी अपेक्षा रखनेवाले विमर्श को संशय कहते हैं। (४) जिस अर्थका उद्देश्य (अधिकार) करके प्रवृत्तिकी

जाती है उसे प्रयोजन कहते हैं। (५) लौकिक जन व परीक्षक पुरुषोंकी जिस अर्थमें बुद्धिकी समता होती है, उसे दृष्टान्त कहते हैं। (६) शास्त्रगत अर्थके प्रतिष्ठानको सिद्धान्त कहते है। ये ४ प्रकारके हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम (७) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय व निगमन—ये पांच अवयव हैं। (८) अज्ञातस्वरूप अर्थमें कारणकी उपपत्तिसे तत्त्वज्ञानके लिये किये गये विचारोंको तर्क कहते हैं। (६) पक्ष और प्रतिपक्षोंसे विचार करके अर्थके निश्चय करनेको निर्णय कहते हैं। (१०) पक्ष और प्रतिपक्षके अङ्गीकारको वाद कहते है। वादमें पक्षका प्रमाणसे स्थापन, प्रतिपक्षका तर्कसे निषेध व सिद्धान्तका अविरोध हो व वाद पञ्च अवयवोंसे युक्त हो। (११) जिस वादमें छल, जाति व निग्रहस्थानका उपयोग किया जाय वह जल्प है। (१२) जिसरे प्रतिपक्षकी स्थापना न हो ऐसे जल्पको वितण्डा कहते है। (१३) जो हेतुसा दीख पड़े, परन्तु हेतुके लक्षणसे रहित हो उसे हेत्वाभास कहते है। (१४) अर्थ बदल कर वचनका विघात करनेको छल कहते हैं। (१५) साधर्म्य और वैधर्म्यसे प्रत्यवस्थान करनेको जाति कहते है। (१६) अटपट उल्टी प्रतिपत्ति करना, दूसरेके पक्षका खण्डन न करना, अपने पक्षमें दिये गये दोषका समाधान न करना सो सब निग्रहस्थान हैं।

१३—निष्काम कर्मयोग दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षायें

फलकी चाह न रखकर सेवा, कार्य, उपकार करना सो निष्काम कर्मयोग है। निष्काम कर्मयोगकी महत्ताके प्रकरणमें इसे भक्तियोग और ज्ञानयोगसे भी अधिक महत्त्वशाली कहा गया है। यद्यपि दृष्टिबलसे भक्तियोग महान् है और उससे भी महान् ज्ञानयोग है तथापि निष्कामकर्मयोग मध्यममार्ग है तथा ज्ञान-योगसे पहिले निष्कामकर्मयोग किसी न किसी मात्रामें आया ही करता है, इस के बिना गति नहीं है प्रगतिके लिये, अतः निष्कामकर्मयोग भी एक सुन्दर अवस्था है।

इस जीवके अनादिसे प्रवृत्ति करनेकी प्रकृति चली आ रही है और प्रायशः

अशुभ उपयोगकी प्रवृत्तिकी प्रकृति चली आ रही है। ऐसी स्थितिमें प्रवृत्तिकी पद्धति ही अलौकिक ढंगमें बदली जावे यही एक सुगम मार्ग है कल्याणपथमें अग्रसर होनेके लिये। वह यही निष्कामकर्मयोग है।

कुछ लोगोंकी धारणा है कि ईश्वरने हमें उत्पन्न किया है व इस सारी दुनियाँको भी उत्पन्न किया है। यदि ईश्वरके बागकी सेवा फलकी अभिलाषा छोड़कर करेंगे तो ईश्वरका प्रसाद प्राप्त होगा, जिसके कारण मुझे मुक्ति मिलेगी। इसमें तथ्य क्या है ? इसको विवेकी लोग वस्तुस्वरूपके अध्ययनसे स्वयं विदित कर लेंगे, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इसमें भी मुक्ति और इसीके अर्थ ईश्वरकी प्रसन्नताकी अभिलाषा जरूर है। खैर ! 'जिस ज्ञानीने अपना व परका यथार्थ निरुपाधि सहजस्वरूप जान लिया है अतएव ज्ञाता रहता है, उस ज्ञानीके प्रवृत्तिके पूर्वसंस्कारवश कभी तक कभी कोई चेष्टा भी होती है, किन्तु ज्ञानमय भावके साथ कर्म होनेसे वह कर्म अन्य पुरुषोंको बाधकर नहीं होता प्रत्युत साधक होता है। इस प्रकार ज्ञानीके निष्काम कर्मयोग हो जाता है और यह ज्ञानी निष्काम कर्मयोगसे पूर्वकृतफलोपभोगसे निवृत्त होता हुआ ज्ञानयोगका प्रखर उद्यम कर लेता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर भी रागभाव अवशिष्ठ रहता तब तक उसके परिणाम स्वरूप कर्मयोग चलता है। इस तरह अन्तःप्रज्ञके अथवा अन्तरात्माके निष्काम कर्मयोग होता है। इसमें निष्कामता अंश तत्त्वज्ञानका परिणाम है और कर्मयोग रागादिभावका परिणाम है। निष्काम कर्मयोग तो ज्ञानियोंके होता है, परन्तु वह कर्तव्य है या होना पड़ता है, इस हलमें दो धारायें हो जाती हैं— कर्तव्य माननेपर तो प्रवृत्ति करना चाहिये, करते रहना चाहिये इस उपयोगके कारण स्वभावदृष्टिका अवसर नहीं मिलता और तत्त्वज्ञके निष्काम कर्मयोग होना पड़ता है, ऐसा माननेपर कर्मयोग करते हुए कर्मयोगमें भी उपेक्षा रहती है, जिससे निष्काम कर्मयोगमें ऐहिक सुखकी कामनाका अभाव तो था ही अब कर्मयोगकी कामनाका भी अभाव हो जाता है और परमनिष्कामता प्रकट होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कर्मयोगवृत्ति भी छूटकर परमज्ञानयोग हो जाता है, जिससे निर्वाण होता है। उक्त दोनों मान्यताओंका नाना जीवकी

अपेक्षा समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि तत्त्वज्ञ आत्माको तो कर्मयोग करना पड़ता है, उसकी भी निष्कामता है, ऐसी विशुद्धिमें उसके निष्कामकर्मयोग होता है, उसे देख कर अन्य जन महापुरुषोंकी प्रवृत्तिको कर्तव्य समझें तो फिर इस तरहका प्रचार यहां हो सकता है कि निष्कामकर्मयोग करना कर्तव्य है।

निष्काम कर्मयोग बहुत उत्तम व्यवहार है। इससे साधकके अन्तरङ्गमें व्याकुलता नहीं है, प्रत्युत उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणतिके सन्मुख होता जाता है। साथ ही निष्कामकर्मयोगीके निवास प्रदेशमें सेवा, सदाचार, शान्तिका वातावरण होजाता है जिससे नगरमें भी सुख समृद्धि होती है।

ज्ञानयोगसे मोक्ष होता है। ज्ञानयोगकी अपूर्णताके समय तक जो क्रियायें चलती हैं, उन कर्मोंमें उसके निष्कामता है। अतः ज्ञानीका निष्काम कर्मयोग संसार बन्धन नहीं कराता—यह तात्पर्य है। यदि ज्ञानयोगकी कुछ भी बात पुरुषमें न हो तो उसमें निष्कामकर्मयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञानदृष्टिके अभावमें निष्कामकर्मयोग बन सके तो उस निष्कामताका अर्थ कुछ नहीं लग सकता। एक जिज्ञासु प्रोफेसरने देहरादूनमें मुझसे पूछा कि निष्काम कर्मयोगसे मोक्ष होना गीतामें कहा है तो निष्काम कर्मयोग तो पागलके भी है, उसे मोक्ष क्यों नहीं होता? प्रश्न ऐसा पहिली बार ही सुननेमें आया था। मुझे उत्तर यही सूझा कि तत्त्वज्ञ पुरुषका जो निष्काम कर्मयोग है वह कामनारहित होनेसे संसार बन्धनका हेतु नहीं है, अतः इसमें भी मोक्षका हेतु ज्ञानयोग समझना। निष्काम कर्मयोग ज्ञानकी ही तारीफ करता है। ज्ञानयोगकी उपलब्धिसे पहिले ज्ञानीका कर्तव्य है कि वह अशुभोपयोगसे बचनेके लिये निष्काम कर्मयोग करे। निष्काम परिणमनसे किये हुए कर्मयोगसे बन्धन नहीं होता। यह सब निष्काम कर्मयोग की ही महिमा है कि आज भी मुक्तिमार्ग, शुभकार्य व परोपकारके निदर्शन यत्र तत्र मिल रहे हैं।

१४—मीमांसा दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

वेदविहित अनुष्ठानोंसे दुःखमुक्ति माननेवाले मीमांसक हैं, किन्तु ईश्वरको

सृष्टिकर्ता अथवा सर्वज्ञ नहीं मानते। यज्ञोंमें इनका विशेष विश्वास है और यज्ञों में की जाने वाली पशु आदिको हिंसाको हिंसा नहीं मानते। इनमें यदि मौलिक अर्थकी दृष्टिसे देखा जावे तो उन मंत्रोंका अर्थ पशु आदिकी हिंसा करना है ही नहीं, किन्तु जहां द्वयर्थक शब्द मिला उसमें धार्मिक एवं मौलिक अर्थको छोड़कर किसी ने विषयपोषक अर्थ ले लिया। यदि मौलिक अर्थ लगाकर देखें तो उनसे कुछ शिक्षायें प्राप्त होती हैं। जैसे अश्वमेधयज्ञमें भाव तो मनके संकल्प-विकल्पोंके अभाव करने का है, यहां अश्व नाम मनका है, जो आशु अर्थात् शीघ्र चले, किन्तु अश्वका यहां घोड़ा अर्थकर दिया जाय तो यह बात इच्छानुसारी होगई। "अजैर्यष्टव्यम्" में अज नाम पुरानी धान अथवा चावलका है, जो पैदा न हो सके "न जायते इति अजम्" सो पुरानी धान अथवा चावलसे यज्ञ करे, यह अर्थ ध्वनित होता है, किन्तु कोई यहां अजका अर्थ बकरा लगा दे तो यह बात इच्छानुसारी होगई। यदि हिंसापरक अर्थको बिलकुल न छुए और फिर देखें तो इस दर्शनमें मुख्यता पूजा व क्रियाकाण्डकी है। पूजा व धार्मिक क्रियाकाण्डसे उपयोग विषयकषायोंसे बचता है। यह तो आत्माको लाभकी ही बात रही, किन्तु इसके साथ वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान भी चाहिये।

मीमांसकदर्शन वेदोल्लिखित क्रियाकाण्डोंकी ही मुख्यता मानता है और इस विषयमें वेद प्रमाण ही हैं। इसको सिद्ध करनेके लिये वेदको अपौरुषेय कहते है और वेदको अपौरुषेय व पूर्ण प्रमाण सिद्ध करनेके लिये सर्वज्ञका नास्तित्व मानते हैं। यह सब पूजानुष्ठानकी मुख्यता करनेके लिये प्रयास है। इसमें इष्टसिद्धि क्या है ? यह तो विवेकीपुरुष दर्शनोंका आलोडन करके स्वयं विज्ञात कर सकते हैं। जब वेदोंका अध्यात्मपरक अर्थ होने लगा था, तब जैमिनि ऋषि ने पूर्वपरम्पराके अनुसार अर्थ प्रचलन किया, भाष्यादि बनाये, जिनमें क्रिया, यज्ञों आदिका खूब निर्देशन किया। इसी कालसे वेदकी दो प्रकारकी मीमांसा कहलाने लगीं-(१) पूर्वमीमांसा, (२) उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसामें मीमांसक सिद्धान्त आ जाता है। ये वेदको ईश्वरकृत मानते हुए भी ईश्वरको सर्वज्ञ नहीं करते, किन्तु धर्मज्ञ स्वीकार करते हैं। इसका कारण तो यह प्रतीत

होता है कि सर्वज्ञता मानने पर उस ज्ञानतत्त्वकी महिमा वेदसे अधिक हो जाती है, किन्तु इष्ट यह था कि यह प्रतीति लोगोंको रहे कि वेदकी ही सर्वोपरि प्रामाणिकता है।

वेदकी पूर्व मीमांसा मीमांसकदर्शनमें आती है। इसमें यज्ञोंका विशेष-विधान है। इसमें भी दो मत मीमांसकोंके चल रहे हैं। एक मतसे तो पशुयाग उनके वाच रूपमें है, किन्तु दूसरे मतसे हिंसाका बिलकुल निषेध है, केवल समिधों (काष्ठ आदि अचित्त सागग्रीसे) होमका विधान है। यज्ञ करानेका प्रयोजन मुख्य यह भी दरशाया है कि यज्ञकी ज्वालाकी उष्णता व धूम आदिके अणु सूर्यरश्मियों को तीक्ष्ण करते हैं जिनके कारण सागरादिका जल खिचता है, बादल बनता है, फिर वृष्टि होती है, जिससे धान्यकी वृद्धि होती है, जिसके उपभोगसे प्रजा सुखी रहती है। इस यज्ञमें परमात्मा व देवताकी स्तुतियाँ, जाप भी चलते हैं, क्योंकि बिना धार्मिकरूपके स्थिरता व प्रवाह नहीं बनता। इन यज्ञोंके साथ जो गोयाग, अश्वयाग वगैरह बताया उसका अर्थ सिर्फ दान है। यज्ञके समय प्रजाजनों या योग्य पुरुषोंको आवश्यक वस्तु प्रदान करना भी धर्मका अङ्ग माना है, उसमें हिंसाका अर्थ जरा भी नहीं लगाना।

विवेकशील मानव भी यह कभी नहीं सोच सकता कि किसी भी प्रकार की हिंसामें धर्म हो सकता है। वध तो अधर्म ही है, फिर कोई भी ऋषि हों वे कैसे हिंसाका विधान कर सकते हैं। यदि किसी समय हिंसाको धर्मका अङ्ग किसीने बताया हो तो यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि मांसभक्षणकी विषय-वासनाने यह रूपक बना दिया होगा।

स्वर्गकामनाकी बात विशेषतया यहाँ आती है, इस सम्बन्धमें भी दो अभिप्राय है—मीमांसकोंके एक मतसे स्वर्ग कोई स्थान विशेष है, जिसमें जीव मरण करके जन्म लेते हैं और इष्ट सुख भोगते हैं। दूसरे मतसे स्वर्ग कोई चीज नहीं, प्रीतिका नाम ही स्वर्ग है। बड़े प्रेम व आराम वाले जीवनको स्वर्ग कहते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत्' ऐसा अन्तमें कह कह कर अनेक यज्ञोंका विधान बताया है। इन सब बातोंका लोग अध्यात्मपद्धतिसे अर्थ करते हैं तो अर्थकारों को भी प्रसन्नता होती है, पाठकोंको भी प्रसन्नता होती है तथा अध्यात्मपरक

साहित्यसे ग्रन्थकर्ताका महत्त्व स्थापित होता है। तब यह बात सुपरिचित हो जाती है कि अध्यात्मभाव ही महान् है, धर्म है, शरण है।

१५—अद्वैत दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

जिस दर्शनमें मात्र एक की ही सिद्धिकी हो, दूसरा कुछ भी सत् न माना हो, उसे अद्वैतदर्शन कहते हैं। अद्वैत दर्शनोंमें कई प्रकारके अद्वैत दर्शन हैं। जैसे ब्रह्माद्वैतदर्शन (जिसका कि वर्णन आगे वेदान्त दर्शनके प्रकरणमें किया जायगा) ज्ञानाद्वैत दर्शन, शब्दाद्वैत दर्शन, चित्राद्वैत दर्शन, शून्याद्वैत दर्शन आदि। इन अद्वैत दर्शनोंकी निष्पत्तिके विशद बोधके लिये एक ऐसी निम्नांकित धारणा बनानेको चलें, जिससे इन अद्वैत दर्शनोंका स्वरूप संक्षेपमें ही सम्यक् समझ लिया जावे—मानों एक वनमें ऋषियोंकी सभा हो रही थी। वहाँ तत्त्वका सर्वतोमुखी वर्णन हो रहा था। उस वर्णनको सुनकर जब कि किसी एक ही वाच्य पर वस्तुके अवक्तव्य स्वरूप होनेके कारण टिकाव नहीं हो रहा था। किसी अभिप्राय में यह बैठा कि "बात तो यह है कि शून्यमात्र तत्त्व है, जो कुछ मालूम होता है वह भ्रम है। इस तरह शून्याद्वैत विश्वस्त हुआ। यद्यपि यह तत्त्व सम्यक् बैठता नहीं है, क्योंकि यदि कुछ नहीं है तो कहनेवाला व कहा हुआ प्रमाण वगैरह भी कुछ नहीं है और सर्वथा असत्मे भ्रम भी कैसे हो सकता है, तथापि शून्याद्वैतवादसे यह बात प्रकट होती है कि वस्तुके शुद्ध, निरपेक्ष, सहज, निरुपाधि, अनुपचरित स्वरूपको देखा जाय तो वहाँ पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अथवा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि कुछ प्रतीत नहीं होता सो वह परमार्थ तत्त्व इन सब भेदोंसे शून्य है, ऐसे उस शून्यतत्त्वकी प्रतीतिसे विकल्प दूर हो जाते हैं।

पश्चात् उसी अभिप्रायको यह भी जंच सकता है कि वह तत्त्व सर्वथा शून्य नहीं है, क्योंकि और कुछ नहीं शून्य ही सही, शून्य तो प्रतिभासित हो रहा है, अतः शून्याद्वैत तो नहीं, किन्तु प्रतिभासाद्वैत तत्त्व है। पश्चात् इसी अभिप्रायको आगे यह भी जंच सकता है कि प्रतिभास भी तो अत्यन्त

छितरा-बितरा कुछ चीज नही सो प्रतिभासैकत्वाद्वैत तत्त्व है, प्रतीत हुआ। पश्चात् इसी अभिप्रायको आगे यह जंच सकता है कि वह प्रतिभासैकत्व अत्यन्त निःस्वरूप कैसे हो सकता है ? वह तो सत्स्वरूप है सो ज्ञानाद्वैत रूप मालूम पड़ा। उसी अभिप्रायमें आगे यह जिज्ञासा हो सकती है कि ज्ञानाद्वैत तत्त्व भी तो अत्यन्त निराधार कैसे हो सकता है ? इसके समाधानमें ब्रह्माद्वैत प्रतीत हुआ। इस ही अभिप्रायको आगे यह भी प्रतीति हो सकती है कि यह प्रतिभास अद्वैत भी तो अन्तर्जल्पको लिये हुए है और जिसके परिणाममें मायास्वरूप बहिर्जल्प भी हो जाता है। अतः यह तो शब्दाद्वैत है। इस अभिप्रायको यह भी जंच सकता है आगे कि यह सब अद्वैत तो है, किन्तु चित्रविचित्र प्रतिभासभावको लिये हुए है, अतः चित्राद्वैत है।

अद्वैत दर्शनका प्रयोजन यह है कि केवल एक ही तत्त्व उपयोगगत रहे, जिससे रागादि विभावोंका प्रसार न हो सके। देखिये यह प्रयोजन प्रत्येक अद्वैत बुद्धिमें किस तरह होता है ? लोकमें समस्त पदार्थ अनन्तानन्त हैं, उनमें प्रत्येक पदार्थ अपना अपना स्वरूपास्तित्व लिये हुए है, जिससे कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न अधिकारी है और न किसी प्रकारका सम्बन्धी है। प्रत्येक अपने आपमें अद्वैत है। जहां ऐसा स्वतंत्र अद्वैत स्वरूपास्तित्व देखा कि मोह, राग, द्वेषको ठहरनेका अवसर ही नहीं मिलता। अब यदि समस्त स्वरूपास्तित्वोंको केवल अस्तित्वस्वरूपकी दृष्टिसे देखें तो इसमें तो वे स्वतन्त्र स्वतंत्र भेद भी लुप्त हो जाते हैं, चेतन अचेतन भेद तो वहां ठहर ही नही सकते। इस तरह इस महासत्ताकी दृष्टिमें सामान्य, अद्वैत, निर्विकल्प, अभेद प्रतिभास होता है, जिससे मोह, राग, द्वेषको ठहरनेका साहस भी नहीं हो सकता है।

वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करनेपर ज्ञानकी सभी कलाओंसे लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है। किसी भी पदार्थमें किसी भी अन्यपदार्थका स्वरूप नहीं मिल सकता। सब स्वस्वद्रव्य क्षेत्रकालभावात्मक ही हैं। अब उन सब अद्वैतस्वरूप पदार्थोंको सादृश्य धर्मद्वारसे देखो तो वे सब उस दृष्टिमें परस्पर

गर्भित हो जाते हैं और ऐसे गर्भित हो जाते हैं कि मानो निष्पीत हो चुके। अब यहाँ प्रत्येक भिन्न भिन्न सत् नहीं रहा। यदि सब चेतनोंको सादृश्यधर्म (चैतन्यस्वभाव) द्वारसे देखो तो वह सब एक ब्रह्म है। यदि चेतन अचेतन सब पदार्थोंको सादृश्यधर्म (अस्तित्वस्वभाव) द्वारसे देखो तो सारा विश्व एक सत् है, इसे ब्रह्म, ईश्वर, सत् आदि किसी शब्दसे कहो। इस तरह अद्वैतकी कक्षायें अनेक हैं। जिस दृष्टिसे देखो उसी दृष्टिसे अद्वैत प्रतिभास होता है। अद्वैतवादका सर्वत्र उद्देश्य विकल्पोंका विलय कर लेना है।

१५–वैशेषिक दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

जो विशेष अर्थात् भेद भेद करके पदार्थका स्वरूप माने उसे वैशेषिक कहते हैं। वैशेषिकोंके कहे हुए सिद्धान्तको वैशेषिक दर्शन कहते हैं। इनका मुख्य सिद्धान्त है कि पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे निश्रेयस अर्थात् कल्याण (मोक्ष) होता है।

पदार्थ ६ प्रकारके कहे हैं–(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय। दो पदार्थ और भी कहे हैं जिनके नाम हैं–सत्ता व अभाव। जो गुणवान् व क्रिया (कर्म) वान हो तथा समवायि (उपादान) कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्याश्रय हों, निर्गुण (गुणरहित) हों, संयोग व विभागोंमें कारण न हों एवं अनपेक्ष हों (कोई गुण किसी दूसरे गुणकी अपेक्षा न करने वाला हो) उन्हें गुण कहते हैं। जो एक ही द्रव्यके आश्रय रहे, गुणरहित हो, संयोग व विभागोंमें अपेक्षारहित (उदासीन) कारण हो उसे कर्म कहते हैं। जो समान वृत्तिके ज्ञानका कारण हो उसे सामान्य कहते हैं। जो पृथक् वृत्तिके ज्ञानका कारण हो उसे विशेष कहते हैं। अभिन्न सम्बन्धको सामवाय कहते हैं। जिससे द्रव्य, गुण; कर्मोंमें "है" यह बोध हो, उसे सत्ता कहते हैं। असद्भाव अथवा तुच्छाभावको अभाव कहते हैं।

द्रव्य ९ कहे गये हैं— (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा, (९) मन। पृथ्वी २

प्रकार की है— मिट्टी, पत्थर, स्थावर (तृण, औषधि, पेड़ वगैरह) शेष सब सुगम है।

गुण २४ कहे गये हैं— (१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) बुद्धि, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) इच्छा, (१६) द्वेष, (१७) प्रयत्न, (१८) गुरुत्व, (१९) द्रवत्व, (२०) स्नेह, (२१) संस्कार, (२२) धर्म, (२३) अधर्म, (२४) शब्द। इन गुणोंमें से यथासम्भव सख्यामे अनेकों गुण द्रव्यमें पाये जाते हैं। जो गुण स्वभावतः पाये जाते हैं वे स्वाभाविक गुण हैं और किसी निमित्तको पाकर जो गुण हो जाते है वे नैमित्तिक गुण कहलाते है।

कर्म ५ प्रकारके होते है— (१) उत्क्षेपण, (ऊपरको चेष्टा करना), (२) अवक्षेपण (नीचेको चेष्टा करना), (३) आकुञ्चन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना), (५) गमन— गमनमें जाना, आना, भ्रमण, बहना, सरकना आदि चेष्टामें गर्भित हैं।

सामान्य दो प्रकारका होता है— (१) परसामान्य, (२) अपरसामान्य। परसामान्य अधिक विषयवाला है, इस लिये वह सामान्य ही है। अपरसामान्य अनुवृत्ति (समान होनेकी वृत्ति) व व्यावृत्ति (भेद होने की वृत्ति) दोनोंका हेतु होनेसे सामान्य होता है व विशेष भी होता है।

उक्त गुण व कर्मोंमें साधर्म्य भी है और वैधर्म्य भी है अर्थात् अनेकों पदार्थोंमें पाये भी जाते है और अनेकोंमें नहीं पाये जाते है, किन्तु उन सबसे अतिरिक्त ३ धर्म अन्य ऐसे हैं जिनका कि छहों पदार्थोंमें साधर्म्य है, वे है— (१) अस्तित्व, (२) ज्ञेयत्व, (३) अभिधेयत्व।

अब द्रव्योंमें गुणोंकी प्ररूपणा की जाती है— (१) पृथ्वीमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व व संस्कार नामक गुण होते है। पृथ्वी द्रव्य २ प्रकारका है– एक कारण-रूप दूसरा कार्यरूप। कारणरूप पृथ्वी नित्य है व कार्यरूप पृथ्वी अनित्य है। (२) जलमें रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग,

परत्व, अपरत्व, गुरुत्व व संस्कार नामक गुण होते हैं। जलद्रव्य भी दो प्रकार का है— कारणरूप तो नित्य है व कार्यरूप अनित्य है। (३) तेजोद्रव्यमें रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व व संस्कार नामक गुण होते हैं। यह भी दो प्रकारका है— कारणरूप तो नित्य है व कार्यरूप अनित्य है। (४) वायुमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कार नामक गुण होते हैं। यह भी दो प्रकारका है— कारण रूप वायु तो नित्य है व कार्यरूप वायु अनित्य है। (५) आकाशमें शब्द, संख्या, परिमाण, (महत्परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, एकत्व व नित्यत्व गुण होते हैं। (६) कालमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, एकत्व गुण होते हैं। (७) दिशामें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग गुण होते हैं। (८) आत्मामें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण (महत्परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग नामक गुण होते हैं। आत्मा अवस्था भेदसे नाना है। (९) मन द्रव्यमें संख्या, परिमाण (अणु-परिमाण) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व व संस्कार गुण होते हैं। मन मूर्त है, किन्तु द्रव्यका आरम्भक नहीं।

उक्त पदार्थोंमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, व विशेष— ये ५ प्रकारके पदार्थ समवायी व अनेक हैं; गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय— ये ५ निर्गुण व निष्क्रिय हैं। इन सब पदार्थोंमें से द्रव्य, गुण, कर्म— इन तीन प्रकारके पदार्थोंमें तो सत्ताका सम्बन्ध है, किन्तु सामान्य, विशेष व समवाय इनमें सत्ताका सम्बन्ध नहीं है, केवल बुद्धिगम्य है।

वैज्ञानिक पद्धतिसे देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि वास्तविक सत् तो द्रव्य ही है। सामान्य विशेष, समवाय तो बुद्धिगम्य ही हैं; द्रव्यमें इन्हें निरखा जाता है और गुण कर्म भी निर्गुण व निष्क्रिय होनेके कारण द्रव्यकी ही शक्तियाँ व परिणतियाँ हैं द्रव्यसे पृथक् पदार्थ नहीं। स्वरूपकी दृष्टिसे ही गुण, कर्म आदि पृथक् प्रतीत होते हैं। भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे द्रव्यको देखने पर द्रव्यमें गुण, कर्म, सामान्य, विशेष प्रतीत होते हैं, समवाय तो तादात्म्यका नाम है। नव प्रकारके पदार्थोंमें द्रव्योंमें भी जातिकी अपेक्षा ४ प्रकारके पदार्थ

(द्रव्य) ज्ञात होते—हैं एक तो भौतिक जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु अन्तर्गत हैं क्योंकि पृथ्वी अग्नि बन जाती है, वायु जल बन जाता है इत्यादि परस्पर परिवर्तन देखे जाते है। इसी कारण इन चारोंमें रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण रहते है। पर्यायभेदसे किसीमें कोई गुण व्यक्त है, कोई गुण अव्यक्त है; किसीमें कोई गुण व्यक्त है, किसीमें कोई गुण अव्यक्त है। पदार्थ आत्मा व तीसरा आकाश व चौथा काल। दिशा आकाश प्रदेशोंकी संकल्पना है। मन मूर्त है वह भी भौतिक है। हाँ विशेष दृष्टिसे अनन्त गुण कर्म आदि का ज्ञान बिलकुल ठीक है।)

वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य गुण कर्म आदिके भिन्न भिन्न माननेकी मान्यता है। वह इस शिक्षाके लिये है कि गुण कर्म आदि भेद दृष्टि हटकर नित्य, उपादान कारणभूत, मूल तत्त्वमय द्रव्यका परिचय हो जाय, जिस परिचयके फलमें सत्य आनन्दके साधकतम निर्विकल्पसमाधिकी प्राप्ति होती है।

प्रत्येक द्रव्य स्वतः सत् है (१), वह अनन्तशक्तिमय है (२), प्रतिसमय परिणमनशील है (३), शक्ति व परिणमनोंके स्वस्वलक्षणरूप भेद न करके अभेददृष्टिसे भी समझनेमे आता है (४), शक्ति व परिणमनोंके स्वस्वलक्षणरूप भेद करके भी समझनेमें आता है (५), वह द्रव्य शक्तियोंसे तो त्रिकाल तन्मय है और पर्यायकालमें पर्यायसे तन्मय है (६), एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें भाव (सत्त्व) नहीं है तथा द्रव्यमें विवक्षित परिणमनका पूर्व व उत्तरकालमें भाव नहीं है (७)। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें ये सातों तत्त्व पाये जाते हैं जिन्हें क्रमशः द्रव्य (१), गुण (२), कर्म (३), सामान्य (४), विशेष (५), समवाय (६), और अभाव (७), इन शब्दों से कहा जाता है। इनमें केवल स्वस्वलक्षणमात्र भेद है वस्तुतः भेद नही। फिर भी भेदकी प्रधानता करके इन्हें स्वतन्त्र स्वतन्त्र दिखानेका प्रयोजन बुद्धिको बाह्य पदार्थमें किसीमें भी न टिकने देना है, जिससे कि राग द्वेष दूर हों, किन्तु साथ ही वह ध्रुव स्वरूप भी प्रतीत होना चाहिये जो निजसे कभी बिछुडता नहीं है ताकि उसमें उपयोग टिक जाय। अन्यथा न टिकने से तो उपयोग इतस्ततः भटकता ही रहेगा। वह ध्रुव निज स्वरूप है अभेद चैतन्यस्वभाव।

विशेषवाद और अद्वैतवाद दोनों परस्पर सप्रतिपक्ष हैं। फिर भी इनका समन्वय उपाय उपेय तत्त्वमें हो सकता है। विशेषवाद द्वारा सूक्ष्मसे सूक्ष्म तत्त्व की जानकारी करना और फिर समवायी निराश्रय द्रव्यके सब विलास जानकर अभेद द्वारसे अद्वैतस्वरूपकी ओर उन्मुख होना। यह शिक्षा इस समन्वयमें प्राप्त होती है। स्याद्वादपद्धतिसे विशेषवादका उपयोग भी आत्महितसाधक है।

---

१७ सांख्यदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षायें

सांख्यदर्शनमें आत्माको सर्वथा अविकारी माना है। यह सारा जो कुछ अन्तरङ्ग बहिरङ्ग जाल है वह सब प्रकृतिका विकार है। प्रकृति सत्त्व, रज व तम गुणवाली है। प्रकृतिसे सब जाल उठता है और प्रलयकालमें सब जाल क्रमसे एक दूसरेमे विलीन हो जाता है और अन्तमें प्रकृति ही रह जाती है। प्रकृतिसे महान् (बुद्धि), उत्पन्न होता है, महान्से अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कारसे पांच बुद्धीन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्रा अर्थात् गन्ध रस वर्ण स्पर्श शब्द तथा एक मन—इस प्रकार यह षोडशक उत्पन्न होता है और पांच तन्मात्राओंसे पांचभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश होता है। जब जगत्का प्रलयकाल आता है तब पृथ्वी गन्धादिमें, जल रसादिमें, अग्नि वर्णादिमें, वायु स्पर्शादिमें, आकाश शब्दमें अनुप्रविष्ट हो जाता है। फिर ये पांच तन्मात्रा, पांच बुद्धीन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, एक मन—इस तरह यह षोडशक अहङ्कारमें अन्तर्भूत होता है। अहङ्कार महान्में अन्तर्भूत होता है, महान् प्रकृतिमें अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार प्रलय होनेपर प्रकृति व पुरुष (आत्मा) ये दो तत्त्व रह जाते हैं। फिर समय पाकर रचना-विकार होने लगता है। यहां विशेष यह कहा गया है कि प्रकृति तो इन जालोंको करती है और इन जालोंका फल अथवा विषय पुरुष (आत्मा) के द्वारा भोगा जाता है। इस भोग के मिटा देनेका नाम मुक्ति है। पुरुष तो मात्र चैतन्य स्वरूप है और वह चैतन्य ज्ञानसे रहित है।

उक्त दर्शनमें तथ्य क्या है? यह बात तो इन्द्रियोंकी विशेष विशदता करके

दार्शनिक विद्वान् स्वयं निर्णय कर लें। इस दर्शनसे जो मुख्य शिक्षा मिलती है वह यह है कि हे आत्माओ ! अपने शुद्ध स्वरूपको निरखो, वह अपरिणामी है, अनाद्यनन्त है, चैतन्यस्वरूप है, अविकारी है। इस सहज स्वरूपके अवलोकन व आश्रयसे विकार परिणमन मिटता है।

यह स्वरूप वह है जिसे जैनदर्शनने सामान्य—विशेष-चेतनात्मक आत्मामें द्रव्यदृष्टि अथवा निश्चयदृष्टिसे दिखाया है, किन्तु जैनदर्शनने साथमें यह भी बताया है कि चूंकि आत्मा भी एक वस्तु है। अतः वह भी परिणमन शील है और परिणम परिणम कर भी अनाद्यनन्त ध्रुव है। इसके विकार परिणमनमें प्रकृति (कर्म) निमित्त है। यदि प्रकृति का उदय न हो तो विकार नहीं हो सकता। अतः व्यवहारमें प्रकृति विकारका कर्ता है। उस विकारके भोगनेका व्यवहार प्रकृतिमें नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रकृति अचेतन है। अतः आत्मा उस विकारका भोक्ता है। कर्ता-भोक्तापनकी बात जो सांख्यदर्शनमें कही है कि प्रकृति तत्त्व कर्ता है और आत्मा भोक्ता है, वह इस प्रकारकी दृष्टिसे ठीक बैठ जाता है। इस प्रकरणसे भी यह शिक्षा मिलती है कि हे आत्मन् ! विकारका तू कर्ता नहीं है। अतः विकारका अहङ्कार मत कर तू, तो अपने शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति कर। जब तक अपने शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति नहीं करेगा तब तक तू विकारका भोक्ता रहेगा।

एक यह प्रश्न होनेपर कि जब पुरुष (आत्मा) नित्य, अपरिणामी है, अविकारी है तो सुख दुःख भोगनेका विकार इसमें (पुरुषमें) कैसे आ सकता है? इसके उत्तरमें सांख्य सिद्धान्तमें कहा गया है कि "बुद्ध्यवसितमर्थं चेतयते" अर्थात् पुरुष तो बुद्धिके द्वारा पेश किये गये अर्थको चेतता है। यही पुरुषका भोग है।

पहिले न चेतना, पीछे चेतना, फिर उसका वह चेतना भी खतम होकर फिर अन्य बुद्ध्यवसित अर्थको चेतने लगना है, इस तरह तो चेतनेके परिणमन भी तो नये नये होते जाते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्ततोगत्वा उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक पदार्थका स्वरूप प्रतिभास होता ही है, किन्तु उत्पादव्यय अंशकी दृष्टिमें मुमुक्षुके निश्चलता प्रकट नहीं होती है और ध्रुव तत्त्वकी दृष्टिसे

निश्चलता प्रकट होती है। अतः कल्याण साधनाके अर्थ अध्यात्मशास्त्रमें ध्रुव-स्वभावकी मुख्यता की गई और उसकी उपासनाका उपदेश दिया गया। एककी मुख्यता होनेपर अन्य तो गौण हो ही जाता है। यहाँ यह उत्पाद व्यय गौण होते होते निषेध्य बन गया और अपरिणामित्व ही पुरुषके स्वरूपमें प्रतिभात रह गया।

एक यह प्रश्न होनेपर कि पुरुषके भोगका रोग क्यों लगा और नाना यह संसरण क्यों हुआ तो इसके उत्तरमें इस सिद्धान्तमें यह समाधान है कि जब तक प्रकृति व पुरुषका अविवेक है तब तक यह जंजाल है, प्रकृति पुरुषका विवेक जजालसे छुडा देता है। यहां यह विचारना है कि प्रकृति पुरुषका अविवेक किसे लगा? जिसे लगा हो वही भोक्ता हो, वही संसरण करे और अविवेकको छोड़कर वही निराकुल आनन्दमय हो और मुक्त हो। यहाँ भी अविवेक तो विकार है, उसका व्यय व विवेकका उत्पाद तथा जिसका विवेकपरिणमन संभव है, उसका ध्रौव्य रहा, इस तरह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तुस्वरूप हुआ। ऐसा होते हुए भी उत्पादव्ययके अंशकी दृष्टिमें परमविवेक अथवा सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता, किन्तु ध्रुव चैतन्यस्वभावके आश्रयसे ही परमविवेक अथवा परम-विशुद्धि अथवा सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अतः दृष्टिमें यह आना चाहिये कि पुरुषका स्वरूप ध्रुव चैतन्यस्वभाव है।

इस सिद्धान्तसे यह शिक्षा मिलती है कि हे मुमुक्ष आत्माओं! अन्य कौतूहलोंसे कल्याणकी सिद्धि नहीं होती, एक निज ध्रुव चैतन्यस्वभावकी अभेद उपासना करो। इससे समस्त संकट निर्मूल हो सकते हैं। यह जगजाल प्रकृति और प्रकृतिके परिवारको अपना स्वरूप और वैभव समझ लेनेके परिणाममें उत्पन्न हुआ है। प्रकृति और प्रकृतिके परिवारसे पृथक् चैतन्यमात्र पुरुषका आश्रय करनेसे यह जगजाल सब विलीन हो जाता है।

लोग पर्वत नदी समुद्र आदिके दृश्योंको देखकर कहा करते हैं कि यह प्रकृतिका ठाठ है, प्रकृतिका खेल है, प्रकृतिका सौन्दर्य है। यह सब क्या है? प्रकृति व पुरुषके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ चित्र विचित्र जगजाल है। पेड़, पानी, पर्वत आदि भी तो पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्धका परिणाम है, किन्तु इनमें

प्रकृति ही मूर्त है पुरुष मूर्त नहीं और दृश्यमान ठाठ भी मूर्त है तथा इसको येन केन प्रकारेण परम्परया आंशिक उपादानरूपता भी है, अतः यह सब दृश्यमान ठाठ प्रकृतिका ठाठ कहलाता है। प्रकृति और प्रकृतिके परिवार (ठाठ) में मुग्ध मत होओ, अपने पुरुषस्वरूपको देखो। यही सकल विकट संकट कण्टकोंसे पार होनेका उपाय है।

१८—बौद्धदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

गौतमबुद्ध द्वारा प्रचारित दर्शनको बौद्धदर्शन कहते हैं। इस दर्शनका मुख्य सिद्धान्त है कि आत्मबुद्धि (मैं आत्मा हूं इस बुद्धि) से दुःख होता है जन्म-मरणकी परम्परा बढ़ती है। सच्चा ज्ञान वे यही बताते हैं कि यह समझ आ जाय कि न मैं आत्मा हूं और न भूत, कोई तत्त्व हूं। फिर भी चार्वाक की तरह भौतिकपना भी नहीं है किन्तु चित्त (विचार) की वृत्तियोंका प्रवाह चलता है। संसारी लोग वे ही हैं जो इन चित्तवृत्तियोंको या चित्तवृत्तियोंकी संतानको आत्मा मान लेते हैं। ये अभौतिक अनात्मवादी कहलाते हैं।

बौद्ध दर्शनमें चार आर्यसत्य कहे गये हैं— (१) दुःख, (२) दुःखहेतु (दुःखसमुदय), (३) दुःखनिरोध, (४) दुःखनिरोधहेतु (दुःखनिरोधगामी मार्ग)।

(१) दुःख पांच उपादान स्कन्धरूप हैं— रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और और विज्ञान। पृथिवी, जल, अग्नि व वायु—ये रूप उपादान स्कन्ध हैं। संसारी-लोक इन रूपोंको तृष्णाका विषय बनाकर दुःखी होता है। वस्तुओं या विचारों के सम्पर्कमें आकर जो सुख, दुःखरूपमें अनुभव होता है उसे कहते हैं वेदना; यह दुःखमय है। वेदनाके पश्चात् संस्कारोंके कारण जो परिचय चलता है उसे संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) कहते हैं; ये परिचय भी दुःखका सम्बन्ध बढ़ाते हैं। रूप, वेदना, संज्ञाके संस्कार (अवधारण) होनेको संस्कार कहते है; यह भी दुःखरूप है। चेतना या मनको विज्ञान कहते हैं; यह भी दुःखरूप है। इन्ही सबके मेलसे बनने वाले जन्म, मरण, बुढ़ापा, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शोक आदि दुःख हैं।

(२) दुःखोंका हेतु तृष्णा है। ये तृष्णायें ३ प्रकारकी हैं— भोगतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा।

(३) तृष्णाके नाश होनेको दुःखनिरोध कहते हैं। तृष्णाके नाश होनेपर विषयोंका संग्रह रुक जाता है। विषयसंग्रह रुक जानेसे भवका निरोध हो जाता है। भवका निरोध होनेसे जन्मका निरोध होता है। जन्मके निरोध हो जानेसे बुढ़ापा, मरण, शोक, विषाद आदि सभी दुःखोंका निरोध (विनाश) हो जाता है।

(४) दुःखनिरोधहेतु आठ अङ्गरूप हैं— सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और समाधि।

(उक्त चारों तत्त्व ठीक है और इनके बारेमें सभीने आपने अपने शब्दोंमें वर्णन किया है; किन्तु चेतना जो कि दशारूप मानी गई है वह किसकी दशा है, वैज्ञानिक नियम है कि दशा किसी न किसी पदार्थकी होती है चाहे दशा यथार्थ हो या अयथार्थ। जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता, जो किसी रूपसे भी नहीं उसका उत्पाद नहीं होता, आखिर दीपनिर्वाणमें भी लौके परमाणु धुवाँ या अन्य रूपसे किसी न किसी सूक्ष्म रूपमे रहते अवश्य हैं। इस सिद्धान्तसे इतना तो सुनिश्चित है कि अशुद्ध विज्ञान क्षणिक है, दुःखरूप है, दुःखकारण है। इसके अभावसे दुःखनिरोध है, किन्तु शुद्ध विज्ञान जो कि निर्विकल्प है, विकल्पकोंको अपरिचित है वह अदुःखरूप है।

बुद्ध दर्शनमें सभी पदार्थ क्षणिक माने गये हैं याने प्रतीत्यसमुत्पन्न माने गये है, "एकके नष्ट होनेपर बिल्कुल ही नवीन दूसरा उत्पन्न होता है" ऐसा माना गया है, किन्तु इस क्षणिकवादका प्रयोग अर्थव्यवस्थामें, व्यापार-व्यवहारमें नहीं किया गया है। साथ ही अनेक दार्शनिक गम्भीर प्रश्नोंको अव्याकृत (अकथनीय) कहकर छोड़ दिया गया है।

सर्व पदार्थ क्षणस्थायी हैं, दूसरे समय नहीं ठहरते हैं, केवल समान अवस्थाके कारण नित्य दीखते है। (यह तत्त्व पर्यायदृष्टिसे देखनेपर बिल्कुल सत्य उतरता है)

बौद्ध दर्शनमें ध्रुव जीव तत्त्व भी कुछ नहीं है। जब प्रश्न होता है कि

चित्त वृत्तियोंके अतिरिक्त कोई ध्रुव तत्त्व नहीं है तो पुरानी चित्तवृत्तिकी बात नवीन चित्तवृत्तिको याद क्यों रहती है व देवदत्तकी चित्तवृत्तिकी बात यज्ञदत्तकी चित्तवृत्तिको क्यों याद नहीं रहती है व किसी भी चित्तवृत्तिको निर्वाण पथपर चलनेकी क्या आवश्यकता? वह तो होते ही नष्ट हो जाती है, फिर बला ही क्या रह गई? तो इन प्रश्नोंका उत्तर "सन्तान" शब्द से दिया जाता है।

क्षणिकवादका जन्म राग, तृष्णाके उच्छेद करनेके लिये हुआ है। सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, अतः किसमें प्रीति की जाय? प्रीति करनेवाला भी क्षणिक है, अतः क्यों प्रीति की जाय? बौद्ध दर्शनमें समस्त पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न माने गये जिसका भाव है कि प्रत्येक पदार्थ एकके विनाशके बाद उत्पन्न होते हैं। पदार्थ तो नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं और उनका एक सन्तानमें उत्पन्न होनेका नियम बना रहता याने मिट्टीमें मृत्पिण्ड, घट, कपाल आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, कपड़ा चटाई आदि अट्ट सट्ट पदार्थ उत्पन्न नहीं होते। इस नियमको प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। इस प्रकार एक प्रवाहमें चल रहे अनेक पदार्थोंमें सामान्यतत्त्व नहीं है और न अनेक जगह रखे हुए घटोंमें कोई एक घटत्व सामान्य नहीं है, इसी तरह सब पदार्थोंको जानना। फिर अनेक घटोंमें यह घट है यह घट है ऐसे अनुवृत्त प्रत्यय होनेका क्या कारण है? इसके उत्तरमें बौद्धदर्शनका मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ अन्यके अभावरूप हैं, इससे अयं घटः अयं घटः आदि अनुवृत्त प्रत्यय बन जाते, घट स्वयं किसी तत्त्वका सद्भाव नहीं है।

बौद्ध दर्शनमें चार सम्प्रदाय हैं— [१] माध्यमिक, [२] योगाचार, [३] सौत्रान्तिक, [४] वैभाषिक।

[१] माध्यमिक सर्वशून्यत्वको मानते हैं जिसका कारण वे कहते हैं कि यदि भावपदार्थ अपनेसे उत्पन्न होते हैं तो जो पहिलेसे है, इसकी उत्पत्तिका कोई अर्थ नहीं था। इस तरह तो कोई नवीन वस्तु उत्पन्न ही न हो सकेगी। यदि भाव पदार्थ अपनेसे भिन्न किसी वस्तुको उत्पन्न करता है तो किसी वस्तुसे कोई भी वस्तु उत्पन्न होने लगेगी, अनियम हो जायगा। यदि भाव पदार्थोंकी

उत्पत्ति अकारण मानी जाय तो सब जगह सब पदार्थ उत्पन्न होने लगे। इस तरह भावपदार्थोंकी उत्पत्ति ही नहीं बनती, फिर कार्य कारण आदि तो सब ही असंगत हैं। फिर भी जो सत्ता प्रतीत होती है वह सापेक्ष है, कर्ताकी अपेक्षासे कर्म, कर्मकी अपेक्षासे कर्ता आदि ज्ञात होते है। तत्त्व तो सर्वशून्यता ही है। भाव भी सापेक्ष है, अभाव भी सापेक्ष है। प्रतीत्यसमुत्पाद (अपेक्षोत्पाद) तो सर्वशून्यताको कहते हैं। बाह्य, आभ्यन्तर समस्त वस्तु शून्य ही हैं। (इस सिद्धान्तमें मोह, राग व द्वेष करनेको आश्रयभूत कोई भी वस्तु नहीं मिलती जो कि कल्याणके लिये किसी हद तक सहायक है)।

[२] योगाचार बाह्य पदार्थको तो सत्ताशून्य मानते हैं, किन्तु विज्ञान (चित्त) को सत्ताशून्य नहीं मानते। इसका कारण वे यह निर्दिष्ट करते हैं कि प्रत्यक्षता केवल विज्ञानोंकी ही होती है बाह्यपदार्थोंकी नहीं। बाह्य जगत् तो विज्ञानका परिणाम है। विज्ञान ही परमार्थ तत्त्व है, ज्ञाता (आत्मा), ज्ञेय (बाह्य पदार्थ) तो काल्पनिक हैं। ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् पृथक् वस्तु नहीं हैं वह सब विज्ञानका विवर्त है। इस विज्ञानाद्वैतवादसे बोधि (योग) का लाभ है। विज्ञान ही तत्त्व है, विज्ञानका स्वरूप बतानेके लिये ही बाह्य पदार्थकी उपचारसे व्यावहारिकता बताई जाती है। योगाचार सिद्धान्तको विज्ञानवाद भी कहा जाता है। (इसमें यह बात तो सत्य है कि प्रत्यक्षता अथवा वेदन विज्ञानका ही होता है, विज्ञानका विषयभूत होनेसे बाह्यपदार्थका ज्ञान करना उपचारसे कहा जाता है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि विज्ञान अथवा विज्ञानमयका बाह्यवस्तुओंसे सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टिसे मोहभावके विनाशका अवसर मिलता है)।

(३) सौत्रान्तिकके अभिप्रायसे बाह्यवस्तुका अभाव तो नहीं है, किन्तु बाह्य अर्थ प्रत्यक्षज्ञान द्वारा गम्य नहीं है, केवल अनुमान द्वारा गम्य है अर्थात् बाह्य पदार्थ अनुमेय हैं। इसका कारण यह दिखाया गया है कि पदार्थ तो क्षणिक है, इसलिये पदार्थ उत्पन्न होने के समय उसका प्रत्यक्ष नहीं और जब प्रत्यक्ष किया जाय तब वह पदार्थ नहीं, इससे प्रत्यक्ष प्रवाहको जानता है बाह्य वस्तुको नहीं। इतने मात्रसे, बाह्य वस्तुकी सत्ता न हो और वह केवल विज्ञानका विकार

हो ऐसा नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थ विषयक विज्ञानके समय "घटादि मैं हूँ" ऐसा बोध नहीं होता, किन्तु यह घटादिक है' ऐसा बोध होता है। यदि बाह्य वस्तु हमारे विज्ञानका विकार ही होता तो उस वस्तुके अनुभवके साथ उस वस्तु की बाह्यता अनुभूत न होती, लेकिन बाह्यता तो अनुभवमें आती है। इससे बाह्य वस्तुकी सत्ता अवश्य है। (इस सिद्धान्तसे यह दृष्टि बनती है कि पर्यायदृष्टिसे वस्तु क्षण-क्षणवर्ती है। जिससे हम प्रेम करना चाहते हैं वह तो प्रेमके कालमें नहीं है फिर प्रेम करना मूढ़ता है। इस कारण बाह्य वस्तुविषयक उपयोग न करके विश्राम लेना चाहिये)।

(४) वैभाषिकके अभिप्रायमें विज्ञान एवं बाह्य अर्थ सभी हैं और उनका प्रत्यक्ष भी होता है, लेकिन हैं सबके सब क्षणिक ही। इस अभिप्रायको सर्वास्तित्ववाद व बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद भी कहते हैं। यहां भी प्रयोजन इतना सिद्ध हो जाता है कि क्षणिक पर्यायोंमें अहंबुद्धि या ममबुद्धि न करो। बाह्यपदार्थकी सत्ता न माननेसे भी ममत्वबुद्धि न करनेकी ही बात लाई जा सकती थी, किन्तु बाह्यपदार्थकी सत्ता न माननेपर और बाह्यपदार्थको विज्ञानका विकार ही माननेपर यह दोष आता है कि वह विज्ञानविकार निराश्रय है तो विकारप्रवाह चलता ही रहना चाहिये। अतः बाह्यपदार्थकी सत्ता मानना आवश्यक हो गया। शिक्षा इससे यह ली जाती है कि सब क्षणिक हैं। अतः रागद्वेष करना व्यर्थ है।

पदार्थका विस्तृत वर्णन द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षायें लेकर ही हो सकता है, चाहे कोई इन अपेक्षाओंको जाने या न जाने, चाहे कोई इन अपेक्षाओंको लेकर किसी भी रूपमें बढ़ जावे। बौद्धदर्शनमें वस्तुस्वरूपका वर्णन भेद एकान्तके साथ इन चार दृष्टियोंसे इस प्रकार किया है कि वस्तु निरन्वय निरवयव क्षणिक स्वलक्षणमात्र है। बौद्धदर्शन सर्वथा भेदवादी है। अतः यह वस्तुको गुणपर्यायात्मक, प्रदेशात्मक, ध्रुव व स्वभावात्मक नहीं मानता है। ऐसा मानने तथा न माननेका उद्देश्य शून्यवादकी ओर ले जाकर निरहङ्कार बनानेका है।

१६-पातञ्जलियोगदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

इस दर्शनमें योगकी प्रमुखता है। अतः इस दर्शनका नाम योगदर्शन भी है। योग चित्तवृत्तियोंके निरोधको कहते हैं। जब पूर्णरूपसे चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब आत्माकी अपने चैतन्यस्वरूपमें स्थिति हो जाती है अर्थात् वह आत्मा कैवल्य अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। चित्तकी वृत्तियां ५ प्रकारकी होती हैं—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति। ये पांचों वृत्तियां जब भोगादिविषयक होती हैं तब क्लिष्ट चित्तवृत्तियां कहलाती हैं और जब ये वृत्तियां वैराग्यभावमें सहायक होती हैं तब ये अक्लिष्टवृत्तियां कहलाती हैं। इसलिये यह योगमार्ग बताया है कि अक्लिष्ट वृत्तियोंसे तो क्लेशवृत्तियां रोके, फिर अक्लिष्ट वृत्तियोंका भी निरोध करके योग सिद्ध करे।

प्रश्न—विपर्यय व निद्रा अक्लिष्ट वृत्ति (योगसहायक) कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैसे भोग्य पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरता देखकर उन्हें सर्वथा मिथ्या मान लेना भी विपर्यय है, किन्तु इस विपर्ययके वैराग्यमें उत्साह ही प्रकट होता है। तथैव जिस निद्रासे जगनेपर मन व इन्द्रियोंमें सात्त्विक भाव भर जाता है वह योगसाधनमें उपयोगी है।

चित्तवृत्तिके निरोधके उपाय क्या क्या हैं इस विषयको देखें—(१) अपर वैराग्य, (२) अभ्यास, (३) परवैराग्य, (४) ईश्वरप्रणिधान, (५) एकतत्त्वाभ्यास, (६) ज्योतिष्मती, (७) वीतरागध्यान, (८) तप, (९) स्वाध्याय, (१०) विवेकख्याति आदि हैं। इसके उपायोंमें लगनेके लिये चित्तकी निर्मलता अत्यावश्यक है। चित्तकी निर्मलताके उपाय ४ हैं—(१) सुखी जीवोंमें मैत्री भावना, (२) दुःखीजीवोंमें करुणाभावना, (३) गुणी (पुण्यात्मा) जीवोंमें मोद वना, (४) पापात्मा जीवों के प्रति उपेक्षा।

योगके साधनभूत ८ अङ्ग भी हैं—(१) यम (पांच पापोंका त्याग करना) (२) नियम (यथा समय शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान करना), (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार (विषय त्याग), (६) धारणा, (७) ध्यान व (८) समाधि।

योगसाधनके उपायमें सर्वोत्कृष्ट उपाय विवेकख्याति है। द्रष्टा (आत्मा) में व दृश्य (प्रकृति) में विवेक (भेदज्ञान) होनेको विवेकख्याति कहते हैं। द्रष्टा आत्मा चेतनमात्र है। आत्मा शुद्ध, निर्विकार; अपरिणामी है। अनादि कालसे लगी हुई अविद्याके कारण प्रकृतिका सम्बन्ध है। जिसके कारण प्रकृति के विकाररूप बुद्धिमें आत्माका अभेद बोध होगया है। बुद्धि और आत्माके इस एकीभावको दूर करना, सो विवेकख्याति है। इस दर्शनमें बुद्धि अचेतन है और आत्मा चेतन है, इन दोनों के संयोगमें कारणबुद्धिमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे द्रष्टापन आजाता है अथवा द्रष्टा व दर्शनशक्तिमें भेद करना सो विवेकख्याति है अथवा बुद्धि न चेतन है, और न अचेतन है किन्तु चिदाभास है। चिदाभास में व शुद्ध चैतन्यमें भेदज्ञान करना सो विवेकख्याति है।

उक्त सिद्धान्तको जैनदर्शनमें इस प्रकार कहा है कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध चैतन्यमात्र है। अनादिकालसे अविद्यावश आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें कर्मप्रकृति का सम्बन्ध है। उनमेंसे समयप्राप्त प्रकृति के विपाकवश आत्माके अपूर्णज्ञान आदि विकारपरिणमन होता है। इन अपूर्णज्ञान आदि भावोंमें व शुद्धचैतन्य स्वभाव मात्र आत्मामें जब इन भेदविज्ञान होजाता है कि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र है और ये विज्ञानादि प्रकृतिनिमित्तक विकार हैं और विकार भावों से उपेक्षाकर निज शुद्ध चैतन्यस्वभावके अभिमुख होता है तो वह विवेकख्याति अथवा सम्यग्दर्शन होता है, जिसके आश्रयर समाधि व योगकी पूर्णता होकर सर्वज्ञत्व व परमानन्दमयत्व प्रकट हो जाता है।

इस योग दर्शनमें, समाधियोंके स्थान इस प्रकार कहे गये हैं—(१)सवितर्क (२) निर्वितर्क, (३) सविचार, (४) सानन्द, (५) सास्मिता, (६) निर्विचार, (७) निर्बीज, (८) धर्ममेघ। इनमेंसे पहिलेकी ६ समाधियोंको सम्प्रज्ञातयोग कहते हैं व अन्तकी दो समाधियोंको असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। (१) स्थूल पदार्थों के ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञान के विकल्प प्रवर्तमान रहें उसे सवितर्क समाधि कहते हैं। (२) स्थूल पदार्थोंके ध्यानमें स्थूल पदार्थविषयकशब्द, अर्थ व ज्ञान का विकल्प न रहनेको निर्वितर्क समाधि कहते हैं। (३) सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्पको सविचार समाधि कहते हैं।

(४) सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूप विकल्प तो न हों, किन्तु आनन्दका व अहम्प्रत्ययका अनुभव हो, उसे सानन्दसमाधि कहते हैं। (५) और जब आनन्दकी प्रतीति भी लुप्त हो जाय; किन्तु अहंप्रत्ययका अनुभव रहे उसे सास्मिता समाधि कहते हैं। सूक्ष्म पदार्थोंके ध्यानमें शब्द, अर्थ व ज्ञानके विचाररूपविकल्पके न होनेको निर्विचारसमाधि कहते हैं। (७) विचाररूप, आनन्दरूप, अहंप्रत्ययके अनुभवरूप—सभी प्रकार के विकल्पोंके न होने तथा ऋतम्भरा (सत्यग्राहिणी) प्रज्ञाके बलसे सब प्रकारके संस्कारोंके नष्ट होनेको निर्बीजसमाधि कहते हैं। (८) निर्बीज समाधिके सर्वज्ञता परम व ऐश्वर्यकी भी उपेक्षा रहनेके कारण सर्वकर्म, संस्कारोंसे सर्वथा मुक्त हो जानेको अर्थात् प्रकृतिके सर्व आवरणोंसे मुक्त होनेको धर्ममेघ समाधि कहते हैं।

इन समाधियोंका विशेष स्पष्टीकरण दो एतदर्थ जैनदर्शनमें प्रोक्त समाधियों के स्थान कहते हैं— (१) स्वरूपाचरण, (२) अप्रत्याख्यान, (३) प्रत्याख्यान, (४) अपूर्वपृथक्त्व वितर्कवीचार,(५)अनिवृत्तपृथक्त्ववितर्कवीचार, (६)अतिसूक्ष्म पृथक्त्ववितर्कविचार, (७) विकल्पमपपृथक्त्व वितर्कवीचार, (८) एकत्ववितर्क अवीचार,(९) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, (१०)व्युपरत क्रियानिवृत्ति। इनमें से पहिली तीन तो बुद्धिगत कषाय होते हुए भी रहती हैं, बादकी २ अबुद्धिगत कषायमें ही होती हैं। बादकी दो कषाय रहित जीवके ही होती हैं व अन्तकी दो सर्वज्ञ आत्माके ही होती हैं। समाधिभाव प्रारम्भ होनेसे पहिले विवेकख्याति (चैतन्य-स्वरूप व रागादिक प्रकृति मलोंमें भेदज्ञान) होना व स्वसंवेदन (शुद्ध चिन्मात्र निजका अनुभव) होना अनिवार्य आवश्यक है। [१] निज शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति रहना सो स्वरूपाचरण समाधि है [२] कुछ वैराग्यकी वृद्धिके कारण स्वरूपाचरणकी व स्वसंवेदनकी विशेषता होनेको अप्रत्याख्यानसमाधि कहते हैं। [३] पूर्ण वैराग्यके कारण स्वरूपाचरण व स्वसंवेदनकी महती विशेषताको प्रत्याख्यान समाधि कहते हैं। [४] जहां वस्तुके ध्यानमें शब्द, अर्थ व योगका परिवर्तन विकल्प तो चलता रहे, परन्तु बुद्धिगत रागद्वेषका लेश न हो, उस एकाग्रताको अपूर्वपृथक्त्व वितर्कवीचारसमाधि कहते हैं। [५] समान अक्षरों

की साधनाके साधकोंकी निर्मलतामें पूर्ण समता रहे, ऐसे पृथक्त्वःवितर्कवीचारको अनिवृत्त पृथक्त्ववितर्कवीचार समाधि कहते हैं। [६] जहां कल्मषता भी अत्यन्त सूक्ष्म रह गई हो, ऐसी स्थितिके पृथक्त्ववितर्कवीचारको अति सूक्ष्म पृथक्त्ववितर्कवीचार समाधि कहते हैं। [७] जहां शब्द, अर्थ व योगका परिवर्तन तो चले, किन्तु रागादिक कल्मषता सब पूर्णतया दूर हो गई हों ऐसी अर्थात् पूर्ण वीतरागता हो गई हो, एकाग्रताको, विकल्मषपृथक्त्ववितर्कवीचार समाधि कहते हैं। [८] जहां शब्द, अर्थ व योगका परिवर्तन सब नष्ट हो चुका है जिस पदार्थके ध्यानमें हैं उसीका निर्विकल्प प्रतिभास है, ऐसी समाधिको एकत्ववितर्कवीचार समाधि कहते हैं। इस समाधिके अन्तमें योगी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमानन्दमय व अनन्त शक्तिमान् हो जाता है, इसे जीवन्मुक्त व सकलपरमात्मा भी कहते है। [९] अशुक्ल, अकृष्ण (पुण्यपापरहित) दिव्यदेहसम्बन्धी एवं ध्वनि सम्बन्धी कर्मोंकी भी जहां कृशता होती है, ऐसी समाधिको सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति समाधि कहते हैं। [१०] देह, सर्व प्रकारके कर्म व संस्कारयोग्यताके सर्वथा क्षय होनेके हेतु जो सर्वथा निष्क्रम्य स्थिति होती है उसे व्युपरतक्रिया निवृत्ति होती है। इस समाधिके अनन्तर मुक्तात्मा प्रकृतिसे सर्वथा वियुक्त व विदेह होकर अनन्तकाल तक अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं, भविष्यमें कभी भी क्लेश या प्रकृतिके सम्बन्धमें नहीं आते। यही निर्वाण अथवा मुक्ति है।

योग (समाधिसे) सर्वक्लेशोंका विच्छेद होता है। क्लेश ५ प्रकारके है— (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश। अविद्या महाक्लेश है और अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण है। आत्मा और बुद्धिकी एकात्मताको अस्मिता कहते हैं। सुखकी प्रतीति लेकर होनेवाले क्लेशको राग कहते हैं। दुःखकी प्रतीतिको लेकर होनेवाले क्लेशको द्वेष कहते हैं। परम्परागत स्वभावसे चले आरहे मरणभयादि रूप क्लेशमय अभिप्रायको अभिनिवेश कहते हैं। अविद्या इन चारों क्लेशोंका कारण है। अनित्य पदार्थोंमें नित्यकी प्रतीति, अपवित्र पदार्थोंमें पवित्रताकी प्रतीति, दुःखमें सुखकी प्रतीति और अनात्मा (परपदार्थों) में आत्माकी प्रतीति होनेको अविद्या कहते हैं।

विवेकख्याति द्वारा अविद्या का नाश होता है और अविद्याके नाश होनेपर अस्मितादि सर्वक्लेशोंका नाश होता है। इस तत्त्वको जैन-दर्शनके इन शब्दोंसे समझ लेना चाहिये कि भेदविज्ञानके दृढ़तर अभ्याससे दर्शनमोहका नाश होता है और दर्शनमोहके नाश होनेपर चारित्रमोहका नाश होता है।

२०— चार्वाक्दर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

चारु वाक् जिसके लगें अर्थात् लौकिक सुखप्रेमियोंको जिसके वचन अच्छे लगें, उन्हें चार्वाक् कहते हैं। चार्वाक् केवल इन्द्रियप्रत्यक्षसिद्ध तत्त्वको मानते हैं। इनका सिद्धान्त इस प्रकार है— लोकमें तत्त्व ४ हैं— [१] पृथिवी, [२] जल, [३] अग्नि व [४] वायु। इनसे अतिरिक्त अन्य कुछ प्रत्य सिद्ध नहीं है। कल्पनाके आधारपर मानी हुई बात प्रामाणभूत नहीं हो सकती।

चार्वाक् लोग जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते हैं। इस सम्बन्धमें उनका सिद्धान्त है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु —इन्हीं चार तत्त्वोंका योग्य सम्मिश्रण होनेपर उस पिण्डमें चेतनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। जब इन तत्त्वोंका यह सम्मिश्रण मिट जाता है याने इन चार तत्त्वोंमें से कोई तत्त्व दूसरेको सहयोग नहीं देता अर्थात् पृथ्वी पृथ्वीमें, जल जलमें, अग्नि अग्निमें व वायु वायुमें अन्तर्हित हो जाती है तब चेतनेकी शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी अवस्थाको दुनियामें मरण कहा जाता है। इस मरणके बाद चैतन्यशक्ति ही समाप्त हो जाती है। फिर जीवके परलोकका मानना भ्रम ही है। जैसे कोदों, महुवा, सीरा आदिक द्रव्योंके संचित किये रहनेसे उनमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः उनमें मादकतत्त्व कुछ नहीं है। इसी प्रकार पृथ्वी जल अग्नि वायुके सम्मिश्रणमें चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः चेतनतत्त्व कुछ नहीं है।

उक्त मान्यताओंके परिणाममें उनके क्या उद्देश्य व दृष्टियां बन जाती हैं, उन्हें दिखाया जाता है—

देहसे भिन्न आत्मा कुछ है, ऐसी कल्पना करके जीव (चैतन्यशक्तिवाले देह) देहके आरामको छोड़कर नाना प्रकारके कष्टोंमें उलझ जाते हैं। आगामी

सुखोंकी आशा लगाकर भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, वनवास आदिके कष्ट भोगते हैं। पूजा, यज्ञ, त्याग आदि कार्योंमें धर्मकी पुट लगाकर (बताकर) जिन जीवोंसे उद्यम नहीं बनता, वे जीविकामात्र करते हैं। इससे भोजन व किन्हीके द्वारा इज्जत मिलना हो जाता है। पुरुषार्थ तो स्त्री, भोजन, इष्टदर्शन आदिसे उत्पन्न हुआ सुख पाना ही है। यद्यपि बीच बीचमें अनेक दुःख भी आते हैं तो भी दुःखके डरसे इन सुखोंका त्यागकर देना अविवेक है। जैसे धान्य चाहनेवाले पुराल छिलका आदिको छोड़कर केवल चावलको ग्रहण करते और भोगते हैं, इसी प्रकार सुखको चाहनेवाले यथाशक्ति दुःखोंके भोगको छोड़कर विषयजन्य सुखको ग्रहण करते और भोगते हैं।

चार्वाक् की मान्यता है कि वैभव आरामका जीवन ही स्वर्ग है। भूख, प्यास, कांटा लगना, पिटना आदि दुःखोंसे परिपूर्ण ही जीवन नरक है। देहसे व्यतिरिक्त आत्मा कुछ नहीं है। देहके उच्छेदका नाम ही मुक्ति है। परलोक भी कुछ नहीं, क्योंकि पृथ्वी आदि तत्त्वोंके बिखरनेपर चैतन्यशक्ति ही समाप्त हो जाती है, परलोक किसका सोचा जावे ? श्राद्ध करनेसे मरे हुए प्राणीकी तृप्ति होती है, यह बहुत भारी भ्रम है। यदि श्राद्धसे मरे हुए प्राणी तृप्त हो जाते हैं तो परदेश जाने वाले साथमें कलेवा क्यों ले जाते हैं। घरमें रहनेवाले लोग श्राद्ध कर लिया करें, जिससे परदेशमें गया हुआ भाई भी तृप्त हो जावे अथवा ऊपर बैठे हुए बाबूजी बाबाजीके नामसे नीचे रसोईघरमें हो श्राद्ध क्यों नहीं कर लेते, जिससे बाबूजी व बाबाजीको ऊपरसे उतरनेका कष्ट ही न करना पड़े। श्राद्धकी बात तो कुछ लोगोने अपनेको श्राद्धका अधिकारी कहकर अपनी जीविकाके लिये चलाई है। पशु होम आदि यवविधान भी जीविकाके लिये चलाये हैं, क्योंकि यदि पशुहोमसे पशु स्वर्ग चला जाता है तो ऐसी दया अपने पिता आदि स्नेही जनोंपर क्यों नही करते ताकि वे भी स्वर्ग पहुंच जावें।

चार्वाक्का दूसरा अर्थ शब्दसामञ्जस्यसे यह भी लगाया जाता है कि जो चर याने खाने, पीने, भोग आदिकी ही वाक् कहिये बातें करते हैं। चार्वाक्

दूसरा नाम लोकायत है। लोक आयत याने लोक तक हो याने इह लोककी बातों तक ही बुद्धिको सीमित करनेवाला।

चार्वाक् दर्शनकी उत्पत्तिका मूल क्या हो सकता है ? इसपर विचार करनेसे कुछ अनुभव निम्न प्रकार हो सकते हैं— [१] प्रारम्भसे ही वैषयिक सुखोंमे जीवोंके प्रीति चली आ रही है और इसी कारण वर्तमान इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जाता है। इससे इन्द्रियप्रत्यक्षसे आगेकी बात न मानना व वैषयिक सुखमें हित समझना प्राकृतिक बात हो जाती है। [२] यदि कुछ अनुमेय, सूक्ष्म एवं आर्षवचनोंकी चर्चा, शिक्षा भी ली हो तो भी उनका साक्षात् अनुभव न होनेसे कोरे ज्ञानसे ऊब कर उसके विरुद्ध प्रतीकार इसी रूपमें हो सकता है। [३] धर्मके नाम पर यज्ञ, होम आदि क्रियाकाण्ड इतने बढ गये हों जिससे सारभूत तत्त्वकी गन्ध भी न रह गई हो, तब उस ओरके अविश्वास व निर्विकल्पमार्गकी अप्राप्तिके कारण उन क्रियाकाण्डोंके विरुद्ध इस लोकायतिकताके रूपमें लोकोंका अभिप्राय बन गया।

यद्यपि चार्वाक्के नामसे इस सिद्धान्तके माननेवाले प्रसिद्ध नहीं हैं तथापि यह मानना पड़ेगा ही कि जो इस प्रकारके सिद्धान्त (अभिप्राय) को धारण करे वह लौकायतिक है, चाहे इसे किसी नामसे कहा जावे अथवा न कहा जावे। इस सिद्धान्तके माननेके दो परिणाम हो सकते हैं— [१] स्वार्थान्धता, [२] सामाजिक सुव्यवस्थाको उत्पन्न करना। स्वार्थान्धताकी बात तो सुगम है क्योंकि जब मात्र जिस किसी प्रकार लोकसुख मिले यह उद्देश्य है, तब तो इसकी पूर्तिमें ही यत्न करना विधेय रह जाता है। कुछ विवेकसे काम लेने पर इस सिद्धान्तके आधारपर भी सामाजिक सुव्यवस्थाका परिणाम भी बन जाता है। इसका कारण यह है कि हम लोकसुखके सुखी भी तभी हो सकते हैं जब कि हमारे सुखमें कोई विघ्न करनेवाला न रहे। ऐसा सभी लोग चाहते है। अतः सबको सुख रहे, ऐसी व्यवस्था बनाना अत्यावश्यक है। इस व्यवस्थाका मूल कारण भावोंकी पवित्रता है, दुःखियोंको सहयोग देना है, किसीको नहीं सताना है, झूठ नही बोलना है, चोरी नहीं करना है, परस्त्रीकी ओर कुदृष्टि नहीं करना है, परिग्रहका अतिसंचय नहीं करना है, संचित परिग्रहका यथाशक्ति जनताके

लाभके लिये वितरण करना है। उक्त सत्व्यवहारोंके कारण खुदका जीवन भी सुखमय, क्लेशरहित व संक्लेशरहित बीतता है।

परलोक व ईश्वर (परमात्मा) की मान्यता इस सिद्धान्तमें है ही नहीं, तब इस प्रकरणमें इनके विषयमें क्या लिखा जाय? किन्तु माध्यमसे भी विचारा जाय तो यह सुयुक्त मालूम होता है कि राग-द्वेषरहित मात्र ज्ञाता रहनेवाले स्वरूपकी दृष्टि की जावे तो अनाकुलताका पथ मिलता है सो यदि वीतराग विज्ञानकी दृष्टि व पापनिवृत्तिसे यदि जीवन बिताया जाय तो इस लोकमें तो आनन्द होता ही है व परलोक भी यदि हो तो परलोकमें भी आनन्द होगा ही। अतः वीतराग विज्ञानकी दृष्टि व पापनिवृत्ति तो अत्यावश्यक है ही। इस दर्शन से केवल यह शिक्षा तो ले सकते है कि अन्धविश्वासका आदर न करें, किन्तु इन्द्रियप्रत्यक्षसे अतिरिक्त अन्य युक्ति, अनुभव, आगम किसीको भी महत्त्व न दें, यह आत्मोद्धारके लिये बाधाकी बात होगी। हम प्रत्यक्ष, युक्ति, स्वानुभव आदि प्रमाणोंसे लौकिक अलौकिक तत्त्वोंका निर्णय करें।

२१–वेदान्त (उपनिषद्) दर्शनसे आप्तव्य शिक्षा

वेदान्तका अर्थ है— जहां वेद (ज्ञान) का अन्त है अर्थात् जिस तत्त्वोपयोगमें ज्ञान (विकल्प) का अन्त है या ज्ञानकी चरमसीमा है या मात्र अद्वैत है उसे वेदान्त कहते हैं। वेदान्तविषयक ग्रन्थोंको उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद शब्दका अर्थ है—उप-समीपमें, नि-सर्वप्रकारसे, षद-बैठाल देवे अर्थात् जो आत्माके अतिसमीप उपयोगको लगा देवे सो उपनिषद है। वेदान्तसिद्धान्त का एक नाम उत्तरमीमांसा भी है। इसका भाव यह है कि पहिली (पूर्व) मीमांसा साधारणतया व्यवहारदृष्टिकोणको लेकर साधारण पुरुषोंको पापसे हटानेके लिये यज्ञ स्तवन आदि क्रियाकाण्डोंको वर्णन करती है जिसका कि अपर नाम वेद कह सकते हैं। यह उत्तरमीमांसा शुद्ध अद्वैत तत्त्व (ब्रह्म) को बताती है।

वेदान्तमें परमतत्त्व ब्रह्म माना गया है जो कि सत् व ईश्वरके नामसे भी

कहा जाता है। वेदान्तकी मान्यता मुख्यतया २ प्रकारोंमें चलती है—, १ विशिष्टद्वैतके रूपमें, (२) निर्विशेषद्वैतके रूपमें।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें तत्त्व ३ प्रकारके माने गये हैं—[१] चित्, [२] अचित्, [३] ईश्वर। चित् उसे कहते है जो अणु और चेतन हो, इसका अपर-नाम जीव है। कर्तापन, भोक्तापन, ज्ञातापन आदि जीवके स्वाभाविक धर्म हैं। जीव अनन्त होते हैं। अचित् उसे कहते है जो किसी न किसी अवस्थाके आश्रय रहे यद्यपि सभी तत्त्व किसी न किसी अवस्थामें रहते ही है क्योंकि कुछ भी विकास बिना उनकी सत्ता क्या, तो भी स्पष्टरूपसे हालत परिवर्तन दृश्यमान अचित् पदार्थोंको देखा जाता है, इससे अवस्था श्रयताकी विचारणा अचित्में सुगम हैं)। अचित्के अपरनाम अजीव, अचेतन, प्रकृति इत्यादि हैं। ईश्वर वह है जो महान् व चेतन है। अचित् भी चित् (जीव) की तरह अनन्त है, किन्तु ईश्वर एक है। चित् भोक्ता है, अचित् भोग्य है, ईश्वर नियन्ता है। ब्रह्मका शरीर चित् है व चित्का शरीर अचित् है। इस तरह साक्षात् व परम्परारूपसे सब कुछ ईश्वर (ब्रह्म) का शरीर होनेसे सर्व जगत् ब्रह्मात्मक माना गया है। यह सामानाधिकरण्यकी दृष्टिसे सब कुछ एक ब्रह्मरूप माना है। ब्रह्म अपरिणामी व्यापक, एकस्वरूप, ध्रुव एव सदामुक्त है। चित् नानारूपसे परिणमनेवाले, अणु, अनेकरूप, बद्ध, एवं मुक्त हैं। अचित् अचेतन हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवान है। (वैज्ञानिक पद्धतिसे देखा जाय तो सर्व पदार्थ सामान्यविशेपस्वरूपात्मक है, तब चेतन भी सामान्यविशेषस्वरूपात्मक हैं, चेतनको विशेषस्वरूपसे देखने पर वह परिणामी, व्याप्य, अणु, अनेकरूप, बद्ध एवं मुक्त है और सामान्यस्व-रूपसे देखनेपर चैतन्यसामान्य सविशेष न होनेसे अद्वैत है, अपरिणामी है, व्यापक है, एकस्वरूप है, सदामुक्त है, यही स्वरूप ब्रह्म है, जो कि समस्त परिणामोंका आश्रय है, अत एव च स्रष्टा है।)

निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तमें एक ब्रह्म तत्त्व ही है। जीव अजीवादि अनेकता सब ब्रह्मका विवर्त है। इसका कारण माया है। माया ब्रह्मकी इच्छा है। ब्रह्मके इच्छा होती है कि मैं एक हूं बहुत हो जाऊं। तब यह सब विवर्त उत्पन्न होता है। ब्रह्मके ४ पाद हैं (१) जागृत, (२) सुषुप्ति, (३) अन्तःप्रज्ञ, (४) तुरीयपाद।

जैसे यहाँ प्राणियोंका जगना देखा जा रहा है, इसी प्रकार अविद्यावश नाना विकल्प, कर्तृत्व आदिमें लगनेकी अवस्थाको जागृत कहते हैं। जैसे प्राणी सो जाता है तब बाह्यचेष्टायें कुछ नहीं होतीं, किन्तु मनमें ही सूक्ष्म बोध वर्तता रहता है। इसी प्रकार कुछ विवेककी ओर जाने पर जिसमें कि बाह्य क्रियाओंसे उपेक्षा हो जाती है और अन्तरङ्गमें ज्ञानधारा चलती है ऐसी विवेकपूर्ण स्थिति को सुषुप्ति कहते है। विवेक ज्ञानके अनन्तर ब्रह्ममे हुई संस्थितिके कारण जो आनन्दमय स्थिति है, पूर्णप्रज्ञकी स्थिति है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। उक्त तीनों स्थितियोंसे परे, किन्तु तीनों स्थितियोंका आश्रयभूत, अतीन्द्रियगम्य, अनिर्वचनीय तत्त्व ब्रह्म है। (विज्ञानदृष्टिसे ऐसा जाना जा सकता है कि आत्मा वस्तु है। अतः ध्रुव होकर भी स्वपर्यायोंमें परिणमनशील है। यह आत्मा कर्म उपाधिवश जब मोहपरिणमनसे परिणमता है तब वह उसकी जाग्रत अवस्था है। इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको बहिरात्मा कहते है। यह आत्मा जब भेदविज्ञान करके बाह्य पदार्थोंमे उपेक्षा करता है और निज चैतन्यस्वरूपमें उपयुक्त होता है तो वह उसकी सुषुप्ति अवस्था है, इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको अन्तरात्मा कहते हैं। यह आत्मा जब स्वभावाश्रयके बलसे रागादि सर्व तरङ्गोसे रहित होता है तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी होता है व सर्व कर्म देहकी उपाधिसे मुक्त होता है, इस स्थितिको अन्तःप्रज्ञ कहते है। इस स्थितिमें रहनेवाले आत्माको परमात्मा, भगवान, जिनेन्द्र, सिद्ध, मुक्तात्मा आदि कहते है। ये सब स्थितियां जिस चेतन पदार्थकी होती है वह अनादिसे अनन्त चैतन्यस्वभावसे अवस्थित है, उसकी परिणतियोंपर दृष्टि न रखकर यदि केवल निरपेक्ष सत्को देखा जाय तो वही तुरीयपाद है। इस निरपेक्ष सत्को ब्रह्म, परम पारिणामिक भाव, चैतन्यस्वरूप, ज्ञायक आदि शब्दोंसे कह सकते है।

माया ब्रह्मकी इच्छा है। जब इच्छा हुई तो यह विकार माना जाना चाहिये और इस कारण ब्रह्म परिणामी, विकारी माना जाना चाहिये, किन्तु निरपेक्ष सत्त्वके स्वरूपकी रक्षा करना ही प्रयोजन मालूम होता है कि इतने पर भी ब्रह्मको अपरिणामी व अविकारी माना गया है। इस विकट समस्याका

हल स्याद्वादके निश्चयनय व व्यवहारनयसे किया जाना सुगम है कि निश्चयनय से ब्रह्म अविकारी है व व्यवहारनयसे ब्रह्मको माया है।

समस्त चेतन व अचेतन पदार्थोंकी सृष्टिका कारण एक ब्रह्म माना जावे और वह भी उपदान कारण व निमित्त कारण दोनों रूपसे कारण माना जावे तो यह विशद प्रकट तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि सर्व जगतके मात्र अस्तित्व-गुण पर दृष्टि रखकर सर्व सत्स्वरूप है यह बुद्धि व्यवस्थित न कर ली जावे। इस बुद्धिके व्यवस्थित कर लेने पर चूंकि प्रत्येक पदार्थ अपनेमें परिणमते हैं और यथायोग्य अन्य पदार्थोंको निमित्त पाकर परिणमते हैं एवं वे सभी पदार्थ सत्स्वरूप हैं, अतः यह सुगम्य होजाता है कि सर्व जगत्की सृष्टिका उपादान व निमित्त कारण सत्स्वरूप है; सत्स्वस्वरूपका ही अपरनाम ब्रह्म है।

यद्यपि उक्त अद्वैत दर्शन भी एक तथ्यकी ओर संकेत करता है और विज्ञानवादके प्रयोगसे असंदिग्ध प्रमाणित हुआ यह निमित्तनैमित्तिक प्रचलन भी स्वरूपास्तित्वके तथ्यकी ओर संकेत करता है, तथापि अद्वैत दर्शनमें सामान्य तथ्यकी ओर ही परमार्थताका जो आग्रह किया गया है उसका प्रयोजन सामान्य दृष्टि द्वारा निर्विकल्प समाधिके योग्य भूमिका तैयार करना हो सकता है। यह तत्त्व स्पष्टरूपमें नयवादसे रहित प्रदर्शित किया गया है, इसी कारण इस अद्वैत तत्त्वके माध्यमसे चलकर अनेक रचयिताओंने अपसे अपने अपरिहार्य एवं उपयोग्य स्वरूपास्तित्वसे प्रभावित होकर नाना प्रकारोंमे ग्रथित किया है। इसी कारण मीमांसक, नैयायिक, सांख्य, पाशुपत रामानुज, पातञ्जलि आदि दर्शनोंमें इसका ख्याल तो रखा गया, परन्तु अनेकों अन्य विषय प्रधान बनते गये।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें तत्त्व ३ जातिके कहे है— (१) चित् जातिके तत्त्व (जीव) अनन्त हैं, (२) अचित् जातिके तत्त्व (पुद्गल) अनन्त हैं। और (३) ईश्वरजातीय तत्त्व केवल १ है। ये सब अपनी अपनी सत्ता रखने वाले हैं, किन्तु ईश्वरका शरीर जीव है जीवका शरीर पुद्गल है। इस तरह साक्षात् व परम्परासे सभी ईश्वरका शरीर होनेसे विश्वमें व ईश्वरमें अभेद विदित

होता है। अतः सर्व ब्रह्मकी बात युक्त है। जीव अपने स्रोत (ब्रह्म) को न जानने के कारण संसार-परिभ्रमण करके क्लेश पाता है, जन्ममरणके दुःख उठाता है। ब्रह्मके जानने पर और उसीमें उपयुक्त होनेपर जीव मुक्तात्मा हो जाता है। मुक्तात्मा हो जानेपर वह ईश्वरकी ही तरह परमानन्दमय, निष्कलङ्क, सर्वज्ञ आदि हो जाता है, किन्तु सृष्टिकर्ता नहीं बनता। सृष्टिकर्ता केवल वह ब्रह्म (ईश्वर) माना गया है।

वैज्ञानिक पद्धतिके इस तत्त्वको समझा जावे तो इस प्रकार सुगम होता है कि जितने भी दृश्यमान पुद्गल हैं, वे सब कभी न कभी जीवके द्वारा अधिष्ठित हुए, तब ऐसे स्कन्धोंके रूपमें आये याने पत्थर, काठ, धातु, जल आदि सभीमें जीव था या जीव है, अतः सब जीवका शरीर है। जीव जो कि परिणमन द्वारसे समझमें आ रहे हैं वे सब ब्रह्म (चेतन द्रव्य) के विवर्त हैं अतः जीव ब्रह्मके शरीर हैं। यह जीव जब अपने स्रोत चैतन्य (ब्रह्म) स्वरूपको नहीं देखता है तब बाह्य तत्त्वोंमें उपयुक्त रहनेसे भटकते और क्लेश पाते रहते हैं। जब जीव अपने स्रोत ब्रह्मस्वरूप (चैतन्यस्वभाव) में उपयुक्त होते है तब सर्व कर्म क्लेशोंसे विमुक्त हो जाते हैं। ये मुक्तात्मा ब्रह्मस्वभावके अनुरूप विकसित हो जानेसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निष्कलङ्क, अविकार व अनन्तानन्दमय हो जाते हैं, परन्तु मुक्तात्मा भी एक शुद्ध पर्याय हैं। पर्याय पर्यायका सृष्टिकर्ता नहीं होता है क्योंकि पर्याय स्वयं सृष्टि है। अतः मुक्तात्मा सृष्टिकर्ता नहीं होते, ब्रह्म ही (चेतन द्रव्य ही) सृष्टिकर्ता है। सर्वचेतनोंका स्वरूप एक है। अतः स्वरूपाभेदसे ब्रह्म एक है।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें अभिमत है कि जीव परमात्मासे भिन्न है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही वृक्षरूपी शरीरमें रहते है। उनमेंसे एक (जीव) कर्मके फलको भोगता है और परमात्मा स्वकर्मके फलको न भोगता हुआ जीव को भोगाकर अत्यन्त प्रकाशित होता है। (यह सब सामान्यविशेषात्मकताकी दृष्टिसे देखनेपर एक चेतनद्रव्यमें घटित हो जाता है। ब्रह्म परमार्थदृष्टिका विषय है व जीव व्यवहारदृष्टिका विषय है। अतः ब्रह्म भोक्ता नहीं है, जीव भोक्ता है)।

समस्त चित् व अचित् पदार्थ भिन्न भिन्न सत्तात्मक हैं। ईश्वर व चित्में चैतन्यकी अपेक्षा सजातीयता होनेसे व चित् व अचित्में व ईश्वरमें भी सत्तात्मकताकी अपेक्षा सजातीयता होनेसे परस्पर भेदग्रहण नही होता। भेद-ग्रहण न होनेके कारण अनेक हैं—(१) अत्यन्त दूर होना, (२) अत्यन्त समीप होना, (३) इन्द्रिय नष्ट होना (४) मनकी अनवस्था होना, (५) अत्यन्त सूक्ष्म होना, (६) व्यवधान होना, (७) प्रबल वस्तुसे पराभव होना, (८) सजातीय वस्तुमें मिल जाना। जैसे—अत्यन्त दूर होनेसे पर्वत व शिखरवर्ती वृक्षादिका यथावत् पृथक् ग्रहण नहीं होता, अत्यन्त समीप होनेसे नेत्रमें लगे अञ्जनका यथावत् ग्रहण नहीं होता, इन्द्रियघात बिजली आदि का यथावत् ग्रहण नहीं होता, काम क्रोधादिवश विषयान्तरासक्त अनवस्थितचित्तमें पदार्थका ग्रहण नही होता, अतिसूक्ष्म होनेसे परमाणुका ग्रहण नहीं होता, व्यवधान होनेसे घरके भीतरकी वस्तुका ग्रहण नहीं होता, प्रबल वस्तुसे पराभूत होनेसे अधिक तेजस्वी दीप्तिके आगे दीपप्रभाका ग्रहण नही होता व सजातीय वस्तुमें सम्मिलित होनेसे दूधमें जल व दूधके यथार्थस्वरूपका ग्रहण नहीं होता अथवा भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण नही होता। वर्तमान प्रकरणकी भी यही बात है कि ईश्वर या ब्रह्म व चित् मे सजातीयता होनेके कारण भिन्न भिन्न ग्रहण नहीं होता याने अभेदरूप से ग्रहण होता है।

इस दर्शनमें द्वैत भ्रममात्र नही माना गया है, क्योंकि द्वैत भी परमेश्वर द्वारा ज्ञात हैं व रक्षित है। यदि द्वैत भ्रान्त होता तो सर्वज्ञ क्यों जानते? सर्वज्ञके ज्ञानमे भ्रान्ति नही होती। ईश्वरको या ब्रह्मको अद्वैत नामसे इस लिये कहा गया है कि उसके समान व अधिक अन्य कोई नहीं है अथवा परमार्थ दृष्टि से अद्वैत है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–इन चारों पुरुषार्थोंमें मोक्ष पुरुषार्थ उत्तम है, क्यों कि धर्म, (पुण्य) अर्थ, काम ये तीनों विनश्वर है, मोक्ष अविनश्वर है। बुद्धि-मान् पुरुष मोक्षके लिये ही यत्न करें। मोक्ष परम ब्रह्मकी उपासनासे होता है। यह परमब्रह्म असीम होनेसे विष्णु है, 'पापकलङ्कको' हरनेसे हरि है, योगिजन इसमें ही रमते है अतः राम है, शिव (कल्याण) रूप होनेसे शिव है, परम

ऐश्वर्य युक्त अथवा ऐश्वर्यप्रदाता होनेसे परमेश्वर है। ...

उपनिषदोंमें जहाँ इतनी गहरी आध्यात्मिक प्रगति अंकित है वहाँ सृष्टिके सम्बन्धमें विविध विचारों का आना आश्चर्यान्वित करता है। फिर भी जैसे कि आध्यात्मशास्त्रमें व्यवहारका वर्णन करके भी उसे गौण कर निश्चयकी ओर मुड़नेका बल दिया है। इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी प्रकरणवश अन्य विविध बातोंका वर्णन करके भी सर्वव्यापक एकस्वरूपकी ओर मुड़नेका बल दिया है। हम विनश्वर चीजोंसे हटकर, विषयोंसे विरक्त होकर शाश्वत विश्राम या आनन्द पायें यह लक्ष्य बन जानेकी शिक्षा हमें उपनिषदोंसे प्राप्त होती है।

२२–जैनदर्शनसे प्राप्तव्य शिक्षा

जो मोह व अज्ञानको जीत ले अर्थात् मोह और अज्ञानको समूल नष्ट कर दे उसे जिन कहते हैं। जिन भगवान् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तानन्दमय व अनन्त-शक्तिमान् होते हैं। ऐसे जिन भगवान्के उपदेशे गये दर्शनको जैनदर्शन कहते हैं।

जैनदर्शनमें मुक्तिमार्गका सिद्धान्त है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः"। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है। जो पदार्थ जिस स्वरूपवाले हैं उनका उस प्रकारसे श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है, वैसा ही ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानके बलसे आत्मज्योति पाकर इस आत्मज्योतिमें ही रम जाना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों तत्त्वोंका एक नाम "रत्नत्रय" है।

पदार्थोंका स्वरूप क्या है, पदार्थ कैसे होते है? इसका वर्णन "उत्पादव्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्" इस सूत्रसे पर्याप्त हो जाता है। पदार्थ सत् है और सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो नई नई पर्यायोंके रूपमें उत्पन्न हो और पूर्व पूर्व पर्यायोंके रूपसे नष्ट हो व स्वरूपसे (स्वभावसे) अनादि अनन्त ध्रुव हो, उसे पदार्थ कहते हैं। इसे सरलभाषामें यों कहना चाहिये कि जो बने, बिगड़े व बना रहे, उसे पदार्थ कहते हैं।

समस्त पदार्थ अनन्तानन्त हैं, यथा—जीव अनन्तानन्त, पुद्गल अनन्तानन्त धर्मद्रव्य एक, अधर्मद्रव्य एक, आकाशद्रव्य एक व कालद्रव्य असंख्यात है। जीव उसे कहते हैं जो चैतन्यस्वभावमय हो। पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस गन्ध व स्पर्श हो। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव व पुद्गलोंके चलनेमें निमित्तकारण हो। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो चलते हुए जीव, पुद्गलोंके ठहरनेमें निमित्तकारण हो। आकाशद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेमे कारण हो। कालद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तकारण हो।

प्रत्येक द्रव्य गुणकर्मसामान्यविशेषात्मक होता है। द्रव्यको शक्तियोंको गुण कहते हैं। शक्तियोंके परिणमनको कर्म कहते हैं। अभेददृष्टिसे देखे गये द्रव्य-स्वरूपको सामान्य कहते हैं। भेददृष्टिसे देखे गये द्रव्यकी विशेषताओंको विशेष कहते हैं।

द्रव्यके गुण द्रव्यमें शाश्वत तन्मयतासे रहते हैं। द्रव्यके कर्म क्रियाके समय में (वर्तमानमात्र) द्रव्यमें तन्मय हैं। द्रव्यका सामान्य द्रव्यमें तन्मय है। द्रव्यके भेदात्मक विशेष द्रव्यमें तन्मय हैं और द्रव्यके पर्यायात्मक विशेष द्रव्यमें पर्यायके समय तन्मय हैं। इसी तन्मयतामें सम्बन्धका अपर नाम समवाय भी कहा जाता है।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्त याने त्रिकाल अभाव है। एक द्रव्यकी किसी पर्यायमें उस ही द्रव्यकी अन्य पर्यायोंका अन्योन्य अभाव है याने वे अन्य पर्यायें उस द्रव्यमें हो तो जावेंगी, किन्तु एक पर्यायके समयमें अन्य पर्यायोंका अभाव है। अगली पर्यायका प्राक् अभाव पहिली पर्यायमें है। पहिली पर्यायका प्रध्वंस-अभाव अगली पर्यायमें है। अभाव कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है, किन्तु अन्य का अभाव या तो अन्य द्रव्यरूप है या अन्य पर्यायरूप है।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अभाव है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि एक द्रव्यका गुण अथवा पर्याय आदि अन्य द्रव्यमें कभी नहीं हो सकता। अतः इसमें कोई संदेहकी बात नहीं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता और न दूसरे द्रव्यको भोगता।

अब मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोंपर आयें। मुक्ति जीवको चाहिये। इस मुक्तिका जो बाधक निमित्त है वह है कर्म। यह कर्म अजीव है। इस तरह जीव व अजीव (कर्म)के संयोग वियोगादिके स्वरूप व उपाय ही मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्व होते हैं। ये तत्त्व ७ है—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष। इन तत्त्वोंको ३ प्रकारसे देखा जाता है—एक तो सिर्फ जीव जीवमें, दूसरे सिर्फ अजीवमें, तीसरे जीव अजीवको परस्पर सापेक्षतामें। जैसे आस्रवको देखें—आस्रव आनेको कहते हैं—जीवमें अजीवका आना आस्रव है (तीसरी पद्धतिसे)। कर्ममें अन्य नवीन कर्मों का आना आस्रव है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्य भूमिकामें शुभाशुभ परिणामका आना आस्रव है (पहिली पद्धतिसे)।

बन्ध तत्त्वको देखें—जीवमें अजीवका बंध जाना बन्ध है (तीसरी पद्धतिसे)। अजीव (कर्म) में नवीन कर्मोंका बंध जाना बन्ध है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्य भूमिकामें शुभाशुभ परिणामका ठहर जाना बन्ध है (पहिली पद्धतिसे)।

संवर तत्त्वको देखें—जीवमें अजीवका आना रुक जाना संवर है (तीसरी पद्धतिसे)। कर्मका आना रुक जाना संवर है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्यभूमिकामें शुभाशुभ परिणामोंका आना रुक जाना संवर है (पहिली पद्धतिसे)।

निर्जरा तत्त्वको देखें—जीवसे अजीवका दूर होने लगना निर्जरा है (तीसरी पद्धतिसे)। अजीव (कर्म) कर्मवर्गणाओंका दूर होने लगना निर्जरा है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्यभूमिकामें शुभाशुभ परिणामका दूर होने लगना निर्जरा है (पहिली पद्धतिसे)।

मोक्ष तत्त्वको देखें—जीवसे अजीवका सर्वथा दूर हो जाना मोक्ष है (तीसरी पद्धतिसे)। अजीव कर्मोंका बिलकुल अकर्मत्व हो जाना मोक्ष है (दूसरी पद्धतिसे)। चैतन्यभूमिकासे सर्वविकारोंका सर्वथा दूर होजाना मोक्ष है (पहिली पद्धतिसे)।

उक्त पद्धतियोंकी उपपत्तिका कारण दृष्टियोंकी विविधता है। यहां पर तीन पद्धतियां दो दृष्टियोंसे उत्पन्न हुई है—(१) निश्चयदृष्टि, (२) व्यवहारदृष्टि।

निश्चयदृष्टि एक पदार्थके ही देखनेको कहते है। व्यवहारदृष्टि अनेक पदार्थको सापेक्षता से देखनेको कहते है।

निश्चयदृष्टिके भी तीन भेद हैं—(१) परमशुद्धनिश्चयनय, (२) शुद्ध-निश्चयनम, (३) अशुद्धनिश्चयनय। तीसरी पद्धति व्यवहारनय की है। दूसरी पद्धति प्रायः अशुद्धनिश्चयनय की है याने भेदनय की है। पहिली पद्धति शुद्धनय की है।

पदार्थ के वास्तविक स्वरूप की प्रतीति होजाना, निज शुद्ध चैतन्यभावकी अनुभूति होजाना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन अष्टाङ्ग होता है। वे आठ अङ्ग ये है— (१) निःशङ्कित, (१) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सित, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपग्रहन, (६) स्थितिकरण, (७) वात्सल्य, (८) प्रभावना।

(१) अपने ही चैतन्यस्वरूपको अपना लोक माननेके कारण सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन वाले) जीवको न तो इस लोकका भय है कि जिन्दगी कैसे कटेगी और न परलोकका भय है कि परलोक कैसा होगा? अपने ही चैतन्यभावसे वेदना (ज्ञान) होनी माननेके कारण सम्यग्दृष्टिको शारीरिक वेदनाका भ्रम या भय नहीं होता। निजकी ध्रुवताकी प्रतीतिके कारण सम्यग्दृष्टि जीवको न तो अरक्षा का भय होता और न अगुप्तिका भय होता। चैतन्य ही प्राण है व चैतन्य अविनाशी है—इस प्रतीति के कारण मरणका भय नहीं है और बाह्य किसी पदार्थसे मुझमें कुछ आना ही नहीं—इस प्रतीतिके कारण आकस्मिक भय भी सम्यग्दृष्टिके नही है। शंका, भय व भ्रम न होना सो निःशङ्कित अङ्ग है। (२) भोग विषय प्रतिष्ठामें आस्था, हितबुद्धि, अभिलाषा न होना सो निःकांक्षित अङ्ग है। (३) धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें किसी भी कारण ग्लानि न होना और अपने संकटकाल में विषाद न कर ज्ञाता द्रष्टा रहना सो निर्विचिकित्सित अङ्ग है। (४) रागद्वेषसे मलिन देव, गुरु तथा रागद्वेषके प्रेरक शास्त्रोंकी ओर आकर्षित न होकर अमुग्ध दृष्टि रखना सो अमूढदृष्टि अङ्ग है। (५) दूसरेके दोष व अपने गुण प्रकाशित न करना सो उपगूहन अङ्ग है। (६) धर्ममार्गसे च्युत होते हुए दूसरे को व स्वयं को धर्ममार्ग में स्थिर कर देना सो स्थितिकारण अङ्ग है। (७) धर्मात्मा जनोंमें

न, निजधर्ममें निष्कपट वात्सल्य होना सो वात्सल्य अङ्ग है। (८) दूसरोंके वे अपने अज्ञानको नष्ट करके आत्मधर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अङ्ग है।

जो पदार्थ जैसे अवस्थित हैं उन्हें उस प्रकार से जानना सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके भी आठ अङ्ग है जिन उपायोंसे सम्यग्ज्ञानकी उपासना होती है--(१) शब्दशुद्धि, (२) अर्थशुद्धि, (३) उभयशुद्धि, (४) कालशुद्धि, (५) उपधान, (६) अनिह्नव, (७) विनय, (८) बहुमान।

(१) शब्दों को शुद्ध पढ़ना, विचारना सो अर्थशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका का अङ्ग है।

(२) शब्दोंके अर्थ शुद्ध समझना सो अर्थशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

(३) शब्द व अर्थ दोनोको शुद्ध करना सो उभयशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

(४) अयोग्य कालोंको टाल कर योग्य समयमें ज्ञानाभ्यास करना कालशुद्धि नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

(५) जब तक यह शास्त्र पूरा न पढ़ लूंगा तब तक मेरे ये नियम हैं-ऐसा नियम करना उपधान नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

(६) जिन गुरुके निमित्त से ज्ञानाभ्यास पाया हो, उन गुरुओं का नाम न छिपाना सो अनिह्नव नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

(७) ज्ञानोपकारक देवशास्त्र गुरुमें गुणस्मरण कीर्तनरूप विनय होना सो विनय नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

(८) ज्ञानोपकारक गुरुजनों का मन वचन काय से बहुमान करना सो बहुमान नामका सम्यग्ज्ञानका अङ्ग है।

ये सम्यग्ज्ञान के अर्जन के उपायभूत अङ्ग है। सम्यग्ज्ञान तो निश्चयसे यथार्थ प्रतिभासरूप एक अभेददृष्टिसे सम्यग्ज्ञान ५ प्रकार का है-(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान। इन्द्रिय व मन के निमित्तसे जानने कोमतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान से जानकर उस सम्बन्ध में अन्य अनेक ज्ञान होने को श्रुतज्ञान कहते है। इन्द्रिय

व मनकी सहायता के विना आत्मशक्तिसे रूपी पदार्थों को जानना अवधिज्ञान है। इन्द्रिय व मनकी सहायता के विना आत्मशक्ति से मन के भाव व पदार्थ जान लेना मनःपर्ययज्ञान है। अत्यन्त निरपेक्षपने से आत्मशक्ति द्वारा त्रिलोक त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको एक साथ स्पष्ट जान लेना सो केवल ज्ञान है। केवलज्ञानी जीव सर्वज्ञ, परमात्मा कहलाते हैं।

आत्मस्वरूपमें स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं—सम्यक्चारित्रकी तीव्र प्रगतिके साथ साधना करने वाले साधु होते हैं। सम्यक्चारित्रकी साधनामें १३ प्रकार की वृत्तियां होती हैं— (१) अहिंसा महाव्रत, (२) सत्य महाव्रत, (३) अचौर्य महाव्रत, (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत, (५) अपरिग्रह महाव्रत, (६) ईर्यासमिति (सूर्यप्रकाशमें अच्छे कार्य के लिये उत्तमभाव सहित ४ हाथ आगे जमीन देखकर ही जीव बाधा टाल कर चलना), (७) भाषासमिति (हित मित प्रिय वचन बोलना), (८) एषणासमिति (निर्दोष शुद्ध आहार की चर्या करना), (९) आदाननिक्षेपण समिति (देखभाल कर पुस्तक आदि उठाना व रखना), (१०) प्रतिष्ठापना समिति (निर्जीव जमीन पर मल मूत्रादि करना), (११) मनोगुप्ति (मनको वशमें करना), (१२) वचनगुप्ति (वचनको वशमें करना), (१३) कायगुप्ति (कायको वशमें करना)।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी आराधना उपासना के परिणामस्वरूप इन तीनों निर्मल भावों की पूर्णता, एकताको मोक्षमार्ग कहते हैं। ये परिणाम अपूर्ण रहें तो ये परम्परया मोक्षमार्ग हैं।

जैनदर्शनमें अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप—इन चार बातों का विवरण उत्तम है जो कि अन्यत्र नहीं मिल सकता। अहिंसाका स्वरूप रागादिविकारभावोंका न होना कहा गया है और रागादि विकारभावोंका होना हिंसा कहा गया है। वस्तुतः पाप, पुण्य व धर्म आत्मपरिणामों से होता है, बाह्यमें अन्य प्राणीको क्लेश उत्पन्न हो, इससे कहीं अन्य दूसरे प्राणीको पाप नहीं होता। अन्य दूसरा प्राणी जो कि अन्य के क्लेशमें निमित्त पड़ा हो, वह अपने रागदिविकारके कारण ही हिंसा का पाप करनेवाला है। जो संक्लेश करता है वह अपनी हिंसा करता है। व्यवहारमें दूसरेका दिल दुखाने

को हिंसा कहा गया है, उसमें निश्चय की बात निहित है अर्थात् दूसरेका दिल दुखाने के अनुकूल जो चेष्टा हुई है वह रागद्वेष के विकार होने पर ही तो हुई है। अतः दूसरेका दिल दुखाने को हिंसा कहा गया है। यह यथार्थस्वरूपका परिचय ज्ञानियों को चेता देता है कि हे आत्मन्! कभी भी चाहे कोई अन्य जानता देखता हो, चाहे न जानता देखता हो रागादि विकार न करो, हों तो उनसे उपेक्षा कर लो अन्यथा दुष्फल भोगना ही होगा। इस शुद्धता (अहिंसा) के आधार पर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि सब पाप दूर हो जाते हैं।

अनेकान्त वस्तुका स्वभाव कहा गया है अथवा वस्तु अनेकान्तात्मक होती है। अनेकान्तका एक अर्थ तो यह है कि जिसमें अनेक अन्त याने धर्म हों सो अनेकान्त है और दूसरा अर्थ यह है कि जिसमें एक भी धर्म न हो (न एकः अपि अन्तः यत्र) वह अनेकान्त है। वस्तुमें अनेक धर्म (गुण आदि) समझमें आते ही है। जैसे आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, अस्तित्व है, वस्तुत्व है, प्रदेशवत्त्व है आदि। अनेक धर्म समझ चुकनेपर चूंकि वस्तु भिन्न भिन्न धर्मरूप नहीं है, वह तो एक अखण्ड सत् है। अतः अभेदरूपसे अनुभूत वस्तु दूसरे अर्थवाला अनेकान्तात्मक है अर्थात् वहां एक भी धर्म (गुण आदि) नहीं है।

स्याद्वाद अनेकान्तात्मक वस्तुको अपेक्षा, (दृष्टि) लगा लगा कर अनेक धर्मों (गुणादिक) स्वरूप बतानेको। कहते हैं अर्थात् जो अपेक्षासे अनेक धर्मोंका कथन करना स्याद्वाद है। जैसे एक पुरुषको कहना कि यह अमुकका पिता है, अमुकका पुत्र है, अमुकका मामा है, अमुकका भानजा है आदि। इसी तरह प्रकरणमें लगाना कि जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य है, पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य है आदि बताना स्याद्वाद है। स्याद्वादमें संशय नहीं है, किन्तु पूर्ण निश्चय है। जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य ही है आदि। अनेकान्त व स्याद्वादमें यह अन्तर है कि अनेकान्त तो वस्तुका स्वरूप है और स्याद्वाद उसके बतानेका उपाय है।

वस्तुका स्वरूप उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता है। प्रत्येक वस्तु सत् है। वे अपनी

अपनी नवीन नवीन पर्यायोंरूपमें उत्पन्न होते है व पूर्व पूर्व पर्यायोंरूपमें विलीन होते हैं व पूर्वोत्तर सभी पर्यायोंके आधार रूप में वे सतत बने रहते हैं । अपने अपने पर्यायोंरूपसे वस्तु उत्पन्न होती है। अतः कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के पर्यायका कर्ता नहीं है और इसी कारण कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुका भोक्ता नही है। अगुरुलघुत्व गुण के कारण वस्तुका अपने अपने गुणोंमें ही परिणमन व द्रव्यत्व गुण के कारण वस्तुका प्रति समय परिणमनशील होना भी वस्तु की नैसर्गिक विशेषता है ।

जैनदर्शनमें अजीव तत्त्वका भी निरूपण आत्मकल्याणके योग्य दृष्टि बनाने में सहायक साधन है। अजीव तत्त्व ५ हैं— (१) पुद्गल, (२) धर्मद्रव्य, (३) अधर्मद्रव्य, (४) आकाश, (५) काल। पुद्गल एक परमाणु पदार्थ है। दिखने वाले स्कन्ध इन अनन्तानन्त पुद्गलोंका पुञ्ज है। वास्तविक पदार्थ इनमें एक एक परमाणु है। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध व स्पर्श—ये असाधरण गुण हैं। इन गुणोमेंसे स्पर्श गुण का परिणाम ही परमाणु-परमाणुके बन्धका कारण है। जैसे कि परद्रव्योंमें रागद्वेषका स्पर्श जीवके व कर्मके बन्धका कारण है। स्पर्श गुणके ४ परिणमन हैं-(१) स्निग्ध, (२) रूक्ष, (३) शीत, (४) उष्ण। इनमें स्निग्ध व रूक्ष परिणमन बन्धका कारण है। स्निग्ध व रूक्षका जब जघन्य अविभागप्रतिच्छेद (१) रूपसे परिणमन हो जाता है तब बन्ध नही हो सकता। जैसेकि रागद्वेपका सर्वजघन्य परिणमन जब योगीके रह जाता है तब तत्कृत कर्मबन्ध नही होता। पुद्गल व जीवके बन्धके सम्बन्धमें इतना अन्तर है कि पुदगल स्पर्शपरिणमन रहित कभी रह नही सकता सो उसकी शुद्ध अवस्था जघन्य अविभागप्रतिच्छेद में है और चूंकि पुद्गलका स्पर्शगुण ही बन्ध का कारण है सो पुनः स्वयं अविभागप्रतिच्छेद बढ़नेपर पुद्गल शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो सकता है, किन्तु जीवका रागद्वेष निज गुण नहीं है सो वह सर्वथा रागद्वेप रहित हो जाता है। इस अवस्थासे कर्मक्षय हो जाता है और परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन आदि विकास हो जाता है, यही जोवकी शुद्ध अवस्था है। अब पुनः अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं होनेसे जीव शुद्ध होकर कभी भी अशुद्ध नही हो सकता।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार अजीव पदार्थ अमूर्त हैं। धर्मद्रव्य तो चलते हुए जीव पुद्गलोंके गमनमें उदासीन निमित्तकारण है। जैसे कि मोक्ष मार्ग में चलने वाले जीवोंके आप्त भगवत्स्वरूप ऊर्ध्वगति में उदासीन निमित्त कारण हैं। अधर्मद्रव्य ठहरते हुए जीव पुद्गलोंको ठहरानेमे उदासीन निमित्त कारण है जैसे कि आत्मस्वरूप में स्थित होने वाले मुमुक्षुवोंको आप्त सिद्ध भगवान् आत्मस्थितिमें उदासीन निमित्तकारण है। आकाशद्रव्य सबको अवकाश देने में उदासीन निमित्त कारण है व कालद्रव्य सबके परिणमनमे उदासीन निमित्त कारण है।

२३–आधुनिक मज़हब

आजकलके समयमे ख्यातिके अनुसार जो मतों (मजहबो) के नाम प्रचलित हैं, उनके सिद्धान्तोंमें किस किस दर्शनका प्रभाव है, इसे देखने जाननेके लिये यह प्रकरण बना है। इसे जानकर मजहबोंके रूपसे उपेक्षा करके दर्शनमे आवे और फिरदर्शनके भेदोसे उपेक्षा करके उस दृष्टिके रहस्यभूत परमार्थशिक्षामें आवे।

आधुनिक प्रचलित मजहब यद्यपि आचार व्यवहारकी प्रधानता पर अवलम्बित हैं तो भी उनमें किन्हीं न किन्ही एक या अनेक दर्शनोंका वहां प्रभाव है व उनकी मान्यतामें भी हैं। किन्हीं मजहबोंमें तो प्रकट रूपसे दर्शनसिद्धान्त नाम लेकर स्वीकार किये गये और किन्हीं मजहबोमे नाम लेकर तो दर्शन सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु दर्शनसिद्धान्तोंकी प्रकट व अप्रकट रूप मे मान्यतायें अवश्य हैं। ऐसा कोई मजहब नही है जिसने पूर्वोक्त दर्शनोमें से किसी न किसी दर्शनका सिद्धान्त न माना हो। यदि कोई पूर्वोक्त दर्शनोंमें से किसीका भी कुछ सिद्धान्त न माने तो किसी प्रकार मजहबका रूप आ ही नही सकता।

आजकल मजहब इस प्रकार प्रसिद्ध हैं—जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, पारसी, राधावल्लभ, कबीरपंथी, सराक, शाक्त, यहूदी आदि।

इनमेंसे जैन और बौद्ध मजहब व दर्शन दोनोके नाम एक ही एक हैं।

अवशिष्ट मजहबोंमें एक या अनेक किसी न किसी अंशको लेकर दर्शनोंकी मान्यतायें हैं। किन्ही मजहबोंमें तो दर्शनका पूरा आधार लेकर आचार, विचार, व्यवहार चल रहा है, किन्हींमें दर्शनका तो आधार पूरा लिया है, किन्तु बहुजनों की अज्ञतावश आधारका पता न होने से रूढिगत व्यवहार हो गया है। अतः दर्शनके समीपका व्यवहार चल रहा है। किन्हींमें किसी किसी दर्शनके अंश की आड़ ले कर या रुचिके अनुसार शब्दोंके अर्थ लेकर विषयकषायपोषक व्यवहारचल रहा है। यदि दर्शनका विशुद्ध आधार लेकर मौलिक रहस्यके अनुसार आचार व्यवहार चले तो किसी भी मजहबमें शिकार करना, मांस खाना आदि हिंसापरक जैसी वृत्ति हो ही न सके।

जैनोंका आचार व्यवहार अहिंसाके आधारपर तथा वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्माकी भक्तिपर एवं निस्तरङ्ग चिद्ब्रह्म की उपासना पर आधारित है। जैनोंके सिद्धान्तमें गुरु निष्परिग्रह होते हैं। कुछ गुरुजनोंने परिग्रह रखना चाहा तो निष्परिग्रहकी व्याख्या आदिमें भेद डाला और इसके अनुकूल भगवान् और शास्त्रों में भी कुछ व्याख्याभेद किया और कुछ गुरुजन निष्परिग्रहके सिद्धान्तपर अडिग रहे। इन कारणोंसे जैनोंमें कितने ही सम्प्रदाय और और हो गये। आजकल जैनोंमें सम्प्रदाय इतने है—दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथीश्वेताम्बर, तारणपथीदिगम्बर। इन सभी सम्प्रदायोंका मूल उद्देश्य अहिंसा पालन है। अहिंसापालन पर कौन कितना चल है पाता? इसमें अवश्य अन्तर है। सभी जैनोंमें, मांस न खाना, रात्रि भोजन न करना, जल छान करपीना, मदिरा पान न करना, शिकार न खेलना आदि अहिंसापरक व्यवहार कौलिकपद्धति व धर्मपद्धति से चलता है। जैनजन ,मासमे सतत सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न होते रहना'' समझते हैं।

बौद्धोंका आचार व्यवहार भी अहिंसा और बुद्धकी भक्तिके आधारपर है, किन्तु बौद्ध मरे हुए प्राणीके मांसन हिंसा नहीं समझते या समझते हों तो अशक्ति है, वे मृतमांसभक्षण को हिंसापरक नहीं समझते। हां यह अवश्य माना है कि प्राणी का घात नहीं करते हैं। ''मांसमें सतत जीव उत्पन्न होते रहते हैं'' इस पर संभव है कोई ख्याल ही नहीं गया हो। सेवा, परोपकार में

ये अपना जीवन लगाते हैं। बौद्धोंमें अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार व माध्यमिक—ये चार प्रसिद्ध हैं। सौत्रान्तिक व वैभाषिक को हीनयान कहा जाता है तथा योगाचार व माध्यमिकको महायान कहा जाता है। ये भेद दर्शनसम्बन्धी मतभेदके कारण हो गये हैं।

वैष्णवोंका आचार व्यवहार ईश्वरभक्तिके आधार पर है। इनमें अनेक सम्प्रदाय हैं—रामभक्त, कृष्णभक्त, याज्ञिक आदि। प्रायः इनका विश्वास है कि इस जगत्को ईश्वर अपनी इच्छानुसार बनाता है और मिटाता है। इन सम्प्रदायोंमें कहीं तो अहिंसाको आश्रय दिया है और रात्रिको भोजन करना, अनछना जल पीना तक भी निषिद्ध किया है तो कहीं धर्मके नामपर जीवित पशु अग्निमें होम देना भी विहित किया है, किन्तु हिंसापरक वाक्योंके भी अर्थ दो दो प्रकारसे लगाये जा सकते हैं—एकसे हिंसाको प्रश्रय मिलता, दूसरे अर्थसे हिंसाको प्रश्रय न मिलकर अध्यात्मवादको प्रश्रय मिलता है। इनके सिद्धान्तमें समय समयपर ईश्वर अवतार लेता है और किसी न किसी पद्धतिमें धर्ममार्ग को बताता है। अवतारोंमें अनेक तो पशुवों तकके नामके हैं और श्री ऋषभ, राम, कृष्ण, बुद्ध आदिके नामके भी हैं।

शैव जनोंका आचार व्यवहार वैष्णवजनोंकी भांति है। शिवको ही ईश्वर माननेके कारण ये शैव कहलाते हैं। इनके सिद्धान्तमें शिव ही पालक है। शिव पार्वतीकी स्मृतिमें कुण्डमें स्थित शिवलिङ्गकी पूजा करते हैं, जिसका अर्थ कुछ विशिष्ट विद्वान् "अखण्ड ब्रह्म पिण्ड" करते हैं। शिव नाम मोक्षका भी है, जो मोक्षके मार्गपर चलें उन्हें भी व्युत्पत्तिसे शैव कह सकते हैं।

सिक्खजन मुख्यतया गुरुके उपासक होते हैं। यद्यपि सिक्खोंके गुरुजनोंने भी उपदेशमें दयादिक व्यवहारके साथ यह भी कहा है कि एक ब्रह्मको जानो तथापि भक्तिवश गुरुकी प्रधानता है। अब गुरुजन न मिलनेके कारण अथवा अन्तिम गुरुके इस संकेतके कारण कि 'अब गुरुका मिलना कठिन है, ग्रन्थ साहबको ही गुरु समझो। इस कारण ग्रन्थ साहबकी गुरुके समान पूजा होती है। आततायियोंके जुल्म न सहना और उनका संहार करना—यह भी उनका

मुख्य उपदेश है। इनके ग्रन्थ साहबमें दया व अद्वैत ईश्वरकी उपासनाका उपदेश है।

ईसाई जन ईशुको ईश्वरका भेजा हुआ पैगम्बर मानते हैं और दुखियोंकी सेवा करनेको अपना कर्तव्य व धर्म समझते हैं। वर्तमान आचार व्यवहारसे ज्ञात होता है कि सच बोलना, दगा न देना इनका नैसर्गिक गुण है, किन्तु दयाका व्यवहार मनुष्य तक सीमित है, क्योंकि मांसभक्षण व शिकार करनेकी पद्धति यहां प्रायः देखी जाती है। इनके सिद्धान्तमें भी सृष्टिका कर्ता, पहिले पानीका ही होना, आकृति व संख्याको ही मूलतत्त्व मानना, तत्त्वकी स्थिरता आदि बातें आती हैं।

मुसलमानोंके दर्शनको इस्लामीदर्शन भी कहते हैं। इस्लामका अर्थ शान्ति है। किसी अशान्तवातावरणमें मुहम्मद सांहबने अनेक यत्न शान्तिके लिये किये थे, तब वहांकी प्रजा द्वारा वे अल्लाहके भेजे हुए पैगम्बर माने जाने लगे। इनके मौलिक ग्रन्थमें अहिंसाका उपदेश है। पश्चात्के किसी ग्रन्थमें सततमांसभोजियों को कई दिनों मांस त्याग करानेका यत्न है, जिससे संभवतः मूलतत्त्व भूल जाने से "अमुक दिन मांस खावो या अमुकका खावो" यह रूढि चल गई। मौलिक उपदेश तो यही है कि किसी जीवको न सतावो। करते भी कभी यही है जब हज्ज (यात्रा) को जाते हैं तब जूं तक भी नहीं मारते, देखकर चलते हैं। इन के सिद्धान्तमें निम्नांङ्कित तत्त्वोंकी आभायें मिलती हैं—

एक अद्वैत, निर्गुण ईश्वर अल्लाह ही परमार्थ है। सब कार्य कारण वस्तुके गुणोंसे होते हैं। अल्लाह तो केवल भलाईका स्रोत है। साकार ईश्वर भी है, वह राजाकी भांति महान् है। कोई कहते हैं—अल्लाह उपादानके विना भी स्वयं सब कुछ बना देता है। इनके सिद्धान्त पहिले तो मौखिक समयानुसार चले, पश्चात् दर्शनका रूप मिला व ग्रन्थकी रचना हुई। इनमें भी मतभेद चलते रहे, जिससे सिया सुन्ना आदि सम्प्रदाय हो गये।

पारसी जन अग्निके उपासक होते हैं। यह अग्नि ब्रह्मतेजका प्रतीक है। पारसी शब्दको संस्कृतमें पार्श्वी कह सकते हैं—जो पार्श्व अर्थात् समीपस्थ

परमात्मतत्त्वको माने सो पार्श्वी है। यह आत्मा स्वभावदृष्टिसे देखा गया ही कारणपरमात्मतत्त्व है।

राधावल्लभ—इस सम्प्रदायके भक्तजन प्रीतिरसकी प्रमुखता करके श्रीकृष्णजी के उपासक हैं। कोई कोई भक्त पुरुष तो राधाजी का रूपक रख-कर उपासना व प्रीतियाचन करते हैं।

कबीरपंथी—यह एक आध्यात्मिक तत्त्व की प्रमुखतासे जीवन वितानेका भाव रखने वालोंका नवीन सम्प्रदाय है। स्कूल शिक्षाओं द्वारा, जो किसाधारण लोकजनोंको भी सुगम हों, मानस उच्च करना इनका ध्येय है।

सराक—यह श्रावक शब्दका अपभ्रंश है। ये प्राचीनकालसे जैन चले आते थे, परन्तु वातावरण इस योग्य न रहनेसे व उपदेश कम हो जानेसे जीवन में साधारणता आगई है। पारसनाथकी उपासना करना, रात्रिको न खाना इत्यादि चिह्न अब भी सराक भाइयोंमें उपलब्ध होते हैं।

शाक्त—जो शक्तिकी उपासना करते हैं वे शाक्त कहलाते हैं। ये देवी, देवताओंकी शक्तिस्वरूपमें उपासना करते हैं। आचार व्यवहार सब प्रायः अन्य उपासकोंसे मिलते जुलते हैं।

२४— आत्मस्वरूप

आत्मा शब्दका अर्थ है—'अतति संततं गच्छति जानाति इति आत्मा' जो निरतर जाननेका कार्य करे सो आत्मा है। प्रत्येक आत्मा निरन्तर जानता ही रहता है, चाहे वह कभी क्रोधावेशमें हो, चाहे मानावेशमें हो, चाहे मायाच्छन्न हो, चाहे तृष्णाग्रस्त हो, चाहे भक्तिरत हो, चाहे समाधिरत हो, चाहे शांत हो, चाहे अनन्तानन्दमय हो जानते रहते हैं प्रति समयमें। इसका प्रबल प्रत्यक्ष स्पष्ट कारण यही है कि यदि वे क्रोध, मान आदिके समयमें जानते न होते क्रोध मान आदिका अनुभव या उत्पाद हो ही नहीं सकता था। इससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मा निरन्तर जानते रहते ही हैं। अतएव आत्माका स्वरूप ज्ञानमय है। जाननेके परिणमनमें आकुलता नहीं होती है, क्योंकि जानना

औपाधिक भाव नहीं हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह के परिणाममें आकुलता है, क्योंकि एक तो क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, दूसरे स्वभावविकासके विपरीत परिणमन हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान आत्माका स्वरूप है वैसे ही अनाकुलता अथवा आनन्द भी आत्माका स्वरूप है। इस प्रकार मुख्यतया आत्माका लक्षण ज्ञान और आनन्द है। शुद्ध ज्ञान को चित् भी कहते हैं। इस तरह आत्माका स्वरूप चित् व आनन्द है। आत्मा सत् तो है ही, अतः आत्माका स्वरूप सच्चिदानन्दमय कहा गया है।

प्रत्येक आत्मा एक एक अखड चेतन पदार्थ है। वह प्रतिसमय परिणमता रहता है। अभेददृष्टि से प्रतिसमयका परिणमन भी एक एक है। फिर भी पदार्थविज्ञानके लिये भेददृष्टिसे भी समझना अत्यावश्यक है। वह आत्मा शक्तिभेद व पर्यायभेदसे समझा जाता है। आत्मा अनन्त शक्तिमय है। जैसे—ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति, आनन्दशक्ति, वीर्यशक्ति, क्रियावतीशक्ति, श्रद्धाशक्ति, योगशक्ति, अस्तित्वशक्ति, वस्तुत्वशक्ति, द्रव्यत्वशक्ति, अगुरुलघुत्वशक्ति, प्रदेशवत्त्वशक्ति, प्रमेयत्वशक्ति, आदि। पदार्थ में जितनी शक्तियां होती है उतने ही परिणमन होते हैं। कोई भी शक्ति बिना परिणमन किये अर्थात् किसी न किसी अवस्थामें आये बिना नहीं रहती। आत्माकी भी प्रत्येक शक्तियां प्रतिसमय परिणति करती रहती है। ज्ञानशक्तिका परिणमन जानना है। दर्शन शक्तिका परिणमन सामान्य प्रतिभास है। चारित्र शक्तिका परिणमन शुद्ध अथवा अशुद्ध किसी भी भावमें रम जाता है अर्थात् यदि चारित्रशक्तिका अशुद्ध (औपाधिक) परिणमन चल रहा है तो काम, क्रोध आदि भावो में रमना होता है व यदि चारित्रशक्तिका शुद्ध (निरुपाधि) परिणमन हो रहा है तो विशुद्धज्ञानमें रमना होता है। आनन्द शक्तिका परिणमन औपाधिक तो सुख व दुःख है याने आकुलता है व निरुपाधि परिणमन शुद्ध आनन्द है याने अनाकुलता है। वीर्यशक्तिका परिणमन बल है। क्रियावतीशक्तिका परिणमन क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में जाना अथवा निजक्षेत्रमें ठहराये रखना है। श्रद्धाशक्तिका परिणमन मिथ्या अथवा सम्यक् विश्वास करना है। योगशक्तिका परिणमन हलन चलन अथवा निष्कम्पता है। अस्तित्वशक्तिके

परिणाममें "आत्मा है।" वस्तुत्वशक्तिके परिणाममें आत्मा अपने ही स्वरूपसे है। द्रव्यत्वशक्तिके परिणाममें आत्मा परिणमनशील होता है। अगुरुलघुत्व-शक्तिके परिणाम में आत्मा अनात्मा (अन्यरूप) नहीं हो जाता है। आत्माका एक गुण किसी दूसरे गुणरूप नहीं हो जाता है। प्रत्येक आत्मा व गुण अपने स्वरूपमें परिणमते रहते हैं। प्रदेशवत्वशक्ति के परिणाममें आत्मा प्रदेशवान है अर्थात् आकारवान है (यहां आकारसे मतलब मूर्त आकारका नहीं लेना) प्रमेयत्वशक्तिके परिणाममें आत्मा ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है अथवा प्रमाण द्वारा प्रमेय होता है इत्यादि अनेक शक्तियाँ व अनेक परिणमन भेददृष्टि से आत्मामे परखे जाते हैं।

परमार्थदृष्टिसे आत्मा अविकार, एकस्वरूप, शुद्ध, नित्य, निरञ्जन है? व्यवहारदृष्टिसे आत्मा विकार या निर्विकार विवर्तमय, अनेकरूप, अशुद्ध या शुद्ध पर्यायगत, अनित्य व साञ्जन या अञ्जनमुक्त है। 'परमार्थदृष्टिसे जो आत्मस्वरूप है उसीको ब्रह्म कहते हैं। यह आत्मसृष्टिका उपादानभूत हैं अर्थात् सृष्टि का मूल है। व्यवहारदृष्टि जो आत्मविवर्त है उसे माया, पर्याय, विवर्त आदि कहते हैं यह स्वयं सृष्टिभूत है। इस तरह ब्रह्म व माया स्वरूपसे तो अलग अलग हैं किन्तु वस्तु में एक हैं। इस तरह रहस्यका परिचय पा लेने वाला आत्मा अन्तरात्मा, महात्मा, योगी, वर्णी, सम्यग्दृष्टि, विवेकी, मर्मज्ञ, आस्तिक आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है। इस ब्रह्मस्वरूपके परिश्रममें अनुभव में अलौकिक नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है, जिस आनन्दके प्राप्त कर लेने पर इन्द्रियविषयसुख धोका, असार, माया, अहित, दुःखमय भ्रमकल्पित आदि प्रतीत होने लगते है। इस ही सहज आनन्दके बलसे कर्मेन्धन दग्ध हो जाते हैं, विषयकषाय जल जाते है।

आत्मा अनन्त गुण (शक्ति) मय है। एक एक गुण के अनन्तगुणोंके साहचर्यसे अनन्त वर्तमान प्रकार हैं। एक एक प्रकारके अनन्त (तीनों कालकी) पर्यायें हैं। एक एक पर्याय के अनन्त भाव हैं। एक एक भावमें अनन्त रस हैं। एक एक रसमें अनन्त प्रभाव हैं। इस प्रकार अनन्त विलास (प्रभाव) मय यह आत्मा अनन्त ऐश्वर्यका प्रभु होनेसे ईश्वरस्वरूप होकर अनन्त लीलाओं

में विचर रहा है।

इस परमपुरुषके साथ अनादिसे अविद्याके कारण प्रकृतिका बन्धन चल रहा है, जिसके परिणाम में अर्थात् प्रकृतिरूप बहिरङ्ग उपाधि और अविद्यारूप अन्तरङ्ग उपाधिके कारण नाना देहोंके बन्धन बना बना कर भ्रमण कर रहा है व दुःखी हो रहा है। जैसे यद्यपि स्फटिकपाषाण स्वभावतः स्वच्छ है तो भी यदि उसपर हरा लाल आदि एक हो तो हरा लाल प्रतिबिम्बरूप हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः अविकार है तो भी आत्माके साथ उपाधि लगी है सो विकाररूप प्रवर्तमान हो जाता है। जैसे डाक हटने पर स्फटिक पाषाणका विकास स्वच्छ ही रहता है, इसी प्रकार प्रकृति उपाधिके हटने पर आत्माका विकास स्वच्छ अनन्तशुद्ध ज्ञानमय अनन्त सहज आनन्दमय ही रहता है।

आत्माके सम्बन्ध में शीघ्र हो सकनेवाली भ्रांति तो यह हो सकती है कि आत्मा कोई वस्तु ही नहीं, शरीर ही दिखता, जब तक शरीरके पेंच पुर्जे दिमाग दिल ठीक हैं तब तक उसे जिन्दा कहा जाता है और जब पेंच पुर्जे ढीले हो जाते हैं और फिर जब तक काम बिल्कुल नहीं करते तब उसे मुर्दा कह देते हैं। इस भ्रान्तिके होनेका कारण यह है कि साधारण लोकोंमें केवल इन्द्रियजन्य ज्ञानका विश्वास रहता है, परन्तु कुछ विशेष विवेक (भेदबुद्धि) से काम लिया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक पदार्थोंकी ही तरह अपनी स्वतन्त्रसत्तावाला आत्मा भी है। अचैतन्य व चैतन्य अत्यन्त विरुद्ध धर्म हैं। इनके आश्रयभूत पदार्थ भी दो प्रकारके हैं एक अचेतन दूसरा चेतन।

चेतनद्रव्यकी समझ अहंप्रत्ययसे हो जाती है। जिसके प्रति अहं (मैं) कहा जाता है वही चेतन (आत्मा) है। यदि शरीर ही जीव हो तो उपयोग अन्यत्र होनेपर शरीरकी चोटकी वेदना क्यों नहीं होती है? तब तो अनुभव भी नहीं होता है अर्थात् शारीरिक वेदना अवश्य होना चाहिये सो तो होता नहीं। अतः यह भी सिद्ध है कि चेतनद्रव्य शरीरसे पृथक् चीज है।

एक ज्ञानके बाद दूसरा ज्ञान, दूसरे ज्ञानके बाद तीसरा ज्ञान इस प्रकार अनंतज्ञानोंकी लड़ी जिससे जुड़ी है अथवा ये अनंतो ज्ञान जिसकी पर्याय हैं

अथवा इन ज्ञानोंकी संभूति व विलीनता जिसमें होती है अथवा इन ज्ञानोंका जो स्रोत है वही आत्मा है। यह आत्मा स्वभावदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, तिर्यक्सामान्य (सर्वसामान्य) दृष्टिसे एक है, स्वरूपास्तित्वदृष्टिसे अनन्त हैं।

सभी पदार्थोंका परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे होता है। वैसे ही आत्मा का परिचय भी द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे होता है द्रव्यसे आत्मा ज्ञानानन्दादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है, क्षेत्रसे आत्मा असंख्यातप्रदेशीय है अथवा देहप्रमाण है, कालसे आत्मा सदा वर्तमान पर्यायरूप है, भावसे आत्मा ज्ञान आदि अनेक स्वरूप है। आत्माका परिचय द्रव्य, गुण, पर्यायद्वारसे भी होता है। ज्ञानादि अनन्त गुण और उन सब गुणोंकी पर्यायें इस प्रकार गुण पर्यायोंका समुदाय आत्मा द्रव्य कहलाता है। आत्मामें जो अनेक प्रकारकी शक्तियां है वे गुण हैं, उनकी अवस्था पर्यायें हैं।

आत्मा अपनी ही पर्यायोंके रूपमें उत्पन्न होता हुआ व अपनी ही पूर्वपर्यायों को अपनेमें ही विलीन करता हुआ अनादिसे अनन्तकाल तक अर्थात् सनातन सत् बना रहता है। प्रत्येक द्रव्य अपने ही पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। इसलिये आत्माका ज्ञान, आनन्द आदि परिणमन अपनेसे ही उत्पन्न होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने पर्यायरूपसे विलीन होता है। अतः आत्मा अज्ञान, दुःख आदि पर्याय भी अपने ही परिणमनसे विलीन होता है। ज्ञानका उत्पाद ही अज्ञानकी विलीनता है, अज्ञानकी विलीनता ही ज्ञानका उत्पाद है। आत्माकी प्रत्येक स्थिति आत्माके द्वारा आत्मामें होती है। अन्य द्रव्योंका निमित्त होना प्रतिषिद्ध नहीं है तो अन्य द्रव्योंसे यह आत्मा अछूता ही रहता है।

यह आत्मा किसी नयसे एक ब्रह्मस्वरूप, किसी नयसे चित्तक्षणरूप, किसी नयसे नित्य, किसी नयसे अनित्य, किसी नयसे (दृष्टिसे) एक, किसी नयसे नाना, किसी नयसे महत्, किसी नयसे अणुगुरुदेहप्रमाण, किसीनयसे व्यापक किसी नयसे अव्यापक, किसी नयसे सृष्टिकर्ता, किसी नयसे अपरिणामी किसी नयसे शरीरमात्र, किसी नयसे चैतन्यस्वरूप, इत्यादि अनेक प्रकार विज्ञात होता है। इसी कारण आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें अनेक दर्शन प्रकट हुए। उन सभी

नयोंसे उन सभी दर्शनोंकी बात समझ लेने पर जो विज्ञात हो उसे एक साक्षी-रूपसे जाननेपर आत्मा विदित होता है वह परमार्थतः अवक्तव्य है, किन्तु स्वसंवेदनगम्य है।

आत्मा रूपरहित है। अतः वह चक्षु इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा रसरहित है, अतः आत्मा रसनाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता है। आत्मा गन्धरहित है, अतः आत्मा नासिकाइन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शब्दरहित है, अतः वह श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रियसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा शीतादि समस्त स्पर्शोंसे भी रहित है; अतः स्पर्शनइन्द्रियसे भी वह नहीं जाना जा सकता। आत्मा तो मात्र ज्ञानसे ही ग्रहणमें आ सकता है। आत्मा ज्ञान द्वारा ग्रहणमें आजावे इसका मुख्य साधन निर्विकल्पता है। कोई भी विकल्प न उठे तो आत्मा झटिति अनुभव में आजाता है। विकल्प न उठे इसके अर्थ आत्मा व परपदार्थोंके स्वलक्षण स्वलक्षणके परिचयसे भेदविज्ञान करना आवश्यक होता है।

आत्मा समस्त अचेतनपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। अन्य समस्त चेतनपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है। आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहमें रहनेवाला तैजस व कार्माण शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। यह तैजस व कार्माण शरीर यद्यपि मरणके बाद अन्य भवमें जाते हुए जीवके साथ साथ ही जाता है तथापि इन अचेतन पदार्थों का स्वरूप आत्मस्वरूपमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें रहनेवाला यह शरीर भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार समस्त अचेतन पदार्थोंसे, अन्य समस्त चेतनपदार्थों से, तैजस व कार्माण शरीरसे, इस स्थूल शरीरसे अत्यन्त भिन्न यह आत्मा है।

आत्मा के आधारमें होनेवाले बाह्यतत्वोंसे भी आत्मा निराला है— रागद्वेषादिविभाव चूंकि औपाधिक भाव है अतः इन औपाधिक भावोंसे भी आत्मा निराला है। अपूर्णज्ञान, विचार, वितर्क चूंकि पूर्णस्वरूप नहीं है, अतः आत्मा इनसे भी निराला है। परिपूर्ण ज्ञान आदि परिणमन भी चूंकि सादि है तथा क्षण क्षणके परिणमन है, अतः इस परिपूर्ण विकास परिणमनसे भी आत्मा निराला है। इन सबसे निराला एक आत्मा है। इस

तरहके विकल्पमें भी आत्मस्वरूप अनुभूत नहीं होता। अतः ऐसा एक भी आत्मा नहीं है, किन्तु समस्त विकल्प जालोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वभावको प्रकट करते हुए अनुभवमें जो अनुभूत होता है वही आत्मा है।

यह आत्मा निश्चयतः शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य है, निरञ्जन है, टङ्कोत्कीर्ण-बिम्बकी तरह निश्चल है, परमात्मा है, परमेश्वर है, ज्ञानमय है, आनन्दमय है, सर्वकामनाओंसे रहित है, अविकार है, चैतन्यमात्र है। इसके अनुभवमें जो आनन्द है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। आत्मस्वरूप ही परमब्रह्म, ईश्वर, भगवान् आदिके रूप ध्याया जाता है। ॐ नमः समयसाराय, ॐ शुद्धं चिदस्मि, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।

२५—कर्मसिद्धान्त

यह तो मानना ही पड़ेगा कि जीवके साथ किसी अन्य पदार्थका बन्धन अवश्य है। अन्यथा अर्थात् जीवके साथ अन्य बन्धन न होता और राग, द्वेष, मोह करना या निम्न, निम्नतर आदि अवस्थायें होना जीवके सहजस्वभावसे ही होता तो राग द्वेषादि अवस्थायें जीवमें सदाके लिये एक ही मापसे पाई जानी थी, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अनेक प्रकारकी विषमतायें जैसे कोई निर्धन है, कोई धनी है, कोई विशेषज्ञ है; कोई मूर्ख है, कोई अल्परागी है, कोई तीव्ररागी है आदि विषमतायें देखी जाती हैं। इससे सिद्ध है कि विषम-ताओं के होनेको निमित्तभूत कोई पदार्थ जीवके साथ लगा है। इस ही पदार्थ को कोई-कर्म, कोई भाग्य, कोई तकदीर आदि शब्दोंसे कहते हैं। इसको यहां कर्म नामसे कह लीजिये क्योंकि कर्म नामकी प्रसिद्धि सर्वत्र व्यापक है।

कर्मसत्त्वके साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि कर्म जीवस्वभावके विपरीत है, तभी तो कर्मके निमित्तसे जीव विपरीत अथवा विकार एवं अपूर्ण विकासरूपसे परिणमन करता है। जीव चेतन है, कर्म अचेतन है; जीव अमूर्त है; कर्म मूर्त है; जीव एक है जिसके साथ कर्म अनेक हैं। साथ ही यह मानना पड़ेगा कि कर्म इन्द्रियगम्य स्थूल तत्त्व नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि

जीवके साथ अनादि परम्परासे कर्मका बन्धन चला आ रहा है, जिसके निमित्तसे जीव नाना योनियोंमें जन्म मरण करता है और दुःख उठाता रहता है और इन कर्मो के क्षय हो जाने से जीव मुक्तात्मा हो जाता है।

कर्म होने योग्य जो स्कन्ध है वह दो प्रकारका है— (१) जो कर्म नही बना वह, (२) जो कम बन गया वह। जो कर्मरूप नहीं बना वही कर्मरूप बन जाता। इन दोनों अवस्थामें रहनेवाले जो स्कन्ध हैं उन्हें "कार्माण वर्गणा" शब्दसे कह लीजिये, क्योंकि अनेक कर्मपरमाणुवोंके वर्गोंके समुदाय रूप ये स्वन्ध रहते है। जीव इस लोकमे सर्वत्र है और कार्माणवर्गणायें भी लोकमें सर्वत्र है, फिर भी कुछ वे कार्माणवर्गणायें जो अभी कर्मरूप तो नहीं हुए, किन्तु कर्म रूप हो सकते हैं, जीवके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रान्तरमें जानेपर जीवके साथ रहते है। चूंकि ये जीवके साथ स्वयं ही उपचित हैं। इस लिये ऐसे कर्म-वर्गणावोंको जो कर्मरूप नहीं हुए फिर भी जीवके साथ बन्धन (एकक्षेत्रावगाह) में हैं, "विस्रसोपचय" कह सकते हैं। जीवके साथ जो कर्मरूपसे बंध चुके वे तो जीवके साथ जाते ही है।

इस प्रकार कार्मणवर्गणायें विस्रसोपचयवाली व बिना विस्रसोपचयवाली सर्वत्र लोकमें ठसाठस अनन्तानन्त भरी हुई हैं। जीव जब अशुद्ध परिणाम करता है तब ये कार्मणवर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती हैं। तथा जैसे खाये हुए भोजनमें प्रकृति पड़ जाती है कि इतने स्कन्ध हड्डीरूपसे परिणमेगी, इतने खून, विष्टा, मूत्र आदिरूपसे परिणमेगी व इनमें प्रदेश संख्या भी हो जाती है। इतना भोजन इस प्रकृतिरूप होगा, इतना भोजन इस प्रकृतिरूप, तथा यह भी विभाग हो जाता है कि हड्डीरूपसे परिणमने वाला स्कन्ध इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा व खूनरूपसे परिणमनेवाला स्कन्ध (भोजनस्कन्ध) इतने दिनों तक शरीरमें रहेगा, विष्टामूत्र वाला इतने दिनों शरीरमें रहेगा एवं अनुभाग (शक्ति) भी बन जाता है कि हड्डी न ले स्कन्ध इतनी शक्तिका फल देंगे, वीर्य वाला स्कन्ध उससे अधिक शक्तिका फल देगे इत्यादि। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर जो कार्मणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाते है, उनमें तभी प्रकृति बन जाती है। ये कर्म ज्ञानके घातका निमित्त होंगे, ये शरीर

रचनाके कारण होंगे इत्यादि व प्रदेशविभाग भी होता है। इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी, इस प्रकृतिकी इतनी वर्गणायें होंगी व स्थिति भी पड़ जाती है, अमुक कर्म इतने दिनों आत्माके साथ रहेंगे, अमुक कर्म इतने दिनों साथ रहेंगे व अनुभाग भी पड़ जाता है कि अमुक कर्म इतनी शक्तिका फल देंगे, अमुक कर्म इतनी डिग्रीका फल देंगे इत्यादि।

आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिका पिण्ड है अर्थात् सत् (शक्ति) चित् (ज्ञान, दर्शन, आनन्दमय है। इन गुणोंका शुद्ध विकास संसारी जीवोंमें नहीं पाया जा रहा है। आत्माका स्वभाव है कि सत्यको सत्यरूपसे प्रतीत करे और परकी ओर आकृष्ट न होकर अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित (संयत) रहे, किन्तु संसारी जीवोंके इस स्वभावके भी प्रायः विपरीत परिणमन पाया जा रहा है। आत्मा सूक्ष्म एवं अमूर्त है, किन्तु संसार अवस्थामें जीव देहबन्धनबद्ध बन रहा है। आत्मा पूर्ण एवं एकस्वरूप है, किन्तु संसार अवस्थामें उच्च अथवा नीचरूपसे जीव व्यवहृत हो रहे हैं। आत्माका परमैश्वर्य स्वभाव है, किन्तु चारों गतियोंमें संसारी जीव भटक रहा है। इन सब बाधाओंका कारणभूत जो तत्त्व है वह कर्म है।

कर्म निमित्त है, आत्माके रागादिविकार होना नैमित्तिक है। जैसे मदिरापानका निमित्त पाकर मनुष्य मतवाला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मके उदयादि को निमित्त पाकर जीव नाना विकारोंरूप, अपूर्ण विकासरूप परिणम रहा है। जैसे स्फटिक तो स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु लाल पीले आदि डाक उपाधिका संयोग पाकर लाल पीला आदि प्रतिबिम्बरूप परिणम जाता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे स्वच्छ है, किन्तु कर्म उपाधिका निमित्त पाकर नाना विकार रूप परिणम जाता है। जैसे जल तो स्वच्छ है किन्तु कर्दम, शेवाल आदिके संयोगको निमित्त पाकर मलिन प्रतिभास होता है। वैसे आत्मा तो स्वच्छ है किन्तु कर्मउपाधिका निमित्त पाकर आत्मा मलिन प्रतिभास होता है। जैसे सूर्य तो प्रकाशस्वभावी है, किन्तु केतु विमानका आवरण होनेपर प्रकाश आवृत हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी पूर्णविकास स्वभावी है, किन्तु कर्मका आवरण होनेपर इसका विकास आवृत हो जाता है। इस प्रकार जीवके विकार

रूप जितना मायाजाल है वह जीवका निजस्वरूप नहीं है, प्रकृतिको निमित्त करके हुआ विकृत परिणमन है। इसी कारण कोई इसे मायाको प्रकृतिका विकार कहते हैं तो कोई ईश्वरकी लीला कहते हैं। अपेक्षादृष्टिसे देखनेपर दोनों विचार युक्तियुक्त हो जाते हैं।

संसारी जीवोंमें आठ प्रकारके विभाव कार्य देखे जानेके कारण कर्म ८ प्रकारकी जातिमें गर्भित है। वैसे तो कर्म असंख्यात अथवा अनन्त हैं। कर्म आठ इस प्रकार हैं—(१) ज्ञानावरण (जो आत्माका ज्ञानगुण प्रकट न होने दे), (२) दर्शनावरण (जो आत्माका दर्शनगुण प्रकट न होने दे), (३) वेदनीय (जो जीवको सुख या दुःख अनुभव करावे), (४) मोहनीय (जो जीवके श्रद्धा व चारित्र गुण में विकार उत्पन्न करावे), (५) आयु (जो जीवको नाना गतियोंमें, शरीरोंमें रोके रखे), (६) नाम (जो जीवके देहके निर्माणका कारण बने), (७) गोत्र (जो जीवमें ऊंच नीच कुलका व्यवहारका कारण हो), (८) अन्तराय (जो जीवके शक्ति गुणको प्रकट न होने दे)। यद्यपि ये कर्म जीवके उक्त विकार, विभाव कार्यको करता नहीं है, करना तो जीवको ही है, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध है कि कर्मके उपाधि बिना ये जीवके विभाव नहीं होते, कर्म उपाधि को पाकर ही जीवविभाव होते हैं। जो कर्म जिस विकारके निमित्त है वह उस कर्म की प्रकृति है। कर्मका अपर नाम प्रकृति है। अतः कर्मजन्य विकारको प्रकृतिजन्य विकार, कर्मबन्धको प्रकृतिबन्ध, कर्मविच्छेदको प्रकृतिविच्छेद कहते हैं।

उक्त आठ कर्म भी अपनी अपनी जातिमें नाना प्रकारके हैं। ज्ञान नाना प्रकारके होते हैं। उन उन ज्ञानोंके आवरण होनेसे ज्ञानावरण भी नाना प्रकारका है। दर्शन भी नाना वातावरणों से नाना प्रकारके हैं। उन उन दर्शनोंके आवरण होनसे दर्शनावरण भी नाना प्रकारका है। सुख दुःख नाना हैं, उनका कारणभूत वेदनीयकर्म भी नाना प्रकार का है। श्रद्धा चारित्रके स्थान भी नाना हैं, उनके विकारका कारण होनेसे मोहनीय कर्म भी नाना प्रकारका है, जीवमें नाना आशय व क्रोधादि नाना कषाय मोहनीयकर्मके निमित्तसे होते हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव—इन चार गतियोंमें रोके रहने का कारणभूत

आयु भी चार प्रकारका है अथवा अवान्तरभेदसे नाना प्रकारका है, नाना प्रकारके शरीरका कारणभूत नामकर्म भी नानाप्रकारका है। नानाकुलोके होनेसे गोत्रकर्म भी नाना प्रकारका है। नाना शक्तियोमे अन्तराय करनेवाला अन्तराय कर्म भी नानाप्रकारका है।

कभी यह आशंका हो सकती है कि कर्म तो जड है, वे जीवको फल कैसे दे सकते है ? इसका मुख्य उत्तर तो यह है कि कर्म जीवको फल नही देता, किन्तु जीव ही उन उन कर्मोको निमित्त पाकर वैसे वैसे फल पाता रहता है। कर्म भी क्या है ? पहिले किये गये रागादि करनीके प्रतिरूप जिससे यह तो निःसशय सर्वसम्मत है ही कि जीव अपनी करनीका फल पाता रहता है।

ये कर्म जीवके साथ कब तक बधे रहते है याने कब तक इनका सत्त्व रहता है अथवा कर्मोकी कितनी स्थिति होती है ? इसका विवरण नाना व्यवस्थाओमें है। ज्ञानावरण कर्मकी, जघन्य स्थिति एक मुहूर्तसे भी बहुत कम है। यह स्थिति उनके ही होती है जो योगी मोहका समूलक्षय करके वीतराग तो हो चुके है, किन्तु सर्वज्ञ, परमात्मा नहीं हुए हैं। ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोड़ी सागरकी होती है। यह काल असख्यात युगोका होता है। यह स्थिति मोहीजीवोके होती है। दर्शनावरणकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति आदि ज्ञानावरणकी तरह है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, यह भी वीतराग योगियोके होती है। वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी है, यह स्थिति मोहियोके होती है। मोहनीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, यह स्थिति वीतराग होनेके निकट सन्मुख हुए योगियोके होती है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागरकी होती है, यह तीव्रमोहियोके होती है। आयुकर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति क्षुद्र तिर्यञ्च व क्षुद्र मनुष्योके ही हो सकती है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की होती है, यह स्थिति भी असख्यात युगों की है और यह स्थिति अधमाधम नारकी या उत्कृष्टोत्कृष्ट देवके होती है। नामकर्मकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति अशरीर

(सिद्ध) होनेके सन्मुख हुए सर्वज्ञ परमात्मा (सशरीर परमात्मा) के होती है। नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है, यह स्थिति मोही जीवके होती है। गोत्रकर्मकी भी बात नामकर्मकी तरह है। अन्तराय-कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है, यह स्थिति सर्वज्ञानके सन्मुख हुए वीतराग योगियोंके होती है। अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, यह स्थिति मोही जीवोंके अन्तरायकर्मकी होती है।

उन सब बद्धकर्मस्कन्धोंमें अनुभागशक्ति भी बन्धके समय ही हो जाती है—अर्थात् वे कर्म उदय व उदीरणाके समय अपनी प्रकृतिरूपसे कितनी डिगरीके फल देनेमें कारण हो सकते हैं ऐसा अनुभागबन्ध हो जाता है। शुभ, अशुभ परिणामोंसे बांधे गये होनेके कारण कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुण्यकर्म, दूसरा पाप कर्म। पुण्यकर्ममें अनुभाग ४ प्रकारका होता है—गुड़, खांड, मिश्री व अमृतकी तरह उत्तरोत्तर मधुर अनुभाग। पापकर्ममें भी अनुभाग चार प्रकारका होता है—नीम, कंजी, विष व हालाहलकी तरह कटु अनुभाग। अनुभागकी येचार चार जातियाँ है, एक एक जातिमें अनेक अनेक प्रकारका अनुभागहो ा है।

इस प्रकार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागरूपसे चार प्रकारके बन्धनको प्राप्त कर्मस्कन्धोंसे बद्ध यह जीव शरीरके भारको लिये नाना दुःख प्राप्त कर रहा है। इन दुःखोंमें वस्तुतः जीवका अपना अपना भ्रमभाव व कषायभाव ही कारण हैं कि जिन परिणामोंका निमित्त पाकर कर्म व देहकी विडम्बना लेना पड़ती है। भेद विज्ञान व आत्मस्थिति होने पर ये विडम्बनायें स्वयं समाप्त हो जाती हैं।

कर्म जीवको कुछ भी किसी प्रकार परिणमा नहीं देते, किन्तु जिस जातिके कर्मका उदय आता है व उसके अनुरूप जीवमें भाव स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। जिस जातिके कर्मका क्षयोपशम होता है, उसके अनुरूप जीवमें कुछ विकास होता है। जिस जातिके कर्मका उपशम होता है उसके अनुरूप विशेष विकास हो जाता है। जिस जातिके कर्मका क्षय हो जाता है उसके अनुरूप उस गुणका पूर्ण विकास हो जाता है। इस प्रकार कर्मकी विविध अवस्थावोंका निमित्त पाकर जीवमें स्वयं परिणमन होते रहते है। किस कर्म प्रकृति

निमित्तसे जीवमें क्या परिणमन हो जाया करते हैं ? इसकी झलकके लिये सभी कर्म प्रकृतियोंका लक्षण बताते है।

कर्म—उन्हें कहते हैं जो आत्माके वास्तविक स्वभावको प्रगट न होने दें।

इस लोकमें सब जगह कार्माण वर्गणायें भरी हुई हैं, जब आत्मा कषाय करता है तब वे कर्म रूप बंध जाती है और उनमें फलके निमित्त होनेकी शक्ति हो जाती है।

कर्म ८ होते हैं— (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय।

ये ८ मूल कर्म है, इनकी उत्तरप्रकृतियां १४८ होती हैं, वे इस प्रकार है—

ज्ञानवरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकर्मकी ९३, गोत्र कर्मकी २, अन्तराय कर्मकी ५।

ज्ञानावरण कर्म उसे कहते है—जिसके उदयसे आत्माके ज्ञानगुणका योग्य विकास न हो।

ज्ञानावरणकर्मके पांच भेद हैं—(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्ययज्ञानावरण, (५) केवलज्ञानावरण।

मतिज्ञानावरण—मन और इन्द्रियोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और उस मतिज्ञानको जो प्रगट न होने दे उसे मतिज्ञानावरण कहते हैं।

श्रुतज्ञानावरण—मतिज्ञानसे जाने हुये पदार्थमें विशेप ज्ञान होना श्रुतज्ञान है और जो श्रुतज्ञानको प्रगट न होने दे उसे श्रुतज्ञानावरण कहते हैं।

अवधिज्ञानावरण—मन और इन्द्रियोंकी सहायताके विना आत्मीय शक्तिसे द्रव्यक्षेत्रकाल भावकी मर्यादा लेकर रूपी पदार्थोको जानना अवधिज्ञान है और जो अवधिज्ञानको प्रगट न होने दे उसे अवधिज्ञानावरण कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानावरण—मन और इन्द्रियोंकी सहायताके विना आत्मीक शक्तिसे दूसरेके मनके विचारको और विचारमें आये हुये रूपी पदार्थको जानना मनःपर्ययज्ञान है और जो मनपर्ययज्ञानको न होने दे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं।

केवलज्ञानावरण—तीन लोक व तीन कालके सब पदार्थोको केवल आत्मीय शक्तिसे एकसाथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं और जो केवलज्ञान प्रगट न होने दे उसे केवलज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण—उसे कहते हैं जिसके उदयसे आत्माका दर्शनगुण प्रगट न हो।

दर्शनावरणकर्म की ६ प्रकृतियां हैं— (१) चक्षुर्दर्शनावरण (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानगृद्धि।

चक्षुर्दर्शनावरण—चक्षुरिन्द्रयके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उससे पहले होने वाले सामान्यप्रतिभासको चक्षुर्दर्शन कहते हैं। उसे जो प्रगट न होने दे उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते है।

अचक्षुर्दर्शनावरण—नेत्रके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानसे पहले जो सामान्य प्रतिभास है वह अचक्षुर्दर्शनको प्रगट न होने दे; उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण—अवधिज्ञानसे पहले होनेवाले सामान्य प्रतिभासको अवधिदर्शन कहते हैं और जो अवधिदर्शन का आवरण करे, उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवलादर्शनावरण—केवलज्ञानके साथ साथ होनेवाले सामान्यप्रतिभासको केवलदर्शन कहते हैं और जो केवल दर्शनको प्रगट न होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं।

निद्रा (दर्शनावरणकर्म) उसे कहते है—जिसके उदय से नींद आवे।

निद्रानिद्रा उसे कहते हैं—जिसके उदय सें पूरी नींद लेकर भी फि सो जावे।

प्रचला उसे कहते हैं—जिसकें उदय से बैठे बैठे या कोई कार्य करं करते सोता रहे, अर्थात् कुछ सोता रहे कुछ जागता रहे।

प्रचलाप्रचला उसे कहते है—जिसके उदयसे सोते हुए मुखसे लार बह लगे और अंग उपांग भी चलते रहें।

स्त्यानगृद्धि उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नींदमें ही अपनी शक्तिसे बाहर कोई काम करले और जगनेपर मालूम भी न हो कि मैंने क्या किया ?

वेदनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियोंके विषयका अनुभव हो। इससे जीव सुख या दुखका वेदन करता है।

वेदनीयकर्मके २ भेद हैं—(१ सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय।

सातावेदनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे इन्द्रियसुखरूप अनुभव हो।

असातावेदनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे दुःखरूप अनुभव हो।

मोहनीयकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे मोह, राग और द्वेष उत्पन्न हो।

इसके मूल २ भेद हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय।

दर्शनमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घात हो।

चारित्रमोहनीय उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्माके चारित्र गुणका घात हो।

दर्शनमोहनीयके ३ भेद हैं— (१) मिथ्यात्व, (२) सम्यङ्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति।

मिथ्यात्व उसे कहते हैं—जिसके उदयसे मोक्षमार्गका श्रद्धान न हो सके और शरीर आदि पर पदार्थोंमें व पर्यायमें आत्मबुद्धि हो।

सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति उसे कहते है—जिसके उदयसे मिश्र परिणाम हों, जिन्हें न तो केवल सम्यक्त्वरूप कह सकते है और न केवल मिथ्यात्वरूप कह सकते हैं।

सम्यक्प्रकृति उसे कहते है—जिसके उदयसे सम्यग्दर्शन का पूर्ण घात तो न हो, परन्तु उसमें चल मलिन अगाढ़ दोष उत्पन्न हो।

चारित्रमोहनीयके २ भेद हैं—(१) कषाय, (२) नोकषाय।

कषाय के १६ भेद हैं— १—४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। ५—८ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। ९—१२ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। १३—१६ संज्वलन क्रोध मान, माया लोभ।

नोकषायके ६ भेद है—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) पुंवेद, (८) स्त्रीवेद, (६) नपुंसकवेद।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते हैं—जिनके उदयसे आत्माका सम्यग्दर्शन प्रगट न हो व स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न हो।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, उन्हें कहते हैं—जिनके उदयसे देशचारित्र प्रकट न हो सके।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते हैं—जिनके उदयसे सकल चारित्र प्रकट न हो सके।

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, उन्हें कहते हैं—जिनके उदयसे यथाख्यातचारित्र प्रकट न हो सके।

हास्यप्रकृति उसे कहते हैं— जिसके उदयसे हंसी आवे।

रतिप्रकृति उसे कहते हैं— जिसके उदयसे इष्टविषयमें प्रीति उपजे।

अरतिप्रकृति उसे कहते हैं—जिसके उदयसे अनिष्ट विषयमें द्वेष उपजे।

शोकप्रकृति उसे कहते हैं—जिसके उदयसे शोक हो। भयप्रकृति उसे कहते हैं—जिसके उदयसे डर हो। जुगुप्सा प्रकृति उसे कहते हैं—जिसके उदय से ग्लानि हो

पुंवेद उसे कहते हैं—जिसके उदयसे स्त्रीसे रमनेके परिणाम हों।

स्त्रीवेद उसे कहते हैं—जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेके परिणाम हो।

नपुंसकवेद उसे कहते हैं—जिसके उदयसे पुरुष व स्त्री दोनोंके रमनेके परिणाम हों।

३ दर्शनमोहनीय, २५ चारित्रमोहनीय, सब मिलकर मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियां हैं।

आयुकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्मा शरीरमें रुका रहे।

आयुकर्मके ४ भेद हैं—(१) नरकायु, (२) तिर्यंगायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।

नरकायु उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्मा नारक शरीरमें रुका रहे।

तिर्यंगायु उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्मा तिर्यञ्चके शरीरमें रुका रहे।

मनुष्यायु उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्मा मनुष्यके शरीरमे रुका रहे।

देवायु उसे कहते हैं—जिसके उदयसे आत्मा देवके शरीरमें रुका रहे।

नामकर्म उसे कहते है—जिसके उदयसे नाना प्रकार के शरीर व शारीरक भावोंकी रचना हों।

नामकर्मके ६३ भेद हैं—गति ४, जाति ५, शरीर ५, आङ्गोपाग ३, निर्माण १, बंधन ५, संघात ५, संस्थान ६, संहनन ६, स्पर्श ८, रस ५, गंध २ वर्ण ५, आनुपूर्व्य ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति २, प्रत्येकशरीर, त्रस, बादर, पर्याप्ति, शुभ, सुभग, सुस्वर, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति, साधारणशरीर, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अस्थिर, अनादेय, अयशः कीर्ति, तीर्थंकरप्रकृति।

गति (४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे नारक तिर्यंच मनुष्य देवके आकार शरीर हो व इन गतिके योग्य भाव हो।

जाति (५ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे गतियोंमे एकेन्द्रिय आदि सादृश्य धर्म सहित उत्पन्न हो।

शरीर (५—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे उस उस शरीरकी रचना हो।

औदारिक शरीर—मनुष्य तिर्यंचोंके शरीरको कहते हैं—जिसके उदयसे औदारिक शरीरकी रचना हो, उसे औदारिकशरीरनामकर्म कहते है।

वैक्रियक शरीर-देव नारकियोंके शरीरको (जो छोटा बड़ा, अनेक प्रकार किया जा सके) वैक्रियक शरीर कहते हैं, जिसके उदयसे वैक्रियक शरीरकी रचना हो, उसे वैक्रियकशरीरनामकर्म कहते हैं।

आहारक शरीर-आहारक ऋद्धि धारी प्रमत्त विरत मुनिके जब कोई शंका उत्पन्न हो या वंदनाका भाव हो तब उन मुनिके मस्तकमे एक हाथका, श्वेत, शुभ व्याघातरहित पुतला निकलता है और वह केवली, तीर्थंकर आदिके दर्शन कर वापिस आकर मस्तकमे समा जाता है, उस समय मुनिके शंका दूर हो जाती है उस शरीरको आहारकशरीर कहते है और जिसके उदयसे आहारक

शरीरकी रचना हो, उसे आहारकशरीरनामकर्म कहते है।

तैजसशरीर—जो तेज (कांति) का कारण हो वह तैजस शरीर है, जिसके उदयसे तैजस शरीरकी रचना हो, उसे तैजसशरीर नामकर्म कहते हैं।

कार्मणशरीर—कर्मोंके समूह या कार्यको कार्मणशरीर कहते हैं—जिसके उदयसे कार्मणशरीरकी रचना हो, उसे कार्मणशरीरनामकर्म कहते है।

अङ्गोपाङ्ग—(३ औदारिक, वैक्रियक आहारक अङ्गोपाङ्ग) नामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे २ हाथ, २ पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय, मस्तक इन आठों अंगोंको व आँख, नाक, अंगुलि आदि उपाङ्गोंकी रचना हो।

निर्माणनामकर्म उसे कहते हैं—जिसके उदयसे ठीक ठीक स्थान पर ठीक ठीक प्रमाणसे अङ्ग उपाङ्गोंकी रचना हो।

बंधन नामकर्म (५—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण) उसे कहते है—जिसके उदयसे उन शरीरोंके परमाणु आपसमें मिले रहें।

संघात नामकर्म (५—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण) उसे कहते हैं, जिसके उदयसे शरीरके परमाणु बिना छिद्रके मिले रहें।

संस्थान नामकर्म (६—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, वामन, कुब्जक, हुंडक) नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे शरीरकी आकृति बने। समचतुरस्रसंस्थान नामकर्मके उदयसे शरीरकी आकृति बिलकुल ठीक बनती है।

न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान नामकर्मके उदयसे बडके पेड़की तरह शरीरका आकार होता है, अर्थात् नाभिसे नीचेके अंग छोटे और ऊपरके अंग बड़े होते हैं।

स्वातिसंस्थान नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार सांपकी बामीकी तरह होता है, अर्थात् नाभिसे नीचेके अंग बड़े और ऊपरके अंग छोटे होते हैं।

वामनसंस्थान नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार बौना होता है।

कुब्जकसंस्थान नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे शरीर कुबड़ा हो।

हुंडकसंस्थान-नामकर्मके उदयसे शरीरके अंग उपांग खास शक्लके नहीं होते व बुरे आकारके बनते हैं।

संहनन नामकर्म (६ वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन) उसे कहते हैं, जिसके उदयसे शरीरकी

हड्डी आदिका बंधन विशेष हो।

वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म उसे कहते है, जिसके उदयसे वेठन, कीली, हड्डी वज्रके समान हों।

वज्रनाराचसंहनन नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे कीली और हड्डी वज्रके समान हों।

नाराचसंहनन नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे हड्डियोंमें कीली लगी रहती है।

अर्द्धनाराचसंहनन नामकर्म उसे कहते है, जिसके उदयसे हड्डियोकी संधियां आधी कीलित होती हैं।

कीलकसंहनन नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे हड्डियोंकी संधियां कीलों से मिली हुई रहती हैं।

असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे जुदी—जुदी हड्डियां नसोंसे बंधी हुई रहती हैं।

स्पर्श—(स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, मृदु, कठोर लघु, गुरु) नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे शरीर में प्रतिनियत स्पर्श हो।

रस—(५—अम्ल, मधुर, कटु, तिक्त कषायित,) नामकर्म उसे कहते हैं जिसके उदयसे शरीरमें प्रतिनियत रस हो।

गंध—(२, सुगंध और दुर्गंध) नामकर्म उसे कहते हैं, जिस के उदयसे शरीरमें प्रतिनिनियत गंध हो।

वर्ण—(५, कृष्ण, नील, पीत, रक्त, स्वेत,) नामकर्म उसे कहते है, जिसके उदयसे शरीरमें प्रतिनियत वर्ण (रूप) हो।

आनुपूर्व्य—(४, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगत्यानुपूर्व्य) नामकर्म उसे कहते हैं, जिसके उदयसे विग्रहगतिमें आत्माके प्रदेश पूर्व शरीर के आकारको धारण करें।

अगुरुलघु नामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे न तो लोहेके गोलेके समान भारी शरीर हो और न आकके तूलके समान हल्का शरीर हो।

उपघात नामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अपने ही घात करने

वाले अंग उपांग या वातपित्तादि हों।

परघात नामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे दूसरों के घात करने वाले अंग उपांग हों।

आतपनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे आतप रूप शरीर हो।

उद्योतनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर हो।

उच्छ्वासनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे श्वास उच्छ्वास की क्रिया हो।

विहायोगति (प्रशस्त, अप्रशस्त) नामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे गमन हो।

प्रत्येकशरीर नामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे एक शरीरका स्वामी एक जीव हो।

त्रसनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें जन्म हो।

सुभगनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे विरूप आकार होकर भी दूसरोंको प्रीति उत्पन्न हो।

सुस्वरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अच्छा स्वर हो।

शुभनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे सुन्दर अवयव हो।

बादरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे दूसरोंको बाधाका कारणभूत स्थूल शरीर हो।

पर्याप्तिनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अपने अपने योग्य यथासंभव (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) पर्याप्तियोंको पूर्ण करे।

स्थिरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे शरीर के रसादिक धातु और वातादि उपधातु अपने अपने ठिकाने (स्थिर) रहें।

आदेयनामकर्म उसे कहते हैं जिसके उदयसे कान्तिसहित शरीर हो।

यशःकीर्तिनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे यश और कीर्ति हो।

साधारणशरीरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे अनेक आत्माओंके

उपभोगका कारणभूत एक शरीर हो।

स्थावरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिमें जन्म हो।

दुर्भगनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे रूपादिक गुण सहित होनेपर भी दूसरोंको अच्छा न लगे।

दुःस्वरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे स्वर अच्छा न हो।

अशुभनामकर्म—उसे कहते है जिसके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर न हों।

सूक्ष्मनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर हो जो न स्वयं दूसरे शरीरसे रुके न दूसरोंको रोके।

अपर्याप्तिनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो और मरण हो जाय।

अस्थिरनामकर्म—उसे कहते है जिसके उदयसे शरीर के धातु, उपधातु अपने अपने ठिकाने न रहें।

अनादेयनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे कान्ति रहित शरीर हो।

अयशःकीर्तिनामकर्म—उसे कहते है जिसके उदयसे अपयश और अकीर्ति हो।

तीर्थंकरनामकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे विशेष अतिशय सहित अर्हंत हो।

संतानक्रमसे चले आये जीवके आचरणको गोत्रकर्म कहते हैं।

गोत्रकर्म के २ भेद हैं— (१) उच्चगोत्र, (२) नीचगोत्र।

उच्चगोत्रकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे जीव लोकमान्य कुलमे देह देह धारण करे।

नीचगोत्रकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे जीवलोकनिन्द्य कुलमें देह धारण करे।

अन्तरायकर्म

अन्तरायकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे दान आदिमें विघ्न हो।

अन्तरायकर्म के ५ भेद हैं—(१) दानांतराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगांतराय, (५) वीर्यान्तराय।

दानान्तरायकर्म—उसे कहते हैं जिसको उदयसे दानमें विघ्न हो।

लाभान्तराय—उसे कहते हैं जिसके उदयसे लाभ न हो सके।

भोगान्तरायकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे भोग न कर सके।

उपभोगांतरायकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे उपभोग न कर सके।

वीर्यान्तरायकर्म—उसे कहते हैं जिसके उदयसे शक्ति प्रगट न हो सके।

घातिया और अघातिया

८ कर्मोंमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार कर्मोंको घातिया कर्म कहते हैं और वेदनीय; आयु, नाम व गोत्र—इन चार कर्मोंको अघातिया कर्म कहते हैं।

घातिया—जो आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, गुण को घाते वे घातिया कर्म है।

अघातिया—जो आत्माके गुणको तो न घातें, परन्तु घातने के सहायक शरीर आदिकी रचना करावें, वे अघातिया कर्म हैं।

२६—पुनर्जन्म

यह जीव एक देहसे वियुक्त होनेके बाद दूसरे देहको ग्रहण करता है या नहीं? इसमें अनेकोंको संशय है। कितने ही लोग तो इस पुनर्जन्मका दृढ़तासे निषेध करते हैं और कितने ही लोग पुनर्जन्मकी परम्परासे चली आई हुई बातको कहलेते हैं, सुन लेते हैं व समर्थन भी कर देते हैं, किन्तु अन्तःप्रमाणीभूत नहीं कर पाते। जीवका पुनर्जन्म होता है याने देहान्तरको धारण करता है, इस सम्बन्धमें ये ये प्रमाण हो सकते हैं।

(१) जो सत् होता वह कभी नष्ट नहीं होता तथा अपने आपमें उत्पाद

व्यय करता हुआ रहता है यह भली भांति प्रत्यक्ष, युक्ति एवं स्वानुभवसे सिद्ध है। आत्मा भी सत् है, वह एक देहके छोड़नेके बाद नष्ट हो जाता हो यह तो हो नही सकता, अब रहता किस स्थितिमें है ? यही समझनेको रह जाता है। यदि यह जीव वीतराग, निर्दोष, केवलज्ञानी, परमात्मा होगया होता तब तो वह केवल अशरीर सिद्ध हो जाता, किन्तु जो जीव राग द्वेषसहित ही रह कर मरण करते है, वे इस रागद्वेष अवस्थामें रहनेवाले देहबन्धनकी तरह आगे भी देहबन्धनमें रहते हैं। इसीको पुनर्जन्म, देहान्तरधारण, पुनरागमन, नवभवग्रहण आदि कहते हैं।

(२) किन्हीं किन्हीं बालकों आदिको पूर्वजन्मस्मरण (जातिस्मरण) हो जाता है, यह बात भी समझनेमें आई हुई है।

(३) यहां उत्पन्न हुआ बालक बिना ही समझाये बताये कैसे माताके स्तन को चूसने लगता है, दूधको गलेसे निकालता है आदि बात पूर्वजन्मके संज्ञा संस्कारको सिद्ध करती है।

(४) कोई बालक थोड़ा सिखाये जानेपर भी बहुत सीख जाता है और कोई बालक बहुत सिखाये जानेपर कम सीख पाता है व कोई सीख ही नही पाता है। ये भेद जीवके पूर्वजन्मके संस्कार व योग्यताओंको बताते है, जिससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

इत्यादि अनेक युक्तियों और अनुभवोंसे पुनर्जन्म सुप्रतीत होता है।

जीव एक देहसे निकलनेके बाद दूसरे देहको कितनी जल्दी ग्रहण कर लेता है ? इसका सामान्यरूपसे तो यही उत्तर है कि जितने जल्दी हो सकता हो उतने जल्दी ग्रहण कर लेता है, क्योंकि यह जीव अपने आचार विचारोंके कारण इसही जन्ममे उन सब कर्मोका भी बन्ध कर लेता जो अगले देह, विचार, सुख, दुःखके निमित्तभूत होते है। (वह जल्दीसे जल्दी समय कितना है ? उत्तर—जब हम एटम (सूक्ष्म स्कन्ध) को देखते हैं कि इतनी द्रुतगतिसे जाता है तब एक परमाणुकी द्रुतगति तो एक क्षण (समय) में लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुंच जाता सिद्ध हो चुका है और जीव जो कि परमाणुसे भी सूक्ष्म है, क्योंकि यह अमूर्त है, वह भी एक समयमें लोकके एक छोरसे दूसरे छोर

तक जा सकता है इस भौतिकशरीरसे निकलनेके बाद। इससे सिद्ध होता है कि जीव एक समयमें ही देहान्तरधारणके स्थानमें पहुंच जाता है। यदि कोई जन्मस्थान ऐसा हो कि कहीं जीवको मुड़कर जाना पड़े क्योंकि स्थूल शरीर रहित जीव दिशासे सामने दिशाकी ओर ही जाता है तो अधिकसे अधिक तीन समय बाद जन्म धारण कर लेता है, क्योंकि लोक इसी आकारका है जहां ऐसे जीवको मुड़कर भी जाना पड़े तो ३ से अधिक मोड़े हो ही नहीं सकते।

कितने ही लोगोंकी धारणा है कि जीव १२-१३ दिन तक नवीन देह धारणकी खोजमें परेशान रहता है। यह भ्रम अथवा स्वार्थकी ही बात है। स्वार्थकी तो यह बात है कि लोकोंकी यह धारणा बन जाय कि १३ वें दिन जब तक लोगोंको खूब न खिला दिया जाय तब तक मृत जीवका ठिकाना नहीं लगता। भ्रमकी बात तो स्पष्ट है। मरनेके बाद तो क्या जीवनमें भी किसीके कुछ करनेसे किसी अन्यको दानफल या सुख नहीं मिल जाता। अन्य भवमें जाकर यह जीव अपने पूर्वार्जित कर्मके उदयके अनुसार व अपने परिणामके अनुसार फल प्राप्त करता रहता है।

जब यह जीव मरण करके दूसरे भवमें शरीर धारण करने जाता है तब पूर्ण शरीर तो छूट गया व नवीन शरीर मिला नहीं। इस बीचके रास्तेमें सूक्ष्म शरीरके साथ जाता है। जन्मस्थानपर पहुंचनेपर दूसरे शरीरके योग्य परमाणुवोंका तुरंत ग्रहण कर लेता है, परन्तु उसमें जब तक वृद्धि और रचना नहीं होती तब तक वह शरीर अपर्याप्त कहलाता है। कितने ही पापी जीव ऐसे हैं कि अपर्याप्त शरीरमें ही मरण कर पुनः दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, फिर अपर्याप्त शरीरमें ही मरणकर दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, ऐसा कई बारों तक होता है। किन्हींका अनन्तकाल तक भी होतारहता है। ऐसे जीव लब्ध्यपर्याप्तक कहलाते हैं, किन्तु जो लब्ध्यपर्याप्तक नहीं किन्तु निर्वृत्यपर्याप्तक है, वे अपर्याप्त शरीरमें मरण नहीं कर सकते हैं। थोड़ेही देर बाद अपर्याप्त शरीर पर्याप्त हो जाता है, फिर पर्याप्त शरीर यथायोग्य किसी समय मरण करते हैं।

यह जीव अनादिकालसे अनन्तानन्तों पुनर्जन्म करता चला आया है, फिर भी जिस जन्ममें पहुँचता है उस जन्मके समागममें प्राप्त चीजोंको आत्मा मानता

है व अपना मानता है। यही मान्यता पुनर्जन्मोंके होते रहनेमें कारण पड़ती है। पुनर्जन्मके उच्छेदका उपाय इससे उल्टा है। जो प्राप्त समागम है शरीरादि उन्हें आत्मा नहीं मानना, किन्तु आत्माको भिन्न चैतन्यस्वरूप रूप मानना और शरीरको पुद्गल स्कन्ध मानना, आत्मासे भिन्न समझना तथा धनादि द्रव्यको अपना नहीं मानना—यह सब पुनर्जन्मके उच्छेदका उपाय है।

जीव तो अमर है, पुद्गल भी अमर है, असत्का उत्पाद किसीका नहीं होता है किन्तु, प्रारब्धवश शरीरवर्गणाके स्कन्धोंमें जीवका एकक्षेत्रावगाहसे रहना और पुराने शरीरवर्गणाके स्कन्धोंका सम्बन्ध छोड़कर नये शरीरवर्गणावोंके स्कन्धोंका एक क्षेत्रावगाहरूपसे सम्बन्ध करना — इसे पुनर्जन्म कहते हैं।

जीवका पुनर्जन्म होता है। अतः परिणामोंकी निरन्तर सावधानी रखना आत्माका कर्तव्य है। पाप परिणामोंमें न बसना तो सद्गतिका उपाय है और पाप परिणामोंमें बसना असद्गतिका उपाय है। जीवकी विभूति पापपरिणामका अभाव है व जीवकी दरिद्रता पापपरिणामकी संभूति है। पापपरिणाम होनेको सबसे बड़ी अपनी हानि समझे और पापोदय होनेपर होनेवाली विपत्तिमें स्वभावमहिमाके परिचयके बलसे समताभाव धारण करे। ये ही परिणाम दुर्गतिसे बचानेवाले हैं अर्थात् पापयोनियोंमें पुनर्जन्म न हो सके ऐसी रक्षा करने वाले हैं।

२७–काल रचना

काल (समय) क्या किसीके द्वारा रचा गया है? ऐसी कल्पना भी किसीके आज तक नहीं हुई। जो भाई ऐसा आशय रखते हैं कि जीव और भौतिक पदार्थ किसी एक समर्थ चेतन (ईश्वर) द्वारा रचे गये हैं, उनका भी समय रचे जानेके बाबत अभिप्राय नहीं हो सकता। समय क्या है यह बात सभी मनुष्योंके चित्तमें स्पष्ट समझमें आ रहा है और वह इस रूपसे समझमें आ रहा है कि सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि समय ही तो हैं।

इस सम्बन्धमें नैयायिक, वैशेषिक आदि अनेक बन्धुओंने काल नामक पदार्थ माना है और जैनदर्शनमें कालनामक द्रव्य असंख्यात माने हैं जो कि लोकके एक

एक प्रदेशपर एक एक हैं। उनका एक एक समय (क्षण) के रूपमें होता है। उन परिणमनों (समयों)के यथायोग्य समुदायको सेकिण्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि कहते हैं।

यह काल कबसे चला आ रहा है? इसपर विचार करें तो ऐसा कहीं टिकाव ही नहीं हो सकता कि लो अमुक दिनसे पहिले तो काल (समय) था ही नहीं। कालकी कोई आदि ही नहीं। काल अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसका कभी अन्त ही नहीं होगा।

वस्तुतः काल सर्वदा एक समान ही है, परन्तु जिस जिस कालमें जीवोंका व भौतिक पदार्थोंका परिणमन विभिन्न विभिन्न देखा जाता है उस उस कालको नाना संज्ञाओंसे संज्ञित करके कहा जाता है। आज जो समय व्यतीत हो रहा है वह जीवोंके बल, बुद्धि, शरीर, पुण्य आदिकी उत्तरोत्तर हीनतामें बीत रहा है। यह हीनता कुछ काल तक और चलती रहेगी। अति चिरकाल तक हीनता चलती रहे यह नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होनेसे तो सर्व अणुमात्र रह जायगा और फिर उसका भी लोप हो जायगा। इससे यह क्षीणता कुछ समय तक और चलेगी। परिणाम यह निकला कि उसके बाद फिर जीवोंके देह बुद्धि, बल, पुण्यमें वृद्धि होती चलेगी। इसी प्रकार यह क्षीणता कुछ पहिलेसे चली आरही है। यह क्षीणता प्रारम्भसे चली आ रही है यह नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा माननेसे सर्व महत्ता, अनवकाश; स्वरूपाभाव आदि अनेक दोष आते है। परिणाम यह निकाला कि यह हानिप्रवाह कुछ पहिलेसे चल रहा है। इससे पहिले वृद्धिप्रवाह था। इस तरह कालचक्र दो भागोंमें बट जाता है— (१) वृद्धिकाल, (२) हानिकाल। जैनदर्शनमें वृद्धिकालका नाम उत्सर्पिणीकाल कहा है और हानिकालका नाम अवसर्पिणीकाल कहा है तथा एक वृद्धिकाल व एक हानिकालके समुदायका नाम कल्पकाल कहा है। अबसे पहिले अनन्तों कल्पकाल व्यतीत हो गये व अनन्तों कल्पकाल व्यतीत होंगे व होते रहेंगे।

वीतराग महर्षियोंने अपने दिव्यज्ञानसे बताया है कि अबसे पहिले गुजरा हुआ हानिकाल लम्बा है और आगेका हानिकाल उससे थोड़ा है। हानिकाल की ६ जातियाँ हों तो उनमें यह पांचवी जाती है और दुःखपूर्ण होनेसे इसे

दुःखमा कह सकते है। अब सोचें इस दुःखमाके बाद अतिदुःखमा याने दुःखमादुःखमा आवेगा और उसके अन्तमें हानिकाल समाप्त हो जावेगा। इस समय ऐसा प्रलय होगा कि सर्वविध्वंस तो नहीं, किन्तु अधिकाधिक प्राणियोंका विध्वंस हो जायगा। इसके पश्चात् वृद्धिकालके प्रारम्भमें अनेकों सुवृष्टियां होंगी और फिर सब प्रकारकी वृद्धियाँ होने लगेगी। वृद्धिकाल का पहिला काल दुःखमादुःखमा, द्वितीयकाल दुःखमा, तृतीयकाल दुःखमासुखमा, चतुर्थकाल सुखमादुखमा, पञ्चमकाल सुखमा व छट्ठाकाल सुखमासुखमा होगा। हानिकाल का पहिलाकाल सुखसुखमा, द्वितीयकाल सुखमा, तृतीयकाल सुखमादुःखमा, चतुर्थकाल दुखमासुखमा, पञ्चमकाल दुःखमा, छट्ठा काल दुःखमादुःखमा होता है। वर्तमानमें दुःखमानामक पञ्चमकाल चल रहा है।

वर्तमान, हानिकाल (अवसर्पिणीकाल) के पहिले काल (सुखमासुखमा) में अधिकाधिक भोगोंका समागम था, द्वितीयकाल (सुखमा) में मध्यमरूपसे भोगों का समागम था, तृतीयकाल (सुखमादुःखमा) मे जघन्यरूपसे भोगोंका समागम था। इन कालोंको सतयुग, द्वापर, त्रेतायुग भी कहा जाता है। इन तीनों को भोगभूमि भी कहते हैं। यहाँ तक तो कुछ भी व्यवसाय किये विना सहज ही भोगोंका समागम रहता था। इसके अन्तभागमें भोगसामग्रियां कम होने लगीं, विच्छिन्न होने लगी और भी अनेकों घटनायें घटने लगीं तब क्रमशः १४ मनु होते हैं जो प्रजाजनोंको सकटहारी उपायोंको वताते रहते हैं। १४ वें मनु नाभि राजा थे। इनके पुत्र ऋषभदेव थे। इनके कालमें खाने, पीने, रहने, कमाने आदिकी सर्वाधिक समस्यायें आईं उस समय प्रजाजन नाभिराजाके पास आते, उन्हें नाभिराजा ऋषभदेवके पास भेज देते। ऋषभदेव उन सब समस्याओंका हल कर देते थे। इसी कारण ऋषभदेवके प्रति प्रजाजनोंमे सृष्टि कर्ता माने जानेकी रूढि हो गई थी।

ऋषभदेव तृतीयकालके अन्तमे हुए और चतुर्थकालमें काफी दिनो तक रहे पश्चात् निःसङ्ग होकर ज्ञानयोगवलसे निर्माणको प्राप्त हुए। चतुर्थकाल (दुःखमासुखमा), पञ्चमकाल (दुःखमा), षष्ठकाल (दुःखमादुःखमा) इन तीनों कालोंको कलियुग, करयुग अथवा कर्मभूमि कहते है। इस कर्मभूमिके प्रथम

प्रसिद्ध परम पुरुष ऋषभदेव थे। जो कि वेदोंमें परम उपास्य, भागवतमें अष्टम अवतार व जैनदर्शनमें इस अवसर्पिणीकालके प्रथम तीर्थङ्कर थे। इनके पश्चात् भरतचक्री, बाहुबलि कामदेव, अर्ककीर्ति, सतयश, बलाङ्क, सबल, रवितेज, महाबल, अतिबल, अमृत, सभद्र, सागर भद्र, शशि, प्रभूततेज, तपबल, अतिवीर्य, सोभयश, सौम्य, महावज्र, भुजबलि, नमि, विनिमि, रत्नमाली, रत्नरथ, रत्नचित्र, चन्द्ररथ, वज्रसंघ, विजदंस्ट्र, वज्रबाहु, वज्रसुन्दर, विद्युद्दंस्ट्र, विद्युद्वेग, अश्वायुध, पद्मनाभि, पद्मरथ, सिंहयान, सिंहप्रभ, शशाङ्क, चन्द्राङ्क, चन्द्रशेखर, इन्द्ररथ, चक्रवर्म, चक्रायुध, चक्रध्वज, मणिरथ, पूर्णचन्द्र, वह्निजटी, धरणीधर, त्रिदशजय, जितशत्रु, अजितनाथ, सागरचक्री, भीमरथ, भगीरथ, सुलोचन, सहस्रायन, पूर्णमेघ, मेघवाहन, उदधिरक्ष, भानुरक्ष, महारक्ष, राक्षस, आदित्य गति, सुग्रीव, हरिग्रीव, भानुगति, इन्द्र, इन्द्रप्रभ, पवि, इन्द्रजीत, भानु, मुरारी, भीम, मोहन, सिंहविक्रम, चामुंड, भीष्म, अरिंदमन, निर्वाणभक्ति, अर्हद्भक्त, अनुत्तर, लंक, चंद्र, बृहद्गति, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वान, घनप्रभ, कीर्तिधवल, विद्युत्केश, सुकेश, माली, सुमाली, रत्नश्रवा, रावण, विभीषण, मेघवाहन, इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, सहस्रार, इन्द्र, सतीन्द्र, श्रीकण्ठ, अमरप्रभ, महोदधि, प्रतिचन्द्र, किहकंध, सूर्यरज, बाली, सुग्रीव, नल, नील, प्रह्लाद, वायुकुमार, हनुमान वज्राङ्गबली, मघवा चक्री, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, मुनिसुव्रतनाथ, जयसेन, नमिनाथ, ब्रह्मदत्त, त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण, कृष्ण ये ६ नारायण, अचल, विजय, सुभद्र, सुदर्शन, नंदिमित्र, नंदिषेण, रामचन्द्र, बलदेव ये ६ बलभद्र, सुव्रत, दक्ष, एलावर्द्धन, श्रीवर्द्धन, श्रीवृक्ष, संजयंत, कुणिम, महारथ, पुलोम, वासवकेतु, जनक, भामंडल, सीता, वसुदेव, समुद्रविजय, नेमिनाथ, बलदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, शंबु, युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधनादि, विजय, सुदेन्द्रमन्यु, वज्रबाहु, पुरंदर, कीर्तिधर, सुकौशल, सौदास, ब्रह्मरथ, सत्यरथ, पृथुरथ, पयोरथ, दृढरथ, सूर्यरथ, रविमन्यु, शतरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरण्यकश्यप, पुंजस्थल, कक्षस्थल, रघु, अनारण्य, दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, अनङ्गलवण, मदनाङ्कुश, पार्श्वनाथ,

महाव . , गौतम, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, धरसेनाचार्य गुणधराचार्य, पुष्पदन्त, भूतबलि आर्यमक्ष, नागहस्ती, यतिवृषभाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, कार्तिकेय, सिद्धसेन, अकलङ्कदेव, पात्रकेशरी, विद्यानंदी, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, जरथुस्त, कनफ्यूशस, लाओत्जे, पाइथागोरस, रोमलुम, सुलेमान, याओ, फिल्जे, अरस्तू, सुकरात, सिकन्दर, सैल्यूक, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, विक्रमादित्य, शाहंशाह, बिन्दुसार, अशोक, शहाबुद्दीन, सिकंदर, कातुबउद्दीन, चगेजखां, तैमूर, विलियम, बाबर, अकबर, जहांगीर, औरंगजेब, पृथ्वीराज, नानक, शिवाजी, प्रताप, भामाशाह आदि अनेकों राजा महाराजा, विद्वान व योगी हुए।

कालवश सभीको शरीर छोड़ना पड़ा। कोई तो शरीर छोड़कर मुक्त हुए, कोई स्वर्ग गये, कोई नरक गये, कोई पशु पक्षी आदि हुए। यह सब अपने अपने अर्जित पुण्य पापका फल है अथवा धर्मका फल है। जीव केवल अपने परिणाम ही कर सकता है अन्य किसी पदार्थके किसी भी प्रकारके परिणमनको नही कर सकता, किन्तु मोही जीव कल्पनामें अपनेको परका कर्ता मानकर अपना काल अर्थात् पर्याय मलिन बनाता है। परिणाम मलिन हुए तो उसका काल ही मलिन हुआ। जिसके परिणाम उज्जवल हुए उसका काल भी उज्ज्वल हुआ। काल वस्तुतः प्रत्येक पदार्थका अपना अपना परिणमन है। इसलिये काल सभी पदार्थोंके पीछे लगा हुआ है। पदार्थ है तो काल भी उसके अनादिसे है और अनन्त काल तक रहेगा।

यहांकी सामूहिक दृष्टिसे पहिले प्रतिक्षण उन्नतिका काल था। अब प्रतिक्षण अवनतिका काल है।

क्रमशः वृद्धि हानिके ये काल परिवर्तन इस भरतक्षेत्रोमें तथा ऐसे ही अन्य भरतक्षेत्रोमें व ऐरावत क्षेत्रोके आर्यखण्डमें होते है। बाकी स्थानोंपर जहां जैसा कुछ प्रवर्तमान है वही प्रायः बना रहता है।

कालकी पर्याय समय है। उनके कितने समूहोंमें क्या क्या व्यवहार होता है? यह दिखाया जाता है—

एक परमाणुके एक आकाशप्रदेशसे दूसरे आकाशप्रदेशमें मंदगतिसे जानेके कालको समय कहते हैं।

जघन्ययुक्तासंख्यात समयोंकी– १ आवलि

संख्यात आवलियोंका– १ उच्छ्वास $\frac{२८८०}{३७७३}$ सेकेन्ड)

७ उच्छ्वासोंका– १ स्तोक (५ $\frac{१८५}{५३९}$ सेकेन्ड)

७ स्तोकों का– १ लव (३७ $\frac{३१}{७७}$ सेकेण्ड)

३८॥ लवोंकी– १ नाली अर्थात् घड़ी (२४ मिनट)

२ नालीका– १ मुहूर्त (४८ मिनट)

३॥ मुहूर्तका– १ प्रहर

८ प्रहरका– १ अहोरात्र अर्थात् १ रातदिन

१५ अहोरात्रका– १ पक्ष

२ पक्षका– १ मास

२ मासकी– १ ऋतु

३ ऋतुका– १ अयन

२ अयनका– १ वर्ण

५ वर्णका– १ युग

१६८०००० युगका अर्थात् ८४ लाख वर्णका– १ पूर्वाङ्ग

८४ लाख पूर्वाङ्गका– १ पूर्ण

८४ लाख पूर्णका– १ नयुताङ्ग

८४ लाख नयुताङ्गका– १ नयुत

८४ लाख नयुतका– १ कुमुदाङ्ग

८४ लाख कुमुदाङ्गका– १ कुमुद

८४ लाख कुमुदका– १ पद्माङ्ग। ८४ लाख पद्माङ्गका– १ पद्म।

८४ लाख पद्म का– १ नलिनाङ्ग। ८४ लाख नलिनाङ्गका– १ नलिन।

८४ लाख नलिनका– १ कमलाङ्ग । ८४ लाख कमलाङ्गका– १ कमल ।
८४ लाख कमलका– १ त्रुटिताङ्ग । ८४ लाख त्रुटिताङ्गका– १ त्रुटित ।
८४ लाख त्रुटितका– १ अटटाङ्ग । ८४ लाख अटटाङ्गका– १ अटट ।
८४ लाख अटटका– १ अममाङ्ग । ८४ लाख अममाङ्गका– १ अमम ।
८४ लाख अममका– १ हाहाङ्ग । ८४ लाख हाहाङ्गका– १ हाहा ।
८४ लाख हाहा का– १हूहाङ्ग । ८४ लाख हूहाङ्गका– १ हूहू ।
८४ लाख हूहूका– १ लताङ्ग । ८४ लाख लताङ्गका– १ लता ।
८४ लाख लताका--१ महालताङ्ग । ८४ लाख महालताङ्गका--१ महालता ।
८४ लाख महालताका– १ श्रीकल्प । ८४ लाख श्रीकल्पका– १ हस्तप्रहेलित । ८४ लाख हस्तप्रहेलितका– १ अचलप्र ।

संख्यात अचलप्रोंका १ उत्कृष्ट संख्यात । इसके ऊपर असंख्यात व असंख्यातोंके ऊपर अनन्त आते है । जिनका क्रम इस प्रकार है–

जघन्यपरीतासंख्यात, मध्यपरीतासंख्यात, उत्कृष्ट परीतासंख्यात । जघन्ययुक्तासंख्यात, मध्यमयुक्तासंख्यात, उत्कृष्टयुक्तासंख्यात । जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात, जघन्य परीतानन्त, मध्यम परीतानन्त, उत्कृष्ट परीतानन्त । जघन्य युक्तानन्त मध्यम युक्तानन्त, उत्कृष्ट युक्तानन्त । जघन्य अनन्तानन्त, मध्यम अनंतानंत, उत्कृष्ट अनन्तानन्त । भगवानका ज्ञान (केवलज्ञान) उत्कृष्टअनन्तानन्त प्रमाण है अर्थात् केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त है । जिसका विवरण यह है कि जघन्य अनन्तानन्तको ३ बार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येक वनस्पति, पुद्गलराशि, कालके समय, अलोकाकाशके प्रदेश–ये ६ राशियां मिलाकर उत्पन्न हुई । राशिको फिर ३ बार वर्गित संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यसम्बन्धी अगुरुलघु गुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाकर जो लब्ध हो उस महाराशिको ३ बार वर्गित संवर्गित करे जो लब्ध हो उसे केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंमें से घटावे जो शेष हो उसे केवलज्ञानमें मिला देवे, इस प्रकार जो राशि हो, वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त है ।

२८—लोकरचना

अनेकों प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें भरतक्षेत्र, जम्बूद्वीप, सुमेरुपर्वत, आर्यखण्डकी चर्चा आई है, किन्तु आजकी इन्द्रियसाध्य प्रणालीमें १०—१२ हजार गज मील के विस्तार वाली दुनियां मानें जा रही। मानें, परन्तु ये अन्वेषक भी मानी हुई दुनियांसे अधिक अधिक स्थल पाये जानेपर और और मानते चले आये हैं। इससे यह नहीं माना जा सकता है कि जहां तक परिचित हम लोग आ जा सके हैं, उतनी ही दुनियां है। लोकका सारा कितना विस्तार है ? इसको जानने के यत्नमें हमें आर्षग्रन्थोंकी उपेक्षा नहीं करना चाहिये।

लोकरचना जाननेके लिये अब हम आर्षग्रन्थोंके निकट आवें। जैनसिद्धान्त में समस्त लोक एक पुरुषाकार है जिसमें आकार ऐसा है कि कोई पुरुष पैर पसारे कमर पर हाथ रखे हुए खड़ा है। उसके पीछे सर्वत्र ७ राजू विस्तार है। सामने पैरोंपर ७ राजू, फिर ऊपर चलकर घटकर कमरके पास एक राजू, फिर बढ़कर करीब छातीके पास ५ राजू, फिर घटकर ग्रीवाके पास एक राजू है। इस लोकके ठीक बीचमें ऊपर नीचे १४ राजू लम्बी त्रसनाली है, इसके ठीक बीचमें मध्यलोक है, उसके नीचे सात राजू में नीचे नीचे सात्तर ७ नर्क हैं। मध्यलोकसे ऊपर उर्ध्वलोक है, जिसमें ऊपर ऊपर ८ युगलोह, १६ स्वर्ग, फिर ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर विमान हैं। इससे ऊपर सिद्धशिला है, इससे ऊपर अन्तमें सिद्धलोक है। मध्यलोकके ठीक बीचमें सुमेरुपर्वत है। सुमेरुपर्वत मूलसे लगाकर अन्त तक एक लाख योजनका है। इतना ही माप नीचेसे ऊपर मध्यलोकका है। मध्यलोक तिर्यग् विस्तार असंख्यात योजनोंका है, जिसमें बीचमें जम्बूद्वीप है। उसको घेरकर लवणसमुद्र है, उसको घेरकर धातकी खंड द्वीप है, उसको घेर कर कालोद समुद्र है। इस प्रकार द्वीप और समुद्र पूर्व पूर्व को घेर कर हैं, वे भी असंख्यात हैं। जम्बूद्वीपका विस्तार १ लाख योजनका है। जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र हैं, (१) भरत, (२) हैमवत, (३) हरि, (४) विदेह जिसमें ३ भाग हैं, देव कुरु, उत्तरकुरु व कर्मभुक्तिक्षेत्र), (५) रम्यक, (६) [हैरण्]यवत, (७) ऐरावत। विदेहके बीचमें सुमेरु पर्वत है, यही जम्बूद्वीप का बीच है, यही समस्त लोकका बीच है। लवणसमुद्रका विस्तार एक ओर

२ लाख योजनका है इतना ही दूसरी ओर। इससे आगे सभी द्वीप समुद्र इसी तरह दुगुने दुगुने विस्तार वाले होते चले गये हैं। अधोलोकमें नरक पृथिवियां ७ हैं, इनके अन्तरमें कई पटल हैं। एक एक पटलमें कई कई संख्यात हजार असंख्यात हजार योजनके विस्तारवाले बिल हैं। इनमें नारकी जीव नाना क्लेश पाते हैं। ऊर्द्धलोकमे विमान रचना है जिनमें देवोंका निवास है। वे नाना ऐहिक सुख भोगते हैं। त्रसनालीमें ही त्रस जीव रह सकते हैं। एकेन्द्रिय (स्थावर) जीव तो समस्त लोकमें रहते हैं। इस समस्त लोकका ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जहां यह जीव अनन्तबार जन्म मरण न कर चुका हो। विस्तारभयसे इस लोकरचनाके सम्बन्धमें विवरण नहीं किया जाता।

क्षेत्रका सबसे छोटा भाग जिसका कि दूसरा भाग नहीं होता वह प्रदेश है। एक अगुलके असंख्यातवें भागकी अवगाहना वाला जीवदेह जितने स्थानको रोकता है उसमें भी असंख्यात प्रदेश हैं, असंख्यातों अंगुलियों प्रमाण राजू है, असंख्यातों योजनों प्रमाण राजू है। ३४३ घनराजूप्रमाण लोक है। इसका विस्तृत वर्णन करनेवाले तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि अनेक ग्रन्थ हैं। यह लोक अनादिनिधन है। किसीने लोक बनाया नहीं है। परमात्मा तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शाश्वतसहजानन्दके भोक्ता है।

वैष्णवसिद्धान्तमें भागवत पुराणमें बताया है कि इस पृथ्वीका एक चौथाई भाग लोकालोक पर्वतके नीचे दबा है शेष तीन भागोंपर सात द्वीप हैं, जिसमें जम्बूद्वीपमें लाख योजनभूमि है। सातों द्वीपोंकी सम्पूर्ण पृथ्वी पचास करोड़ योजन है। जम्बूद्वीपमें नौ खण्ड हैं—(१) उत्कलखण्ड, (२) हिरण्यखंड, (३) भद्राश्वखंड, (४) केतुमाल खण्ड, (५) इलाव्रतखण्ड (इसके बीचमें सुमेरु पर्वत है, १ लाख योजन ऊंचा है) (६) नाभिखण्ड, (७) किम्पुरुषखंड, (८) भरतखण्ड, (९) नरहरिखण्ड।

वैष्णवसिद्धान्तमें किसी पुराणमें यह भी लिखा है कि सूर्यसे दसहजार योजन नीचे राहुका रथ है, उससे १२ योजन नीचे सिद्ध, चारण व विद्याधर आदि देवतोंके रहनेका स्थान है। उसके १२ लाख योजन नीचे यक्ष, राक्षस व पिशाच रहते हैं। उनके १०० योजन नीचे मर्त्यलोक है। इत्यादि सब १४

लोक हैं। इनके इनके नाम— (१) पाताल, (२) रसातल, (३) महातल, (४) तलातल, (५) सुतल, (६) वितल, (७) अतल, (८) भूर्लोक, (९) भुवर्लोक, (१०) स्वर्लोक, (११) महर्लोक, (१२) जनलोक, (१३) तपलोक व (१४) सत्यलोक। सबसे नीचे पाताल है सबसे ऊपर सत्यलोक है।

इत्यादि प्राचीन ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें भूमिका विस्तार आधुनिक खोज वाली दुनियां से कितना ही अधिक है। उन आर्षलोकरचनाओंमें कौन यथार्थ है इसका परिचय उस उस दर्शनके अनेकों सिद्धान्तोंके अध्ययन करने पर स्वतः व्यवस्थित हो जाता है।

क्षेत्रके सबसे छोटे अविभागी) अंशको प्रदेश कहते हैं।

लघु असंख्यात प्रदेशोंका—   १.........

....का—   १ ....

एक परमाणु द्वारा रुद्ध क्षेत्र— १ प्रदेश

अनतानंतपरमाणुसंघातरुद्ध संक्षिप्त क्षेत्र— १ अवसन्न (उत्संज्ञ)

८ अवसन्न (उत्संज्ञ) का— १ सन्नासन्न (संज्ञ)

८ सन्नासन्नका— १ त्रुटिरेणु

८ त्रुटिरेणुका— १ त्रसरेणु

८ त्रसरेणुका— १ रथरेणु

८ रथरेणुका— उत्तमभोगभूमिज नरके १ केशाग्रकी मोटाई

८ उत्तमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—मध्यमभोगभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई।

८ मध्यमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—जघन्यभोगभूमिया मनुष्यके एक केशाग्रकी मोटाई।

८ जघन्यभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटीका—कर्मभूमिया मनुष्यके एक केशाग्र की मोटाई।

८ कर्मभूमिजनरकेशाग्रकोटीका— १ लिक्षा

८ लिक्षा का— १ यूका

८ यूका का— १ यवमध्य

८ यवमध्य का— १ उत्सेधांगुल
६ उत्सेधांगुल का— १ पाद
२ पादका— १ वितस्ति (बैंथा).
२ वितस्तिका— १ हस्त (हाथ)
२ हस्तका — १ किष्कु
२ किष्कुका— १ दंड (धनुष)
२ हजार दंड (धनुष) का— १ कोश (गव्यूत)
४ कोश (गव्यूत) का— १ योजन

नोट:—(१) ५०० उत्सेधांगुलका १ प्रमाणांगुल होता है उस प्रमाणांगुलसे बड़ा योजन होता है अर्थात् २००० कोशका १ महायोजन होता है।

(२) आत्मांगुल— जिस समय मनुष्यके अंगुलका जो परिमाण होता है वह आत्मांगुल कहलाता है। आजकलके मनुष्योंका आत्मांगुल उत्सेधांगुलके बराबर है।)

असंख्यातासंख्यात योजनका— १ राजू
७ राजूका— १ श्रेणि
७ राजूके वर्ग (७×७) का— १ प्रतरलोक (४९ राजू)
७ राजूके घन (७×७×७)— १ सर्वलोक (३४३ राजू)

२९—जीवगणना

लोकमें सब पदार्थोंमें प्रधान जीव पदार्थ है। ये जीव किस अवस्थामें कितने पाये जाते है ? इसके उत्तरके लिये जीवोंको ऐसे क्रमवार अङ्कित किया जाता है जिससे यह ज्ञानकारी ली जावेगी कि ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक हैं।

(१) अयोगकेवली जिनेन्द्र भगवान्
(२) उपशामक मुनि
(३) क्षपक मुनि
(४) सयोगकेवली जिनेन्द्र भगवान्
(५) अप्रमत्त संयत मुनि

(६) प्रमत्तसंयत मुनि
(७) संयतासंयत मनुष्य
(८) सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य
(९) सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्य
(१०) असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य
(११) पर्याप्तमिथ्यादृष्टि मनुष्य
(१२) मिथ्यादृष्टि मनुष्यनी
(१३) सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव
(१४) उपरिमग्रैवेयकवासी सासादनसम्यग्दृष्टि देव
(१५) मध्यमग्रैवेयकवासी सासादनसम्यग्दृष्टि देव
(१६) अधोग्रैवेयकवासी सासादनसम्यग्दृष्टि देव
(१७) आरणअच्युतकल्पवासी सासादनसम्यग्दृष्टि देव
(१८) आनतप्राणतकल्पवासी सासादनसम्यग्दृष्टि देव
(१९) उपरिमग्रैवेयकवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टि देव
(२०) मध्यमग्रैवेयकवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टि देव
(२१) अधोग्रैवेयकवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टि देव
(२२) आरणअच्युतकल्पवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टि देव
(२३) आनतप्राणतकल्पवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टि देव
(२४) विजयवैजयंतजयंत अपराजितवासी सम्यग्दृष्टिदेव
(२५) अनुदिशविमानवासी सम्यग्दृष्टि देव
(२६) उपरिमग्रैवेयकवासी मिथ्यादृष्टि देव
(२७) मध्यमग्रैवेयकवासी मिथ्यादृष्टि देव
(२८) अधोग्रैवेयकवासी मिथ्यादृष्टि देव
(२९) आरणअच्युतकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव
(३०) उपरिमग्रैवेयकवासी सम्यग्दृष्टि देव
(३१) मध्यमग्रैवेयकवासी सम्यग्दृष्टि देव
(३२) अधोग्रैवेयकवासी सम्यग्दृष्टि देव

(३३) आरणअच्युतकल्पवासी सम्यग्दृष्टि देव
(३४) आनतप्राणतकल्पवासी सम्यग्दृष्टि देव
(३५) सातवी पृथ्वीके सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी
(३६) छटवीं पृथ्वीके सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी
(३७) पांचवी पृथ्वीके सासादसम्यग्दृष्टि नानकी
(३८) चौथी पृथ्वीके सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी
(३९) तीसरी पृथ्वीके सासादनसम्मग्दृष्टि नारकी
(४०) दूसरी पृथ्वीके सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी
(४१) पहिली पृथ्वीके सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी
(४२) सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च
(४३) सासादनसम्यग्दृष्टिभवनवासी देव
(४४) सासादनसम्यग्दृष्टिव्यन्तर देव
(४५) सासादनसम्यग्दृष्टि ज्योतिष्क देव
(४६) शतारसहस्रारकल्पवासी सासादन० देव
(४७) शुक्रमहाशुक्रकल्पवासी सासा० देव
(४८) लान्तवकापिष्टकल्पवासी सासा० देव
(४९) ब्रह्मब्रह्मोत्तरकल्पवासी सासा० देव
(५०) सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवासी सासा० देव
(५१) सौधर्मऐशानकल्पवासी सासादन० देव
(५२) सौधर्मेशानकल्पवासी सम्यमिथ्यादृष्टि देव
(५३) सौधर्मेशानकल्पवासी सम्यग्दृष्टि देव
(५४) सातवीं पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी
(५५) छटवी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी
(५६) शतारसहस्रारकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव
(५७) शुक्रमहाशुक्रकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव
(५८) पांचवीं पृथ्वी के मिथ्यादृष्टि नारकी
(५९) लान्तवकापिष्टकल्पवासी मिथ्या० देव

(६०) चौथी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी
(६१) ब्रह्मब्रह्मोत्तरकल्पवासी मिथ्या० देव
(६२) तीसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव
(६३) सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवासी मिथ्या० देव
(६४) दूसरी पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि देव
(६५) लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य
(६६) सौधर्मेशानकल्पवासी मिथ्यादृष्टि देव
(६७) प्रथमपृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकी
(६८) भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव
(६९) व्यन्तर मिथ्यादृष्टि देव
(७०) ज्योतिष्क मिथ्यादृष्टि देव
(७१) मिथ्यादृष्टि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त
(७२) पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अपर्याप्त
(७३) चतुरिन्द्रिय जीव
(७४) त्रीन्द्रिय जीव
(७५) द्वीन्द्रिय जीव
(७६) सिद्ध भगवान्
(७७) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त
(७८) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त
(७९) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त
(८०) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त

उक्त सब, जीवोंमें क्रमवार ऐसा लगाना कि पहिले नम्बर पर लिखे हुए जीवोंसे दूसरे नम्बरके लिखे हुए जीव अधिक है, उससे तीसरे नंबरके अधिक है। इस तरह अस्सी नम्बर तक लगाते जावें। अधिकसे मतलब कहीं ज्यादह, कहीं संख्यातगुणे, कहीं असंख्यातगुणे कहीं अनन्तगुणे लगाना है। इसके लिये आर्ष आगम देखना चाहिये।

३०—कर्मसत्त्व

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म स्कन्ध जीवके साथ बंध जाते हैं वे अपनी अपनी स्थितिप्रमाण काल तक जीवके साथ बंधे हुए बने रहते हैं। इस स्थितिको सत्त्व कहते हैं। एक समयके जीवपरिणामको निमित्त पाकर जो कर्मस्कन्ध बंधते हैं वे एक नहीं, किन्तु अनन्त होते हैं। एक समयबद्ध उन अनन्त कर्मस्कन्धोंमें से कुछ कर्मस्कन्ध पहिले उदयमें आकर खिर जाते हैं, कुछ और देरमें, कुछ और देरमें। इस तरह असंख्यातों स्थान व स्थितियां हो जाती हैं; फिर भी एकसमयबद्ध उन कर्मस्कन्धोंमें जो सबके अन्तमें उदयमें आते हैं या आ सकते हैं, उनकी स्थितिके लक्ष्यसे ही सब कर्मोंकी स्थिति उतनी ही कह दी जाती है क्योंकि वे सब कर्मस्कन्ध एकसमयबद्ध थे।

यद्यपि कर्मोंके सत्त्वमात्रसे जीवमें विभाव उत्पन्न नहीं होता तो भी यह तो हो ही जाता है कि अमुक प्रकारके कर्मोंके सत्त्वमें अमुक स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः कर्मका सत्त्व भी किसी प्रकार क्लेशका हेतु हो जाता है। जिस प्रकार बाला स्त्रीसे विवाह करने पर बाला स्त्री कुछ दिनों अनुपभोग्य रहती है पश्चात् उपभोग्य होती है; इसी प्रकार नवीन कर्मबन्ध होनेपर वे कर्म कुछ समय तक अनुपभोग्य होते हैं पश्चात् उपभोग्य होते हैं। जब तक वे अनुपभोग्य रहते है तब तकके समयका नाम अबाधाकाल है अर्थात् इतने समय तक उन कर्मोंके कारण जीवके बाधा उत्पन्न नहीं होती। परन्तु, उन कर्मोंका सत्त्व तो तभीसे हो गया जबसे कि वे बद्ध हुए हैं। तथा जैसे बाला स्त्री अनुपभोग्य है तो भी स्त्रीके स्वीकारसे पुरुषकी आजादीमें तो अन्तर आ ही जाता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध हो जानेपर अनेक स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे कि—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायुमें से किसीका भी बन्ध होनेपर संयम नहीं हो सकता आदि। इस तरह कर्मसत्त्व क्लेशका कारण हो जाता है।

इन कर्मोंके समूहको कार्माण शरीर भी कहते हैं। इसके साथ तैजस शरीर भी नियमसे होता है। ये दोनों शरीर भौतिक होकर भी अतिसूक्ष्म हैं। इन दोनोंको एक नामसे कहा जावे तो उसका नाम है "सूक्ष्म शरीर"। यह सूक्ष्म-

शरीर जीवके एक क्षेत्रावगाहमें स्थित है। मृत्यु होनेपर अर्थात् स्थूल शरीरसे अलग होनेपर जीवके साथ यह सूक्ष्म शरीर जाता है अथवा यों कहो कि इस सूक्ष्म शरीरके साथ जीव जाता है।

जीवके कषायपरिणामका निमित्त पाकर कर्म बंध जाते हैं। उनकी स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर तककी पड़ जाती है। विशेष इस प्रकार है कि सत्त्वमें ज्ञानावरणकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर, दर्शनावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर, वेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर, मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर, आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ कोड़ाकोड़ी सागर, नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर, गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ीसागर व अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़कोड़ी सागरकी होती है व उत्कृष्टमें इतनी ही बंधती है।

कर्मोंकी जघन्यस्थिति इस प्रकार बंधती है— ज्ञानावरणकी जघन्य स्थिति १ अन्तर्मूहूर्त, दर्शनावरणकी जघन्यस्थिति १ अन्तर्मूहूर्त, वेदनीयकी १२ मुहूर्त जघन्यस्थिति, मोहनीयकी जघन्यस्थिति १ अन्तर्मुहूर्त, आयुकर्मकी जघन्यस्थिति १ अन्तर्मुहूर्त, नामकर्मकी जघन्यस्थिति ८ मुहूर्त, गोत्रकर्म को जघन्यस्थिति ८ मुहूर्त, अन्तरायकर्मकी जघन्यस्थिति १ अन्तर्मुहूर्त बंधती है; किन्तु इन सबका जघन्यसत्त्व जो रह सकता है वह इस प्रकार है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायका, जघन्यसत्त्व क्षीणकषाय गुणस्थानमें द्विचरमसमयमें एक समयमात्र है। वेदनीयका जघन्यस्थितिसत्त्व अयोगकेवली के द्विचरम समय में एक समय मात्र है। मोहनीयकाज घन्यस्थितिसत्त्व सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें संख्यात स्थितिकाण्डकोंके उत्कीरण होजाने अव-शिष्ट सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके कालमात्र है। आयु, नाम व गोत्रका जघन्यस्थितिसत्त्व अयोगकेवलीके द्विचरम चरमसमयमें एक समय-मात्र है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायकर्मोंका जघन्यस्थितिबन्ध वीतराग छद्मस्थके होता है व इनका जघन्यसत्त्व भी वीतराग छद्मस्थ के ही होता है। वेदनीयकर्मका जघन्यस्थितिबन्ध १० वें गुणस्थानवर्ती मुनिके होता है व

जघन्य स्थितिसत्त्व अयोगकेवली भगवान्के पाया जाता है। मोहनीय कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवर्ती साधुके होता है और मोहनीय कर्मका जघन्यस्थितिसत्त्व सूक्ष्म साम्परायगुणस्थानवर्ती साधुके होता है। आयुकर्मका जघन्यस्थिति वन्ध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। आयुकर्मका जघन्य स्थितिसत्त्व अयोगकेवलीके होता है क्योंकि वहां वध्यमान आयु नहीं होती और भुज्यमान आयुके अन्तमें उसीका एक समय है, जिसके वाद निर्माण हो जाता है।

सभी कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि, जीवके होता है। विशेष यह है कि उत्तरप्रकृतियोंमे आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्ग व तीर्थङ्कर इन प्रकृतियोंको सम्यग्दृष्टि ही वांधते है मिथ्यादृष्टि नहीं वांधते तथा देवायुकी अपेक्षा उत्कृष्ट वन्ध सम्यग्दृष्टिके होता है। इसी आधार पर कुछ अन्य प्रकृतियोंमें कुछ अन्तर हो जाता है।

सागरके कालका परिणाम वहुत है। इसे संख्यामें नहीं रखा जा सकता, किन्तु उपमा द्वारा जाना जा सकता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये—मानो दो कोश लंवा २ कोश चौड़ा दो कोश गहरा गड्ढा है उसमे अत्यन्त पतले वालोंके सूक्ष्म सूक्ष्म (जिसका दूसरा हिस्सा करना कठिन हो) टुकड़ोंको भर दिये जावें। उस भरावको खूव दावकर भरा जावे जैसेकि कई हाथी उसपर फिरा दिये गये हों। अव उसमें से १००—१०० वर्ष वाद एक टुकड़ा निकाले। जितने वर्षोंमें सव टुकड़े निकल जावें उतने वर्षोंको तो व्यवहारपल्य कहते है। इससे असंख्यातगुणे कालको उद्धारपल्य कहते हैं। इससे असंख्यातगुणे कालको उद्धारपल्य कहते हैं। इससे भी असंख्यात गुणे कालको अद्धापल्य कहते है। १० करोड़ अद्धापल्यको एक सागर कहते हैं। एक करोड़ सागरमें एक करोड सागरका गुणा करनेपर जो लब्ध हो, उसे एक कोड़ाकोड़ी सागर कहते है।

कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव यदि तीव्र मोह मिथ्यात्व करे तो उसके उस समयके उस मोह परिणामके निमित्तसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका मोहनीयकर्म (मिथ्यात्व प्रकृति) बंध जाता है।

जो कर्म बंध जाते हैं उनका सत्त्व तब तक रहता है जब तक उदय, उदीरणा, संक्रमण, निर्जरा अथवा क्षय नहीं हो जाता।

जीव अपनी करनीका फल स्वयं कैसे पा लेता है अथवा जीव अपनी करनीके अनुसार फल पाता है ? यह बात कर्मसिद्धान्तके माने बिना संगत नहीं बैठती। जीव शुभ अथवा अशुभ भाव करता है। उसी समय उस योग्य कर्म-प्रकृतियां स्वयं बन्धको प्राप्त होती हैं व बंधनेके बाद सीमित समय तक रहती है। उनके उदय अथवा उदीरणा होनेपर जीव स्वयं विकारी होकर शुभभाव, अशुभभाव, सुख अथवा दुःखरूप परिणमन करता है। यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे स्वयं होता रहता है। लोकमें अनेकों कार्य इस तरह होते रहते हैं। सूर्यका उदय होता है. तब कमल खिल उठते हैं, लोक जाग उठते हैं, उल्लू अन्धे हो जाते हैं इत्यादि अनेकों कार्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश देखे जा रहे हैं।

ये कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, आंखोंसे दिखते नहीं। अतः सहसा इनका अवबोध नहीं होता। फिर भी युक्ति, विज्ञानसे प्रसिद्ध ही है। इस जीवपर अनन्त कर्माणुओंका भार है, इसीसे ८४ लाख योनियोंमें परिभ्रमण कर दुःख उठा रहा है। कोई अलगसे सुख, दुःख, जन्म, मरण करनेवाला हो उसमें तो अव्यवस्था संभव है, परन्तु जहाँ जीवपरिणाम और कर्मसंसर्गका प्राकृतिक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो वहां अव्यवस्था संभव नहीं है।

हे आत्मन् ! तेरे ही परिणामोंकी मलिनताके इतने दुष्कर परिणाम हैं। पतन व उत्थान तेरे ही परिणामपर निर्भर है। अतः अपनी सावधानी कर।

३१—कर्मोदय

पूर्वमें बांधी हुई कर्मवर्गणायें स्थिति समाप्त करके जब अकर्मत्व रूप होनेको होती हैं उस स्थितिको कर्मका उदय कहते हैं। पूर्वकालमें एक समय में भी बांधे गये कर्म असंख्य वर्षो तक की विभिन्न स्थितियां रखते हैं सो वर्तमान समयमें उदय योग्य वर्गणायें रहा ही करती हैं तथा पूर्वमें नाना

समयोंमें बांधे हुए कर्मोंकी भी स्थितियां विभिन्न है, उनमें से भी वर्तमानमें उदययोग्य वर्गणाएँ रहा करती हैं। उनके उदयकाल आनेपर ऐसा ही प्राकृतिक मेल है कि उदयप्राप्त कर्मप्रकृतियोंके अनुरूप क्रोध, मान, माया, लोभ आदि परिणतियां इस आत्मामें हो जाती हैं। इसके मर्मका साक्षात्कार तो होता नहीं क्योंकि किसी भी पदार्थका किसी भी अन्य पदार्थमें प्रवेश नहीं है। केवल ऐसा अन्वयव्यतिरेक जानकर कि कर्मोदय होनेपर क्रोधादि हों और कर्मोदय न होनेपर क्रोधादि न हों, निर्णय कर लिया जाता है कि इन कर्मप्रकृतियोंका व विभावोंका ऐसा निमित्तनैमित्तिक मेल है।

अनेक विद्वानोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि प्रकृतिसे विकार उत्पन्न होता है। अहङ्कार, देह, इन्द्रियों आदि प्रकृतिसे उत्पन्न होती हैं। इसका भी मर्म यही है कि अन्तिम स्थितिको प्राप्त कर्मप्रकृतियोंके उदयको निमित्त पाकर अहङ्कारादिक उत्पन्न होते हैं। अतः अहाङ्करादिक प्रकृतिज हैं। प्रकृतिके निमित्तसे होकर भी इनमें जो चिद्विवर्त हैं वे आत्मामें परिणमी हैं और जो देहादिक भौतिक विवर्त हैं वे भूत (पुद्गल) में परिणमी हैं। इससे "अहङ्कारादिक चिद्विवर्त आत्मामें परिणमी है तो छूटेंगी कैसे?" यह शङ्का नहीं होना चाहिये क्योंकि ये विवर्त कर्मोदय होनेपर हुए है, अतः आगन्तुक हैं। आगन्तुक चीज निमित्त कारणादिकके हटनेपर नष्ट हो जाती हैं।

एक समय बांधे हुए कर्म असंख्यात वर्षो तक उदयमें आते रहते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण व पद्धति ऐसी जानना कि जैसे किसी जीवने वर्तमान एक समयमें ३२०० कर्मपरमाणुवोंका समूह बांधा और ५० समकी स्थिति उसकी हुई तो इसमें आबाधाकाल (वर्तमान समयके बाद कुछ थोड़े समय जब तक कि वे उदयमें नहीं आ सकते) के बादके समयोंमें वे उदय आवेंगे। मानों आबाधाकाल २ समय बाद उदयमें आवेंगे। सो सब उदयमें नहीं आवेंगे किन्तु उन ३२०० परमाणुओंमें से पहिले समयमें ५१२, द्वितीय समयोंमें ४८०, इस तरह ३२–३२ कम हो होकर ९वें सयय २८८में उदयमें आवेंगे। फिर १० वें समयमें १६ घटकर २४०, फिर २२४, इस तरह १६–१६ घट कर १७ वें समयमें १२८ उदयमें आवेंगे। फिर १८ वें समयमें ८ घट

कर १२०, फिर १६ वें समयमें ११२, इस तरह ८-८ घट कर २५ वें समयमें ६४ उदयमें आवेंगे। फिर २६ वें समयमें ४ घट कर ६०, इस तरह ४-४ घट कर ३३ वें समयमें ३२ उदयमें आवेंगे। फिर ३४ वें समयमें २ घट कर ३०, फिर २८, इस तरह २-२ घट कर ४१ वें समयमें १६ उदयमें आवेंगे। फिर ४२ वें समयमें १५, इस तरह १-१ घट कर ४८ वें समयमें ६ परमाणु उदयमें आवेंगे। यह सब दृष्टान्त हैं। उदय तो जब आता है अनन्त परमाणुके निषेक का उदय आता है।

इस एक समयप्रबद्धके उदय योग्य निषेक ६ गुणहानिमें बट जाते हैं। यह तो प्रदेशोदय के परमाणुवोंकी संख्याका दृष्टान्त है। इसमें उत्तरोत्तर समयोंमें प्रदेश कम होते गये हैं, परन्तु अनुभाग उत्तरोत्तर समयमें अधिक अधिक होता है।

प्रतिसमयके बांधे हुए कर्म इस तरहसे उदयमें अनेको बंट जाते हैं। तब किसी भी समयमें जो उदय आते हैं, वे अनेक समयोंके बांधे हुए कर्मोंमें से उदयमें आते है। दृष्टान्तमें परमाणु व समयोंकी संख्या समझनेके लिये दी हुई है। बंधते तो अनन्त परमाणु हैं और असंख्यात वर्षो तक की स्थिति बंधती है। एक समयमें बांधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त तक भी उदयमें आते रहते है।

सागरका प्रमाण है कर्मसत्वके अधिकारोंमें लिखा गया है।

उदयका फल होना अटल है। उदयसे ही पहिले किसी आत्माके सुपरिणामोंके निमित्तसे परिवर्तन, परिनिर्जरण हो जाय तो वह अलग बात है, परन्तु उदयक्षणके समय तो उसका फल होता ही है। उदयसे एक समय पहिले भी परिवर्तन हो सकता है, जिसको कि स्तिनुक संक्रमण कहते हैं। इतनी सूक्ष्म बातका परिचय न हो या दृष्टि न दी जाय तो भले ही कह दिया जाय कि उदय भी टल जाता है, परन्तु उदयक्षणमें प्रकृतिके उदय होनेपर उसका परिणाम टलता नहीं। हां यह बात और है कि उस औदयिक भावको उपयोगका बल मिल जाय तो वह भावबन्धका रूपक धारण करा देगा; यदि उपयोगका बल न मिला तो विशिष्ट कार्यका हेतु न बन सकेगा।

हे आत्मन् ! इस सब नाना विचित्रताको औदयिक, औपाधिक जानो, कर्मका नाच जानो। यह सब कुछ भी तेरा स्वरूप नहीं है। इनसे विविक्त, ध्रुव निजचैतन्यस्वभावमात्र अपनेको अनुभवो। इस विधिसे कर्म स्वयं झड़ जाते हैं, संवृत हो जाते है, उदयकी चक्कीसे निकलो। निज शुद्ध ज्ञायकस्वभावके आश्रयके प्रसादसे यह सब सुगम है। यही परममङ्गल है।

३२–कर्मोदीरणा

जीवके किसी विशेष परिणामको निमित्त पाकर कोई कर्मस्कन्ध स्थितिसे पहिले ही उदयमें आकर याने फल देकर खिर जाय तो ऐसी स्थितिको उदीरणा कहते हैं। पापकर्मकी उदीरणा संक्लेशपरिणामको निमित्त पाकर फल देते हुए नवीन बंधको बंधानेका कारण बनकर होती है व विशुद्ध परिणामको निमित्त पाकर केवल खिर जानेके लिये उदीरणा होती है। पुण्यकर्मकी उदीरणा संक्लेश परिणामको निमित्त पाकर केवल खिर जाने आदि के लिये होती है व विशुद्ध परिणामको निमित्त पाकर फल देते हुए यथायोग्य नवीन शुभ बंधको बंधानेका कारण बनकर होती है एवं कदाचित् केवल खिर जानेके लिये भी होती है।

जैसे पेड़के फलको बिना पकने के कालके, भुसा आदिमें धरकर जल्दी पका लिया जाता है वैसे ही कर्म जीवके विशेष परिणामको निमित्त पाकर स्थितिसे पहिले विपाकके लिये कर्म आ जाता है, उसे उदीरणा कहते है।

बहुतसी बातोंमें तो उदीरणा ही फल दिया करती है। जैसे भूखकी बाधा असाताकी उदीरणामें होती है। असाताका उदय वैसे तो बहुत काल तक रहता है, परन्तु भूखकी बाधारूप असाता असातावेदनीयकर्मकी उदीरणा होनेपर होती है। ऐसा अन्यत्र भी यथायोग्य जानना।

उदीरणा होना बुरा है या भला, इस प्रश्नका उत्तर एक देना कठिन है। यह तो जीव परिणामके आधीन बात है। कभी तो उदीरणा होना भला हो जाता है और कभी उदीरणा होना बुरा हो जाता है। मुख्यता सर्वत्र आत्म परिणामकी है।

उदीरणा तो कर्मकी एक परिणति है, उसे आत्मा नहीं कर सकता है और दुःख या सुख भोगना जीवकी परिणति है, उसे कर्मकी उदीरणा नहीं कर सकती, किन्तु ऐसा ही प्राकृतिक मेल है याने निमित्तनैमित्तिकभाव है कि जीवके विशेष परिणामको निमित्तमात्र पाकर कर्मकी उदीरणा हो जाती है और कर्मकी उदीरणाको निमित्त मात्र पाकर जीवके सुख या दुःखकी परिणति हो जाती है। सर्व द्रव्योंमें अपने आपकी शक्तिसे अपने आपमें परिणमन होता है। विभाव परिणमनमें बाह्य अन्य पदार्थ निमित्तमात्र ही होते है।

उदय हो अथवा उदीरणा, यदि जीवके विवेकशक्ति जागृत रहती है तो जीव उस स्थितिमें कुछ भला ही देखता है। अज्ञानी तो सर्वत्र विपत्ति ही पाते हैं।

साता, असाता व मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियोंकी उदीरणा छटे गुणस्थान (प्रमत्तविरत साधु) तक ही होती है। इससे यह बात प्रकट हुई कि क्षुधादि क्लेश, इष्टानिष्टकल्पनाजन्य हर्षविषाद तथा आयुस्थितिसे पहिले मरण अप्रमत्त जीवोंके नहीं होता है।

अशुभ कर्मप्रकृतियोंकी उदीरणा फल देनेके रूपमें संक्लेश परिणामसे होती है। शुभप्रकृतियोंकी उदीरणा फल देनेके लिये विशुद्ध परिणामसे होती है, किन्तु निर्जरणके लिये यथासंभव सब प्रकृतियोंकी उदीरणा धर्मपरिणामसे होती है। हे आत्मन्! आत्माके सहजस्वभावरूप धर्मकी दृष्टि रखकर धर्मका पालन करो तो उदीरणासे भी मोक्षमार्गमें सहायता मिलेगी।

३३—कर्मसंक्रमण

जीवके शुद्धभाव, शुभभाव या अशुभभावके निमित्तको पाकर कर्मवर्गणायें अपने ही मौलिक कर्मकी प्रकृतिमें से किसी अन्य प्रकृतिरूप परिणम जाने को संक्रमण कहते हैं। आठ प्रकारके कर्मोंमें से केवल आयुकर्म ही ऐसा है कि जिसमें संक्रमण नहीं होता है। शेष ७ प्रकारके कर्मोंमें ही संक्रमण हो सकता है। इन सात प्रकारके कर्मोंमें भी परस्पर संक्रमण नहीं होता, किन्तु एक एक कर्मके जितने भेद हैं उन भेदोंमें ही परस्पर यथायोग्य

संक्रमण होता है। जैसे वेदनीयकर्मके २ भेद हैं—(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। इन दोनोंमें परस्पर संक्रमण हो जाता है। कभी अशुभ परिणामके निमित्तसे साता असातारूप परिणाम जाती है, कभी शुभपरिणामके निमित्तसे असाता सातारूप परिणम जाती है, कहीं शुद्ध परिणामके निमित्तसे भी असाता प्रकृति सातारूप परिणम जाती है इत्यादि। इसी प्रकार यथासंभव प्रत्येक कर्मके भेदोंमें समझना चाहिये।

संक्रमके भेद ५ हैं। ये भेद भागहारकी प्रधानतासे है। जैसे—(१) उद्वेलनसंक्रमण—जहां उद्वेलन भागहारका भाग देनेपर एकभागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं वह उद्वेलन संक्रमण है। (२) विध्यातसंक्रमण—जहां मन्द विशुद्धतायुक्त जीवके जिस प्रकृतिका बन्ध नहीं पाया जाय, ऐसी विवक्षित प्रकृतिके परमाणुओंमें विध्यात भागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमते है वह विध्यातसंक्रमण है। (३) अधःप्रवृत्त संक्रमण—जहां, जिस प्रकृतिका बंध संभव है उस जातिकी प्रकृतिके परमाणुओंमे अधःप्रवृत्तभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिके परमाणुरूप परिणमते है, उसे अधःप्रवृत्तसंक्रमण कहते हैं। (४) जहां विवक्षित अशुभप्रकृतिके परमाणुओंमें गुणसंक्रमणभागहारका भाग देनेपर एक भागमात्र परमाणु अन्यप्रकृतिरूप होकर परिणमे और प्रथम समयमें जितने परमाणु अन्यप्रकृतिरूप परिणमें हैं उससे असंख्यातगुणी दूसरे समयमें अन्यप्रकृतिरूप परिणमे, उससे असंख्यातगुणी तीसरे समयमें परिणमे, ऐसा गुणकार बने उसे गुणसंक्रमण कहते हैं। (५) गुणसंक्रमण होते होते अन्तमें जो एक फालिरूप (अन्तिम समयके निषेक) अवशिष्ट रहता है, वह साराका सारा अन्य प्रकृतिरूप परिणम जाय उसे सर्वसंक्रमण कहते है।

इनके भागहारका प्रमाण यह है—सर्वसंक्रमणका तो १ ही भागहार है ताकि सब भी वह पूरी फालि आजावे। उसमें असंख्यातगुणे पल्यके अर्धच्छेदप्रमाणके असंख्यातवें भागमात्र गुणसंक्रमणभागहारका प्रमाण है। उससे असंख्यातगुणा प्रमाण उत्कर्षण व अपकर्षणके भागहारसे भी असंख्यातगुणे

पल्यके अर्द्धच्छेदोंके असंख्यातवें भागमात्र अधःप्रवृत्तसंक्रमण भागहारका प्रमाण है। उससे असंख्यातगुणी जो संख्यात पल्यमात्र कर्मकी स्थिति उससे भी असंख्यातगुण प्रमाण सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागमात्र विध्यातसंक्रमण भागहारका प्रमाण है। उससे असंख्यातगुणे सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागमात्र उद्वेलनसंक्रमणके भागहारका प्रमाण है।

संक्रमणसे तात्पर्य कोई प्रकृति किसी अन्यप्रकृतिरूप परिणमजानेसे है। कौन प्रकृति किसी प्रकृतिरूप परिणम सकती है इसका व संक्रमण संबंधी विषयोंका विस्तृत वर्णन कर्मसिद्धान्तके ग्रन्थों से देखना चाहिये।

उद्वेलन संक्रमण जैसे संक्रमण तो अशुद्ध परिणामों से होते है, मगर प्रायः संक्रमण धर्मभावसे होते हैं, जिससे जीवको मोक्षमार्ग निकट शीघ्र हो जाता है। गुणसंक्रमण व सर्वसंक्रमण तो मोक्षको जल्दी ही निकट करा देता है। इस बिना तो कर्मोंका क्षय संभव ही नहीं। हे मुमुक्ष जनों ! यद्यपि कर्मोंका सत्त्वभार इतना अधिक है कि उसके विनाशकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, किन्तु धर्मभावमें वह सामर्थ्य है कि असंख्यभवोंके बद्धकर्म भी अन्तर्मुहूर्तमें संक्रान्त हो जाते हैं और शीघ्र उनका क्षय करके निर्वाण पा सकता है। अतः कर्मसंक्रमणके लिये बाह्यदृष्टि न करके निज ध्रुव आत्मस्वभावका अवलम्बन ग्रहण करो।

३४–कर्मोत्कर्षण

जीवके शुभ या अशुभ भावको निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्मवर्गणाओंकी स्थितिमें वृद्धि हो जानेको कर्मोत्कर्षण कहते हैं। इसी प्रकार अनुभाग (फल देनेकी शक्ति) की वृद्धि हो जानेको उत्कर्षण कहते है। इस कारण यह उत्कर्षण दो प्रकारका है—(१) कर्मस्थिति उत्कर्षण, (२) कर्मानुभागोत्कर्षण कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है उससे अधिक स्थिति हो जाना इसको कर्मस्थितिउत्कर्षण कहते हैं और कर्मप्रकृतिमें अनुभाग (फलदानशक्ति) जितना है उससे अधिक हो जाना इसको कर्मानुभागोत्कर्षण कहते हैं। स्थिति उत्कर्षणकी यह पद्धति है कि अधिक स्थिति होकर जितनी

स्थितिवाला उस कर्मप्रकृतिको बनना है वह उतनी स्थितिवाले सजातीय प्रकृति की वर्गणाओंमें वह कर्मप्रकृति मिल जावेगी। इसी प्रकार अनुभागोत्कर्षणकी भी यह पद्धति है कि अधिक अनुभाग होकर जितने अनुभागवाला उस कर्मप्रकृति को बनना है वह उतने अनुभागवाले सजातीय प्रकृतिकी वर्गणाओंमें वह कर्म-प्रकृति मिल जावेगी।

नीचेकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियाँ किस किस प्रकारसे ऊंची स्थितिवाली होती हैं ? इसके जाननेके लिये निक्षेप, अतिस्थापना, अचलावलि, अतिस्थापना-वलि उत्कर्षणके लिये अपकृष्ट द्रव्य को नजर रखकर कर्मापकर्षणपद्धतिकी तरह समझना चाहिये। इस पद्धतिको कर्मापकर्षण वाले अगले पाठमें दिखाया जावेगा। अन्तर केवल इतना है कि अपकर्षणमें तो ऊपरकी स्थितिका द्रव्य नीचे की स्थितिमें मिलाया जाता है और उत्कर्षणमें नीचेकी स्थितिका द्रव्य ऊपरकी स्थितिमें मिलाया जाता है।

संक्लेश परिणामका निमित्त पाकर अशुभ कर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है और विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर यथासंभव शुभप्रकृतियोंका उत्कर्षण हो जाता है। कर्म एक उस जातिका पौद्गलिक अणुवोंका स्कन्ध है। बद्धकर्मप्रकृतियोंका उत्कर्षण कर्मकी योग्यतासे स्वयं हो जाता है, किन्तु चूंकि ये उत्कर्षणादि परिणमन स्वभावपरिणमन नहीं है अतः किसी उपाधिको निमित्त पाकर ही होते हैं। वह उपाधि है यहां जीवके विभाव परिणाम।

कर्मोत्कर्षण अशुद्धभावोंके निमित्तसे होता है। अतः सुखार्थियोंका कर्तव्य है कि परका आश्रय करनेरूप अशुद्ध परिणामोंसे दूर हो ताकि कर्मोत्कर्षण न हो व अनन्तसंसार न बढ़े।

३५—कर्मापकर्षण

जीवके शुभ या अशुभ या शुद्ध भावोंको निमित्त पाकर कर्मवर्गणावोंकी स्थितिका या अनुभागका कम हो जाना सो कर्मापकर्षण है। कर्मापकर्षण भी दो प्रकारका है— (१) कर्मस्थिति-अपकर्षण, (२) कर्मानुभाग अपकर्षण।

कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है, उससे कम स्थिति हो जानेको कर्मस्थिति-अपकर्षण कहते हैं और कर्म प्रकृतियोंमें जितना अनुभाग है उससे कम अंशोंका अनुभाग हो जानेको कर्मानुभागापकर्षण कहते हैं। कर्मस्थिति-अपकर्षणकी यह पद्धति है कि कर्मप्रकृतियोंकी जितनी स्थिति है उससे कम होकर उन्हें जितनी स्थितिवाला बनना है वे उतनी ही स्थितिवाले सजातीय कर्मप्रकृतियोंकी वर्गणाओंमें मिल जाती हैं। इसी प्रकार कर्मानुभागापकर्षणकी भी यह पद्धति है कि जितना कर्मप्रकृतियोंमें अनुभाग है उससे कम होकर जितना अनुभागवाला उन्हें होना है, उतने अनुभाग वाले सजातीय कर्मप्रकृतिकी वर्गणाओंमें वे मिल जाती हैं।

ऊपरकी स्थितिवाली कर्मप्रकृतियाँ किस प्रकार नीचेकी स्थितिमें मिलती हैं? इसकी पद्धति दिखाई जाती है—कर्मबन्धके अनन्तर एक आवलि कालमें तो अपकर्षण होता नहीं, इस कालको अचलावलि कहते हैं। इसके बाद उदयावलि आती है। इसमें उन्हीं उपरितन प्रकृतियोंका अपकर्षण होता है जिनका कि उदय चल रहा है। जिनका उदय नहीं है उन प्रकृतियोंका अपकर्षण उदयावलिके अनन्तर समयमें होने लगता है। इन बातोंको एक दृष्टान्त समझकर देखें—जैसे मानो किसी जीवके १० आवलिकी स्थिति है। स्थिति तो करोड़ों सागरों की हुआ करती है, किन्तु जल्दी समझनेके लिये छोटासा दृष्टान्त बना लिया है। हां तो दस आवलिमें से पहिली आवलिमे तो अपकर्षण होगा नहीं, वह अचलावलि है और एक (अन्तिम) समय अधिक एक आवलिमें भी अपकर्षण नही होता, क्यों कि अन्तिम समयका द्रव्य तो मिल ही रहा है उसमें और द्रव्य कहांसे मिले तथा आखिरी आवलि अतिस्थापनावलि है उसमें भी अपकर्षण नही होता। दूसरी आवलिके प्रथमसे लेकर अतिस्थापनावलिके समीपके समय तकमें जो अपकर्षण होता है अब उसे देखें—मानों एक आवलिमें १६ समय हैं। तृतीय आवलिके पहिले समयके प्रकृतिके कुछ परमाणु अपकृष्ट होकर द्वितीय आवलिके पहिले ६ समयोंमें मिल जाते हैं, फिर तृतीय आवलिके दूसरे समयके अपकृष्ट परमाणु उन्हीं ६ समयोंमें मिल जाते हैं, तृतीय समयके चौथे समयके, इस तरह ऊपर ऊपरके समयके अपकृष्ट परमाणु उन्हीं ६ समयोंमें मिलते हैं। जब तक कि

अतिस्थापना एक आवलि न हो जाय। पहिले पहिले ६ समय निक्षेप है व १० समय अतिस्थापना है। जब तृतीय आवलिके दूसरे समयका अपकृष्टद्रव्य मिलता है तो अतिस्थापना ११ समयकी हो जाती है। तीसरे समयका अपकर्षण होनेपर १२, चौथेपर १३, पांचवेंपर १४, छटवेंपर १५, सातवेंपर १६ समयकी अतिस्थापना हो जाती है। अब तृतीयावलिके आठवें समयका अपकृष्ट द्रव्य द्वितीयावलिके प्रथम ७ समयोंमें मिल जाते है। नवमें समयका अपकृष्ट द्रव्य द्वितीयावलिके आठ समयोंमें मिल जाते हैं। इस प्रकारसे अन्तिम समयाधिक आवलिसे पहिले तकके समयोंका अपकृष्ट द्रव्य एक एक समय अधिकके क्रमसे पूर्वकी भांति मिलाये जाते है। इस तरह निक्षेप बढ़ता जाता है, अतिस्थापनावलिसे पहिले तक। अन्तिमफालि मिल जानेपर अपकर्षण पूरा हो चुकता है।

जीवके योग्य परिणामोंको निमित्तमात्र पाकर स्वयं कर्मोंका यह अपकर्षण हो जाता है। कर्मापकर्षण प्रायः कल्याणके लिये होता है। अतः मुमुक्षु जनोंका कर्तव्य है कि भगवान् आत्मस्वभावके अवलम्बनरूप धर्मभावको धारण करें ताकि स्वयं होनेवाला कर्मापकर्षण हो जावे। निर्जरा व क्षयसे पहिले भी कर्मापकर्षण होता है। इस योग्य परिणाम होना कल्याणप्रद है।

३६–कर्मबन्धापसरण

जीवके विशिष्ट विशुद्ध परिणामोंके निमित्तसे कुछ प्रकारके कर्मप्रकृतियोंका बन्ध रुक जानेको कर्मबन्धापसरण कहते है। बन्धरुक जानेका नाम बन्धव्युच्छित्ति भी है, परन्तु बन्धव्युच्छित्ति व बन्धापसरणमे यह अन्तर है कि जिस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति जिस पद (गुणस्थान) में होती है उस प्रकृतिका बन्ध उससे आगे किसी भी गुणस्थानमें नही होता है और जिसप्रकृतिका जिस पदमें (गुणस्थानमे) बन्धापसरण होता है उसका उस भावके विलय हो जानेपर उसी पद (गुणस्थान) में बंध हो सकता है तथा उनमें से अनेक प्रकृतियोंका जिनकी कि बन्धव्युच्छित्ति उस गुणस्थानमें नहीं हुई, अगले गुणस्थानमें भी बन्ध हो सकता है।

कर्मबन्धापसरणका वर्णन सम्यक्त्वके सन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीवके

सम्बन्धमें आया है। वह इस प्रकारसे है—प्रायोग्यलब्धिमें जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उसको निमित्त पाकर इसी लब्धिमें उत्तरोत्तर स्थितिबन्ध कम होते रहते है, जिसमें पल्यके संख्यातवें भाग कम स्थितिबंध होते जाते हैं। जब स्थितिबन्ध पृथक्त्व (३ से ६) सागर कम होजाता है तब नरकायु प्रकृतिबन्धापसरण होता है तथा उसी क्रमसे घटते घटते जब पृथक्त्व सौ सागर और कम हो जाती है, तब तिर्यंगायु प्रकृतिका बन्धापसरण हो जाता है। इस तरह ३४ बन्धापसरण होते हैं।

इसी तरह जिन जिन गुणस्थानोंमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती हैं, उनका स्थितिबन्धापसरण होता रहता है। इस तरह स्थितिबन्धापसरण होते होते उस गुणस्थानके अन्तमें उस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। बन्धव्युच्छित्ति होनेपर उसके आगेके गुणस्थानोंमें फिर बन्ध नहीं होता है, किन्तु सम्यक्त्वके अभिमुख सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवके जो प्रकृतिबन्धापसरण होता है, उनमें से अनेकों प्रकृतियोंका बन्ध सम्यक्त्व होनेपर भी छट्टे गुणस्थान तकके नीचे गुणस्थानोंमें यथासंभव हो जाता है। अतः उन्हें बन्धापसरणके नामसे ही आगममें कहा है, बन्धव्युच्छित्तिके नामसे नहीं।

प्रकृति बन्धापसरण होनेके लिये स्थितिबन्धापसरण होना आवश्यक है। स्थितिबन्धापसरण हो होकर ही प्रकृतिबन्धका अपसरण (विच्छेद) होता है।

कर्मबन्धापसरण यद्यपि सातिशयमिथ्यादृष्टिके होता है व किन्हीं किन्ही बन्धापसरणोंका तो यह हाल है कि सम्यक्त्व होनेपर कुछ गुणस्थान तक कर्मबन्ध भी होता है तो भी कर्मबन्धापसरण भलेके ही लिये है। अतः उस योग्य विशुद्ध परिणाम रखना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

३७—कर्मोपशम

आत्माके विशिष्ट निर्मल परिणाको निमित्त पाकर आगेकी स्थिति वाले कर्मवर्गणावों की उदीरणा न हो सकनेको कर्मोपशम कहते हैं। यह उपशम दो प्रकारका है—(१) प्रशस्तोपशम, (२) अप्रशस्तोपशम। जिस

कालमें उपशम है उस काल की स्थितिवाली प्रकृति ही न रहे उसे तो प्रशस्तोपशम कहते हैं और जिस कालमें उपशम होना है, उस कालकी स्थितिवाला कर्म तो है, परन्तु सबके साथ उस स्थितिवाले कर्मका भी उपशम है, उसे अप्रशस्तोपशम कहते हैं। प्रशस्तोपशमके लिये प्रशस्तोपशम होनेसे पूर्व उस स्थितिकी प्रकृतियोंका अन्तरकरण कर दिया जाता है अर्थात् कुछको पहिली स्थितिमें मिला दिया जाता है और कुछको बादकी स्थितिमें मिला दिया जाता है। इससे फिर उस स्थितिवाली वह प्रकृति नहीं रहती। प्रशस्तोपशममें जितने समयको वह उपशम है उस स्थितिवाली वह प्रकृति ही नहीं है। अतः वहां उपशम अगली स्थितियों वाली प्रकृतियोंका है।

उपशम भी दो प्रकारका होता है—(१) उपशमभाव, (२) उपशान्त करण। उपशमभाव तो उपशमविधानसे मोहनीयकर्मका ही होता है। उपशान्तकरण सर्व प्रकृतियोंके सभव है। उपशान्तकरण तो आठवें गुणस्थान तक ही है, किन्तु उपशमभाव ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है।

उपशमभाव होनेपर निर्मलता तो उस समय क्षायिकभाववत् रहती है, परन्तु उपशान्त कर्म अवधिबाद अपने विपाकमें आने लगता है। इस कारण उस निर्मलतासे च्युति हो जाती है।

इस प्राणीका जब भला होनेका काल प्रारम्भ होता है, तब प्रथम उपशम ही सहायक होता है, उपशमभाव प्रकट होता है। इसके अनन्तर शीघ्र प्रगति हो या विलम्बसे प्रगति हो या अवनति होकर विलम्बसे प्रगति हो, प्रगति हो ही जाती है। यह प्रथम उपशम प्रथमोपशमसम्यक्त्व है।

उपशमभावका मुख्य निमित्तकरण जीवका विशुद्ध परिणाम है। इस विशुद्ध परिणामका हेतु अभेद निज स्वरूपमें उपयोग लगानेका योग है। इसका हेतु भेदाभ्यास है। इसका हेतु स्वपरका स्वस्वलक्षणविज्ञान है। इसके लिये ज्ञानाभ्यास है। इसके उपाय अध्ययन, चर्चा, मनन आदि हैं।

३८—कर्मप्रदेशनिर्जरा

कर्म प्रदेशोंकी निर्जरा दो प्रकारसे होती है—(१) साक्षात् उदयरूप,

(२) संक्रमणपूर्वक । उदयप्राप्त निषेकका उदय होकर विपाक सहित या विपाकरहित खिर जाना सो साक्षात् उदयरूप निर्जरा है। उपरके निषेकके परमाणु नीचले निषेकरूप परिणमकर फल देकर अथवा फलरहित होकर खिर जाना सो संक्रमणपूर्वक निर्जरा है।

ये दोनों प्रकारकी निर्जरामें जो जो फलसहित निर्जरा है, वह तो सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंके हो सकती है, किन्तु जो फलरहित निर्जरा है वह सम्यग्दृष्टिके होती है। संक्रमणपूर्वक अविपाकनिर्जरा सम्यक्त्व व चारित्र परिणामके निमित्तसे होती है व संक्रमणपूर्वक विपाक निर्जरा मंदकषाय अथवा तीव्रकषायके निमित्तसे होती है। मंदकषायके निमित्तसे वह निर्जरा हो तो आगामीकालमें उदय आनेवाली अनेक शुभ प्रकृतियां शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं व उस समय अन्य शुभ बन्धन हो जाता है। तीव्रकषायके निमित्तसे वह निर्जरा हो तो आगामीकालमें उदयमें आनेवाली अनेक अशुभ प्रकृतियां शीघ्र फल देनेके लिये पहिले आकर खिर जाती हैं।

अविपाक निर्जरामें साक्षात् उदयरूप तो उसका होता है जो अपकर्षण योग्य संक्रमण आदि विधियोंसे चलकर अन्तमें प्रायः पूर्णसत्ता नाशसे लिये जो उदयरूप आता है और संक्रमणपूर्वक निर्जरा गुणश्रेणि, संक्रमण अधःस्थितिगलन आकर्षण आदि विधियोंसे कृश व संक्रान्त होकर उदीरणारूप होती हैं।

जिन निषेकोंमें ये प्रदेश मिलते हैं उनमें पहिले समयमें मिलने द्रव्यको प्रथमफालि, द्वितीयसमयमें मिलनेवाले द्रव्यको द्वितीयफालि, इसी तरह अन्य फालि जानना। अन्तिम समयमें मिलने वाले द्रव्यको अन्तिमफालि द्रव्य कहते हैं।

निर्जीर्यमाण द्रव्य कितने कितने प्रमाणमें उत्तरोत्तर समयोंमें मिलाया जाता है ? कहीं तो अधिक अधिक और कहीं गुणश्रेणीरूप अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा के रूपमें मिलाया जाता है।

३९–कर्मस्थितिनिर्जरा

आत्माके शुद्ध परिणामोंके निमित्तसे पौद्गलिककर्मोंकी स्थितिका क्षरण होजाना सो कर्मस्थितिनिर्जरा है। कर्मोंकी स्थितिकी निर्जरा इस प्रकार होती है कि स्थिति कम होकर जितनी स्थितिके रहना हो, उस स्थिति-वाले निषेकोंमें वे मिल जाते हैं। इस निर्जरामें कुछ लगातारकी स्थितियोंमें निर्जीर्यमाणकर्म प्रकृतियां मिलती जाती हैं।

जैसे कर्मोंकी बहुत अधिक स्थिति है। उनमें निषेक (समय समयमें उदय आने योग्य परमाणुसमूह) बहुत अधिक हैं ही। सम्यक्त्व व चारित्र परिणामके बलसे उनमें से उदयावलिसे आवलिके ऊपरके निषेक वर्तमान समयसे ऊपर आवलिके प्रायः एक त्रिभागको छोड़कर बाकी दो भागोंके निषेकमें मिलते हैं। फिर इस विधानके बाद एक एक समय अधिक ऊपरके निषेकमें मिलते हैं। इस तरह मिलते मिलते अन्तिम आवलिसे नीचेके निषेकोंमें मिल जाते है। जितने स्थितिके निषेक जितने कम स्थितिके निषेकमें मिले तो जिनमें मिले उनकी जो आखिरी स्थिति है उतनी स्थिति कहलाने लगती है। अब जितनी स्थिति घट गई उतनी स्थितिकी निर्जरा कहलाने लगती है।

एक यत्नमें जितनी स्थितिका नाश हुआ उतने पूर्ण एक भागको स्थिति-काण्डक (स्थितिखण्ड) कहते हैं। एक स्थितिकाण्डकमें जितनी स्थिति घटी उतने स्थितिसमयोंको स्थितिकाण्डकायाम कहते हैं। ये निषेक जिन निषेकोंमें मिलते हैं उन्हें निक्षेप कहते हैं व जिनमें नहीं मिलते उन्हें अतिस्थापना कहते हैं। एक स्थितिकाण्डकके निषेकोंका नीचले (निक्षेप) निषेकोंमें मिल जानेको काण्कोत्करण (काण्डकघात) कहते हैं। यह एक काण्डकोत्करण जितने देरमें हो पाता है उसे काण्डकोत्करणकाल कहते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त ही होता है। एक काण्डकघातमें असंख्यात फालियां मिल जाती हैं। ऐसे ऐसे असंख्यात स्थितिकाण्डकघात हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप उतनी स्थिति नष्ट हो जाती है जितनी स्थिति अपकर्षण भागहार द्वारा अपकृष्ट की गई है।

जब स्थितिनिर्जरा समूल हो जाती है तब प्रकृतिनिर्जरा हो ही जाती है, क्योंकि स्थिति बिना प्रकृति कैसे ठहरे।

यद्यपि कहीं संक्लेश परिणामसे भी शुभ प्रकृतियोंकी निर्जरा हो जाती है तथापि मुख्यता मोक्षमार्गमें स्थितिनिर्जराकी है। एतदर्थ सुखार्थि जनो! धर्मभावका धारण करो ताकि कर्मस्थितिनिर्जरा स्वयं हो जावे।

४०—अकालमृत्यु

जितनी आयु बंधी हो उससे पहिले मरण हो जानेको अकालमृत्यु कहते है। यहां एक वितर्क उत्पन्न हो जाता है कि जब सर्वज्ञ देवने सब जान लिया तो जब जिसका मरण होना है वह भी जान लिया तो समय पर ही तो मृत्यु कहलाई, अकालमौत कहां रही? इस वितर्कसे अकालमौतके अभावका प्रसङ्ग आता है। उसका समाधान इस प्रकार समझना—जीवके परिणामोंके परिणाम-स्वरूप नवीन भवका आयुकर्म बंध जाता है। आयुकर्मके। परमाणुस्कन्ध होते है, उनके निषेकविभाग हो जाता है। एक समयमे एक निषेकका उदय होता है।इस तरह जितनी संख्या निषेकोकी है उतने समयका वह जीवन है। यह तो एक सामान्यकथन हुआ। अब देखो जैसे किसी मनुष्यके ५० वर्षके समयप्रमाणनिषेक थे। उदय होते होते २० वर्ष तक तो क्रम ठीक रहा पश्चात् विषभक्षण किये गयेके कारण, शस्त्रघातके कारण आदि कारणोंके वशसे ३० वर्षके निषेक अन्तर्मुहूर्तमें खिर गये। तो लो, यही अकालमृत्युका स्वरूप हुआ।

अब यहां विचार करें कि सर्वज्ञदेवने जाना इस निमित्तसे ऐसा होना हुआ या योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको निमित्त पाकर ऐसा हुआ। विचार करने पर ज्ञानके निमित्तसे अकालमृत्यु नही ठहरती, क्योंकि ज्ञानतो विषयी है और ये द्रव्य, गुण, पर्याय विषय हैं। विषयभावको प्राप्त सत्के बाह्य आश्रयरूप निमित्तसे तो विषयी ज्ञान होना ठीक है, परंतु विषयी ज्ञानको निमित्त पाकर इन पदार्थोका परिणमन हुआ, यह ठीक नहीं

कहा जा सकता। सर्वज्ञ देव तो जब जैसा जो होता है उसे जान जाते हैं।

जैसे घड़ीमें चाबी भर दी गई। अब वह घड़ी ७ दिन तक चलेगी। यदि किसी वस्तुका आघात आदि हुआ तो उस निमित्तको पाकर चैन टूट गई। लो, अब घड़ी एक दिन ही चलकर बन्द हो गई अथवा जैसे मोटरमें एक गैलन पेट्रोल देनेपर मोटर बीस मील जाती है, उस मोटरको ५ मील जानेपर किसी प्रकार एक वृक्षसे आघात हुआ, टङ्की फट गई, पेट्रोल सब गिर गया। लो अब मोटर ५ मील चलकर ही बन्द हो गई। इसी तरह विषभक्षण, रोग, शस्त्रघात आदिको निमित्त पाकर आयुकर्मके शेष निषेक बीचमें ही खिर जाते हैं तो यह अकालमृत्यु हो गई।

अकालमृत्यु व सर्वज्ञज्ञान—ये दो दृष्टियां हैं। सर्वज्ञज्ञानकी ओरसे वितर्क करो तो जब जो देखा जाना गया वह तब हुआ। इसमें असमय होनेकी कुछ नहीं है। विज्ञानपद्धतिका अनुसरण करो तो अकाल मृत्यु आदि जब जैसे जिस विधानसे होते होते हो जाते हैं।

अकालमृत्यु देवों, नारकियों, भोगभूमिया मनुष्यतिर्यञ्चों व चरमशरीरियोंके नहीं होती है। इस विधिनिषेधसे भी अकालमृत्यु सिद्ध हुई। इस स्थितिनिर्जराको उदीरणामरण कहते हैं।

उदीरणामरण न होना मोक्षमार्गियोंकी बात है। उस योग्य रत्नत्रयपरिणाम होना कल्याणकी ही बात है।

४१—कर्मविपाकनिर्जरा

कर्मवर्गणाओंमें जो कि कर्मरूप हुई हैं, उनमें फल देनेकी (व्यवहारतः) शक्ति है। उस फलदानशक्तिके अंश जब निर्जरित होते हैं याने कम होते हैं उसे विपाकनिर्जरा कहते हैं। इसके निर्जराकी पद्धति भी स्थितिनिर्जराकी तरह है। एक यत्नमें जितने अनुभागस्पर्द्धक (फलदानशक्ति) का नाश करना है। उनके समूहरूप एक भागको अनुभागकाण्डक कहते हैं। एक काण्डमें जितना अनुभाग नष्ट हुआ उसे अनुभाग काण्डकायाम कहते हैं। एक

काण्डकको नीचले अनुभागस्फर्द्धकोंमें मिला देनेको अनुभागकाण्डकोत्करण कहते है। यह संक्रमण जब तक होता है उतने समयको अनुभागकाण्डकोत्करणकाल कहते हैं। ऐसे अनेक अनुभागकाण्डकघात होते हैं, जिनके कारण अनुभागकी निर्जरा होती है। इसी प्रसंगमें विशुद्धताकी वृद्धि होने पर अनुभागकाण्डकघात तो बन्द हो जाता है और अनुसमयापवर्तन होने लगता है, जिससे अब प्रतिसमय अनन्तगुणा अनुभाग नष्ट होने लगता है।

अनुभागनिर्जरामें भी वही पद्धति है जो स्थितिनिर्जरामें है; अन्तर यह है कि अनुभागनिर्जरामें तो आयाम अनुभागके अंशोंका लेना होता है और स्थितिनिर्जरामें तो आयाम कालस्थितिके समयोंका लेना होता है। अनुभागनिर्जरा हो चुकने पर प्रकृति भी नहीं ठहर सकती, क्योंकि जिसमें कुछ अनुभाग ही नहीं वह किस जातिकी प्रकृति कहलावेगी।

जीवकी हानिका प्रधान कारण कर्मविपाक है। उसकी निर्जराके हेतु धर्मपरिणामोंका होना परममङ्गल है।

४२–कर्मप्रकृतिनाश

कर्मोंकी प्रकृतिका नाश दो प्रकारसे होता है–(१) स्वमुखनाश, (२) परमुखनाश। जो प्रकृति अपने ही रूप रहकर अपनी स्थितिसत्त्वके अन्तिम निषेक उदय होनेपर अभावको प्राप्त होती है उस नाशको स्वमुखनाश कहते है। जो प्रकृति अन्यप्रकृतिरूप संक्रमण करके अभावको प्राप्त होती है उस नाशको परमुखनाश कहते हैं। स्वमुखनाशमें उस प्रकृति व प्रदेश दोनोंका अभाव होता है, किन्तु परमुखनाशमें प्रकृतिका नाश होता है, प्रदेशका नाश नहीं होता। प्रदेशका नाश अनन्तर संभव है।

स्वमुखनाश जिन प्रकृतियोंका होता है वे ये हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, ४ संज्वलनकषाय, ६ नोकषाय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, ५ अन्तराय। परमुखनाश जिन प्रकृतियोंका होता है वे ये हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीकषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय।

कर्मकी १४८ प्रकृतियोमे से पहिले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति– इन ७ प्रकृतियोका क्षय होता है। यह क्षय श्रेणि चढनेसे पूर्ण हो जाता है। पश्चात् नवमे गुणस्थानमे नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, उद्योत, आतप, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला – इन १६ प्रकृतियोका नाश होता है । पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण ४ व प्रत्याख्यानावरण ४–इन ८ प्रकृतियोका नाश होता है। पश्चात् नपुंसकवेदका क्षय होता है। पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय होता है। पश्चात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा–इन ६ प्रकृतियोका नाश होता है। पश्चात् पुरुषवेद, पश्चात् संज्वलन क्रोध, पश्चात् सज्वलन मान, पश्चात् संज्वलन मायाका क्षय होता है। पश्चात् दशवे उपस्थानमे सज्वलन लोभका क्षय होता है। पश्चात् १२ वे गुणस्थानमें ५ ज्ञानावरण, ६ दर्शनावरण व ५ अन्तराय–इन १६ प्रकृतियोका क्षय होता है। पश्चात् १४ वें गुणस्थानमे उपान्त्य समयमें ७२ व अन्तसमयमे १३ प्रकृतियोका क्षय हो जाता है। जिसका निर्वाण होता है वह मनुष्य ही होता है। अतः नरकायु, तिर्यगायु, देवायुकी सत्ता ही नही थी। इस प्रकार सब कर्मोंका क्षय हो जाता है।

४३–कर्मक्षयोपशम

कर्मकी उस अवस्थाको क्षयोपशम कहते है जिसके निमित्तसे जोवके पूरे रूपसे गुण तो न घटते जावे, किन्तु कुछ अश प्रकट रहे और कुछ अंश प्रकट न रहें। जैसे–मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम दृष्टान्तके लिये ले— मतिज्ञानावरण प्रकृतिमे जितने स्पर्द्धक (कर्मवर्गणाओका समूह) है उनमे कुछ तो सर्वघाती स्पर्द्धक है और कुछ देशघाती स्पर्द्धक हैं; उनमे से वर्तमानस्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका तो उदयाभावी क्षय हो और आगामी स्थितिके सर्वघाती स्पर्द्धकों का उपशम हो और देशघाती स्पर्द्धकोका उदय हो तो ऐसी अवस्थाको मतिज्ञाना-

वरणका क्षयोपशम कहते हैं। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञान प्रकट होता है। यहां सर्वघाती स्पर्द्धकोंका (वर्तमानके) उदयाभावी क्षय है। इस कारण ज्ञानगुणका पूर्णघात नहीं होता, आगामी सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम है। इसलिये ज्ञान गुणका पूर्ण घात नहीं होता, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है। अतः कुछ अंशों में ज्ञानगुण प्रकट रहता है। उदयाभावी क्षयका अर्थ है–उदयमें आकर निष्फल खिर जाना। उपशमका अर्थ है—उदय या उदीरणामें न आ सकना। इसी प्रकार यथासंभव प्रकृतियोंमें लगा लेना। सम्यग्मिथ्यात्व नामका भाव भी क्षायोपशमिक भाव है। वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे होता है। इस प्रकृतिका उदय ही क्षयोपशमतुल्य है क्योंकि इसके उदयमें न तो सम्यक्त्व होता है और न सम्यक्त्वका पूर्णघात होता है। अणुव्रतभाव भी क्षायोपशमिक है। उसके वर्णनके दो प्रकार हैं—(१) अप्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षयसे व आगामी उदयमें आ सकने वाले उन्हींके उपशमसे तथा प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत भाव होता है। यहाँ अणुव्रतके लिये प्रत्याख्यानावरण देशघाती के तुल्य है। (२) पूर्वकषाय रहित जीवके प्रत्याख्यानावरणके उदयसे अणुव्रत [illegible] है। इस प्रकार महाव्रतको भी जानना अर्थात् उसके भी २ प्रकार [illegible] हैं—(१) प्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षय व उपशमसे तथा संज्वलनकषायके उदयसे महाव्रतरूप क्षायोपशमिक भाव होता है। (२) पूर्वकषायरहित जीवके संज्वलन कषायके उदयसे महाव्रत भाव होता है। महाव्रत भी क्षायोपशमिकभाव है। इत्यादि प्रकारसे क्षयोपशमके नाना प्रकार होकर भी क्षयोपशमका जो मूल लक्षण है कि गुणका पूर्णघात तो न हो, किन्तु कुछ अंश प्रकट हो—इसका विघात नहीं होता।

जीवके कल्याणके लिये प्रथम ही प्रथम क्षायोपशमिकभाव ही सहायक होता है। जो ज्ञान भेददृष्टिका कारण बनता है वह क्षायोपशमिक ही तो है। कर्मका क्षयोपशम जीवके गुणको प्रकट नहीं करता, किन्तु ऐसा ही सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि प्रकृतिका क्षयोपशम होनेके समय जीवमें उसके अनुरूप गुणव्यक्ति होती है। जीवके गुणोंके इस विकासमें जीवभावकी ओरसे देखें तो यहां भी क्षयोपशम नजर आता है। जीवके गुणोंका पूरा घात नहीं होना सो

विकारक्षय है व कुछ प्रकट होना सो विकारोपशम है। इसी अवस्थामें सदुपयोग की बुद्धि होनेपर कल्याणका प्रारम्भ होता है।

जीवमें ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र व शक्ति ये खास गुण हैं और इनका विघात करने वाले कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, प्रतिपक्षीकर्मके उदयमें दर्शन-मोहनीय, चारित्रमोहनीय व अन्तरायकर्म ये हैं। इनमेंसे श्रद्धा व चारित्र—ये दो गुण तो प्रतिपक्षीकर्मके उदयमें विकृत हो जाते हैं किन्तु ज्ञान, दर्शन व शक्ति—ये तीन गुण विकृत तो प्रतिपक्षी कर्मके उदयमें नहीं, किन्तु अप्रकट हो जाते हैं। ये तीन गुण पूर्णतया अप्रकट रहें ऐसा भी नहीं है क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरणव अन्तरायका प्रत्येक संसारी (१२ वें गुणस्थान तक) जीवके क्षयोपशम रहता ही है। इनका क्षयोपशम भी रह सकता और उदय भी रह सकता इस कारण ये गुण कुछ प्रकट व कुछ अप्रकट रहें ऐसी स्थिति चलती है।

श्रद्धा व चारित्र विपरीत हो सकते हैं व कहीं कुछ अंशोंमें प्रकट हो सकते हैं। सो जब दर्शनमोहनीय व चारित्र मोहनीयका उदय रहता है तब तो विपरीत परिणमन होता है किन्तु दर्शनमोहनीयका क्षयोपशम चलता है तब यथायोग्य सम्यक् परिणमती है श्रद्धा और चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम होता है तब सम्यक् परिणमने लगता है चारित्र। चारित्र कितने ही पदोंका है सो जिस पदके चारित्रके घातक चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम होता है तब वह चारित्र प्रकट हो जाता है।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—(१) घातिया, (२) अघातिया। घातियाकर्म ४ व अघातिया कर्म भी ४ हैं। घातियाकर्मोंका ही क्षयोपशम हो सकता अघातिया कर्मोंका क्षयोपशम नहीं होता। घातियाकर्म ४ ये हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय। ज्ञानावरण ५ प्रकार होते हैं—(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण, (५) केवलज्ञानावरण। इनमेंसे पहिली ४ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है। केवलज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं होता क्योंकि पहिली चार प्रकृतियोंमें देशघातीस्पर्द्धक व सर्वघाती स्पर्द्धक दोनों प्रकारके स्पर्द्धक हैं। देशघातीस्पर्द्धक उन्हे कहते हैं जो गुणका पूरा घात न कर सकें व

सर्वघाती स्पर्द्धक उन्हें कहते हैं जो उस गुणव्यक्तिका पूरा घात करें। दर्शनावरणकी ९ प्रकृतियां है—(१) चक्षुदर्शनावरण, (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७)- प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानगृद्धि। इनमें से आदिकी चार प्रकृतियों का क्षयोपशम होता है क्योंकि इनमें देशघाती व सर्वघाती दोनों ही प्रकारके सर्वघातीस्पर्द्धक होते हैं। मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियां हैं, जिनमें दर्शनमोहनीयकी ३ व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ–इन ७ प्रकृतियोंका मिलकर क्षयोपशम बनता है क्योंकि इनमें १ सम्यक्त्वप्रकृति तो देशघाती है बाकी ६ सर्वघाती है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उदय हो तो अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहलाता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यद्यपि सर्वघाती हैं तो भी इनका अनुदय हो और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ का उदय हो तो प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहलाता है। सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद—इनका क्षयोपशम नहीं होता। इनमें उदयका महत्ता व तीव्रताके कारण तारतम्य हो जाता है।

अन्तरायकर्मकी ५ प्रकृतियां है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय। इन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है। जिन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है वे प्रकृतियां जिन गुणों का घात करती हैं क्षयोपशममें उन गुणोंका सर्वथा घात नही होता है, कुछ अंश प्रकट रहते है और कुछ अंश अप्रकट रहते हैं।

जीवके कल्याणके लिये सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि अवकाश दिलाती है। कर्मप्रकृतियोंका हल्का होना अथवा क्षयोपशम होना सो क्षयोपशमलब्धि है। क्षयोपशमलब्धिसे विशुद्धिलब्धि प्राप्त होती है। विशुद्धिलब्धि प्राप्त होनेपर देशनालब्धि हो सकती है। इसके अनन्तर यथोचित मनन संस्कार हो जानेपर प्रायोग्यलब्धि हो जाती है। प्रायोग्यलब्धिके बाद ही करणलब्धि हो सकती है। उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़नेको विशुद्धिलब्धि कहते हैं। उपदेशके अवधारण करे

लेनेको देशनालब्धि कहते हैं। विशेष विशुद्ध भाव होनेके कारण कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण ही रह जानेकी स्थिति प्राप्त कर लेनेको प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करणरूप निर्मल परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं।

कर्मक्षयका उपाय भी क्षयोपशमकी प्राप्ति है। क्षयोपशमका उपाय मन्द कषाय व तत्त्वज्ञानका उपयोग है। अतः तत्त्वज्ञानके उपयोग व मन्दकषायरूप वर्तनमें यत्न करना सुखार्थियोंका कर्तव्य है।

४४–कर्मक्षय

कर्मप्रकृतिका पूर्णरूपसे दूर हो जाने व उसके पुनः न आ सकनेको कर्मक्षय कहते हैं। समस्त कर्मोंके क्षयको भी क्षय कहते हैं और कर्मोंकी १४८ प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृतिके क्षयको क्षय कहते हैं, परन्तु जिन प्रकृतियोंका क्षय हो गया है, उन प्रकृतियोंका फिर किसी भी प्रकार कभी भी आना नहीं हो सकता कर्मकी प्रकृतियां सब १४८ हैं। मूलकर्म ८ हैं उनके भेद सब १४८ हैं— ज्ञानावरण कर्म ५, दर्शनावरणकर्म ९, वेदनीयकर्म २, मोहनीयकर्म २८, आयुकर्म ४, नामकर्म ९३, गोत्रकर्म २, अन्तरायकर्म ५। ज्ञानवरणकी पांचों प्रकृतियोंका (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण) १२ वें क्षीणमोहनामक गुणस्थानके अन्तमें एक साथ क्षय होता है और उसी समय केवलज्ञानी होता हुआ सयोगकेवली कहलाने लगता है। दर्शनावरणकी ९ प्रकृतियां हैं—(१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानगृद्धि। इनमेंसे निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला व स्त्यानगृद्धि–इन तीन प्रकृतियोंका तो क्षयकके ९ वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है और निद्रा व प्रचला–इन दो प्रकृतियोंका १२ वें गुणस्थानके द्विचरम (अन्तिम समयके अनन्तर पूर्ववर्ती) समयमें क्षय होता है और चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शना-

वरण व केवलदर्शनावरण—इन चारोंका १२ वें गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय होता है। वेदनीयकी २ प्रकृतियां है—(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। इनमें से जिसका उदय नहीं है उस एकका तो १४ वें अयोगकेवली नामक गुणस्थानके द्विचरम समयमें क्षय होता है और बाकी बची दूसरी प्रकृतिका १४ वें ही गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय होता है। मोहनीयकर्मकी प्रकृतियां २८ हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यग्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति, (४–७) अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, (८–११) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, (१२–१५) प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, (१६–१९) सञ्ज्वलन क्रोध मान माया लोभ, (२०) हास्य, (२१) रति, (२२) अरति, (२३) शोक, (२४) भय, (२५) जुगुप्सा, (२६) पुंवेद, (२७) स्त्रीवेद, (२८) नपुंसक वेद। इनमें से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति व अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया—लोभ इन ७ प्रकृतियोंका तो क्षायिक सम्यक्त्व होनेके समय क्षय हो जाता है। वह प्रायः चौथे अविरतसम्यक्त्व नामक गुणस्थानसे अनन्तर पूर्वमें ही होता है। यदि संयमासंयम प्रकट होनेके साथ क्षायिक सम्यक्त्व होता है तो ५ वें गुणस्थानके अनन्तर पूर्वमें उन ७ का क्षय होता है। यदि संयम प्रकट होनेके साथ क्षायिक सम्यक्त्व होता है तो सातवें गुणस्थानके अनन्तर पूर्वमें उन सात प्रकृतियोंका क्षय होता है। अप्रत्याख्यानावरणकी ४ व प्रत्याख्यानावरणकी ४ का अनिवृत्तिकरण नामक ९ वें गुणस्थानमें क्षय होता है। पश्चात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें ही नपुंसकवेद, पश्चात् स्त्रीवेद, पश्चात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—इन ६ का, पश्चात् पुरुषवेद, पश्चात् संज्वलन क्रोध, पश्चात् संज्वलन मान, पश्चात् संज्वलन माया का नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो जाता है। संज्वलन लोभका सूक्ष्मसाम्परायनामक १० वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

आयुकर्मकी ४ प्रकृतियां हैं–(१) नरकायु, (२) तिर्यंगायु, (३) मनुष्यायु (४) देवायु। इनमें से नरकायु, तिर्यंगायु व देवायु—इन तीनका तो सत्त्व ही

उसके नहीं है जिसे मोक्ष जाना है। रही मनुष्यायु सो मनुष्यायुका १४ वें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है।

नामकर्मकी ६३ प्रकृतियां हैं। उनमें से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, उद्योत, आताप, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर इन १३ प्रकृतियोंका नवमें गुणस्थानमें क्षय हो जाता है। देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य औदारिकशरीर, वैक्रियकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियक-अङ्गोपाङ्ग, आहारक अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, औदारिक बन्धनादि, ५ बंधन, औदारिकसंघातादि ५ संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातीसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, हुण्डकसंस्थान, वज्रर्षभना-राचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलक-संहनन, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, ८ स्पर्शनामकर्म, ५ रस नामकर्म, २ गंधनामकर्म, ५ वर्णनामकर्म, स्थिर, शुभ, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वासोच्छ्वास—इन ७० प्रकृतियों का अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थानके द्विचरम समयमें क्षय हो जाता है। मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, पञ्चेन्द्रिय, सुभग, त्रस, वादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर—इन १० प्रकृतियोंका अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थान के अन्तमें क्षय हो जाता है।

गोत्रकर्मकी २ प्रकृतियां है— (१) नीचगोत्र, (२) उच्चगोत्र। इनमेंसे नीचगोत्रका क्षय अयोगकेवली गुणस्थानके द्विचरम समयमें होता है और उच्च-गोत्रका क्षय अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तमें क्षय होता है।

अन्तरायकी ५ प्रकृतियां हैं— (१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय—इन पांचों अन्तरायों का १२ वें गुणस्थानके अन्तमें क्षय हो जाता है।

१४ वें गुणस्थानके अन्त तक सभी कर्मोंका पूर्णक्षय हो चुकता है। अतः इसके अनन्तर ही आत्मा कर्मरहित सिद्ध प्रभु हो जाता है।

कर्मप्रकृतिके क्षय होनेकी प्रायः इसप्रकार पद्धति है—किसी भी कर्मप्रकृति के क्षय होनेके लिये उस प्रकृतिका अनुभाग घात होता है सो उस समग्र अनुभाग के अंशोंके काण्डक बनते हैं, उनमेंसे अनेक काण्डकोंका घात होता है। इसी प्रकार उस प्रकृतिकी स्थितियोंका काण्डक काण्डकोंमें घात होता है और प्रदेशों अर्थात् कार्माणवर्गणाओंका भी बट बट कर पहिली स्थितिवाले कार्माणवर्गणाओंमें मिल मिल कर उनके उदयके साथ क्षीण होते जाते हैं ? इस प्रकार सभीका क्रम घातके लिये जारी रहता है। अन्तमें क्षय होजानेपर उस प्रकृतिका अत्यन्त अल्पभाग अवशिष्ट रहता है वह अन्य प्रकृतियोंके क्षयके साथ क्षयको प्राप्त हो जाता है। इस क्षयविधिके समय अन्यभी अनेक कार्य जैसे स्थितिबन्धका कम होना, अनुभागबन्धका कम होना, अनेक प्रकृतियोंका संक्रमण होना आदि होता रहता है। इससे उन प्रकृतियोंके क्षयकी सुगमता होती जाती है। अनेक सर्वघाती घातिया प्रकृतिका अनुभाग क्षीण होते होते वह देशघाती बन जाती है पश्चात् विधिपूर्वक उसका क्षय हो जाता है।

जितना भी क्लेश है, वह कर्मके उदयकालमें निमित्तनैमित्तिकभाववश आत्माके विकारका फल है। यह विकार निमित्तदृष्टिसे कर्मकृत है। आत्मा क्या करे वह होना ही पड़ता है। जैसे दर्पणके सामने जो वस्तु आजाये दर्पण क्या करे दर्पणमें तदनुरूप छाया होना ही पड़ती है। हां यदि दर्पणमें पृष्ठपर रोगन न लगा हो तो वह छाया असर नहीं करती है। इसी तरह आत्माके समक्ष कर्म उदयमें आते हैं तो आत्मामें तदनुरूप विकार आ धमकते हैं। हां यदि आत्मामें मिथ्यात्व अथवा परकी ओर आकर्षण न हो तो वह विकार असर नही करता और इस प्रकार यदि आत्मा स्वोपयोगसे आकर्षण मेट ही दे तो विकार भी समाप्त हो जाता है। दर्पणमें कोई पुरुषार्थ नहीं होता, आत्मामें पुरुषार्थ होता है।

यह आत्मा ही जो कि कर्मके उदयके विकारको आत्मामें उपयोग द्वारा जोड़कर ससारी था, वही कर्मके उदयके विकार को आत्मामे न जोड़कर उसका ज्ञाता द्रष्टा रहकर स्वतन्त्र हो जाता है, वही मुक्त हो जाता है। कर्मका क्षय

हो जाना ही सर्वोपरि लाभ है। ॐ नमः कर्ममुक्ताय। ॐ तत् सत्। ॐ शुद्धं चिदस्मि। तमसो मा ज्योतिर्गमय।

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॐ; ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ।

४५–गुणस्थान

आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, योग आदि अनेक गुण हैं और उन गुणोंके विकासके स्थान भी अनेक है, किन्तु जिन गुणोंके विकारसे संसार परिभ्रमण होता है और जिनके शुद्ध विकाससे शान्तिमार्ग मिलता है व बढ़ता है, उन गुणोंके स्थान बनाना विशेष प्रयोजनीय हैं। अतः गुणस्थानमें सम्यक्त्व, चारित्र व योग—इन तीनोंके विकासोंके स्थान बताये गये हैं। इस कारण यह कहना चाहिये दर्शनमोह चारित्रमोह व योगके निमित्तसे होनेवाले आत्माके सम्यक्त्व (श्रद्धा गुण) व चारित्र गुणोंकी अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। योगका शुद्ध परिणमन भी चारित्रमें अन्तर्भूत कर लिया जाता है। इस कारण यहां यह सन्देह नही करना चाहिये कि "योगका निमित्त तो बताया है, किन्तु योगका विकास नही बताया सो क्या बात है ?" योगका विकार भी चरित्रकी परिपूर्णतामें बाधक है, अतः योगका विकार समाप्त होनेपर चारित्रगुणका विकास होता है।

सम्यक्त्व (विश्वास) व चारित्र गुणके स्थान अनगिनते है। फिर भी न अतिसंक्षेप न अतिविस्तारसे बतानेकी दृष्टि रखकर पूज्यपाद महर्षियोंने गुण-स्थान १४ वर्णित किये है—(१) जहां श्रद्धा व चारित्रगुणका कुछ भी शुद्ध विकास नहीं है, उल्टा ही परिणमन है, ऐसे परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्वों में जीव शरीरको स्वयं (जीव) मानता है, रागद्वेषादि विभावोंसे भिन्न शुद्ध ज्ञायकस्वभावका परिचय नहीं कर पाता। (२) जिस जीवकी श्रद्धा निर्मल होगई थी वही जीव जब अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभमें से किसी एकका उदय आजाय व मिथ्यात्वका उदय न आपाये उस समयके होनेवाले विपरीत परिणामको सासादन गुणस्थान कहते हैं। इस जीवकी ऐसी हालत है

जैसे कि कोई पुरुष छत परसे तो गिर पड़े व भूमिमें आ न पाये ऐसी बीचकी भयकर हालत है, जिसके बाद भूमिमें गिरना निश्चित है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से च्युत होनेपर इस जीवकी ऐसी भयंकर विपरीत अभिप्रायवाली हालत है कि जिसके बाद शीघ्र ही मिथ्यात्वमें आपड़ना सुनिश्चित है। (३) जिस जीवकी श्रद्धा कुछ निर्मल व कुछ मलीन ऐसी मिश्ररूप होती है, उस जीवका वह परिणाम मिश्रगुणस्थान कहलाता है। जैसे खिचड़ी का स्वाद न केवल चावल जैसा है और न केवल दाल जैसा है, किन्तु मिला हुआ भी विलक्षण जात्यन्तर-रूप है। इसी तरह जिस स्थानमें जीवकी श्रद्धा न तो केवल सम्यक् है और न केवल मिथ्या है, किन्तु मिली हुई विलक्षण जात्यन्तररूप है, ऐसे स्थानको मिश्र गुणस्थान कहते हैं। (४) जहाँ जीवके सम्यक्त्व (सत्यश्रद्धान) तो हो चुका है, किन्तु अभी वैराग्यकी विशेषता न हो पानेसे कोई नियमरूप व्रत नहीं लिया है, ऐसे स्थानको अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं। (५) जहाँ सम्यक्त्व भी है और एक देश चारित्र भी हो गया हो, उस स्थानको देशविरतगुणस्थान कहते हैं। (६) जहां सम्यक्त्व भी है और सर्वविरति अर्थात् महाव्रतका भी धारण है, किन्तु अभी संज्वलन (एक छोटी शक्तिकी कषाय) कषायका उदय मंद न होनेसे विहार, उपदेश देना, दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना आदि कार्योंमें भी यथासमय लगना होता है, ऐसे स्थानको प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। (७) जहां सम्यक्त्व है, महाव्रतका धारण है और संज्वलन कषायका उदय मंद होनेसे आत्माका पूर्ण सावधानी सहित ध्यान है, उस स्थानको अप्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। (८) जहां विशेष विशुद्धि होनेके कारण कर्मोंके उपशम या क्षयका उद्यम है, उस स्थानको अपूर्वकरण कहते हैं। (९) जहां और भी अधिक विशुद्धि होनेसे कुछ कुछ कर्मप्रकृतियोंका उपशम या क्षय भी किया जा रहा हो, उसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं। (१०) जहां अधिकाधिक विशुद्धिके कारण अवशिष्ट कषायका भी उपशम या क्षय किया जाता है, उस स्थानको सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान कहते हैं। (११) जहां चारित्र प्रकट हो जाता है, उसे उपशान्त कषाय गुणस्थान कहते है। (१२) जहां मोहनीय कर्मका पूर्णक्षय हो चुकने कारण यथाख्यात चारित्र प्रकट हो जाता है, उस स्थानको

क्षीण कषाय गुणस्थान कहते है। (१३) समस्त कषायें नष्ट हो जानेके कारण जहां परिपूर्ण ज्ञान, (केवलज्ञान) दर्शन, ग्रानन्द व वीर्य प्रकट हो जाता है, किन्तु योग रहता है, उसे सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।(१४) सयोगकेवली परमात्माके जब योग भी नष्ट हो चुकता है तब उस परमात्माके स्थानको ग्रयोगकेवली गुणस्थानकहते है। ग्रयोगकेवली गुणस्थानके बाद ही तुरन्त यह परमात्मा सर्वकर्ममुक्त शरीरमुक्त सिद्ध भगवान होजाते है। इस प्रकार ग्रात्माके शुद्धिकी पद्धति है। शुद्ध हो जानेपर वह ग्रात्मा पुनः कभी भी ग्रशुद्ध नही हो सकता।

यह जीव ग्रनादिसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहता ग्राया है। जब कभी क्षयोपशमविशेष होता है ग्रौर परिणामोंमें विशुद्धिकी वृद्धि होती है तब यह जीव शुद्ध शिक्षा धारण करता है ग्रौर वस्तुस्वरूपको यथार्थ पहिचानकर भेदविज्ञानके बलसे परसे उपयोग हटाकर निजतत्त्वमें उपयोगी होता है। इस पद्धतिमें सहजनिमित्तनैमित्तक सम्बन्धसे सम्यक्त्व (सच्चं श्रद्धा) के घातक कर्मप्रकृतियोंका उपशम होता है ग्रौर तभी ग्रौपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है। इस ग्रौपशमिक सम्यक्त्वको यदि साथमे कोई व्रत परिमाण न हो तो ग्रविरत सम्यक्त्व गुणस्थान (चौथागुणस्थान) कहते है। यह उपशम सम्यग्दृष्टि उपशम की ग्रवधि (ग्रन्तर्मुहूर्त) समाप्त होनेपर या तो मिथ्यात्वमें ग्रा सकता या क्षयोपशमसम्यक्त्व करके सम्यग्दृष्टि ही रह सकता या यदि मिथ्यात्वका तो उदय ग्रा न पाये ग्रौर सम्यक्त्वविराधकपाय (ग्रनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभमें से कोई) उत्पन्न होजाय तो सासादन गुणस्थान हो जाता है। मिथ्यादृष्टि या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्मिथ्यात्वकर्मप्रकृतिका उदय ग्रा जावे तो उसका सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीवके यदि सम्यक्त्व व एकदेशचारित्र (ग्रणुव्रत) का एक साथ परिणाम हो जावे तो उसका देशविरत गुणस्थान होजाता है। ग्रविरत सम्यग्दृष्टि जीवके देशचारित्रका परिणाम हो जावे तो उसका देशविरत गुणस्थान हो जाता है। यथायोग्य मुनिके परिणाम शिथिल होकर देशचारित्रका ही परिणाम रह जावे तो उसके देशविरत गुणस्थान हो

जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीवके सम्यक्त्व व संयमका एक साथ परिणाम हो जावे तो उसके अप्रमत्तविरतगुणस्थान हो जाता है। प्रमत्तविरतमुनिके विशेष आत्मीय सावधानीका परिणाम हो जावे तो अप्रमत्तविरत गुणस्थान हो जाता है।

अप्रमत्तविरत मुनिके कुछ अल्पप्रमाद आजावे तो उसके प्रमत्तविरत गुणस्थान हो जाता है।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीवके जब सातिशय परिणाम होता है तब वह अपूर्वकरणगुणस्थानमें पहुंचता है। यदि उस सातिशय अप्रमत्तविरत मुनिने कर्मप्रकृतियोंके उपशम करने का परिणाम प्रारम्भ किया तो उपशम-श्रेणिके अपूर्वकरणगुणस्थान (८ वां गुणस्थान) में पहुंचता है और यदि क्षय करनेका परिणाम प्रारम्भ किया तो क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुँचता है।

सातवें गुणस्थानसे ऊपर दो श्रेणिया है (१)—उपशमश्रेणि, (२) क्षपक श्रेणि। उपशमश्रेणिमें तो ८वां, ९वा, १०वां व ११वां—ये चार गुण-स्थान हैं और क्षपक श्रेणिमे ८वां, ९वां, १०वां व १२वां—ये चार गुण-स्थान है। बारहवेंसे ऊपर भी क्षपक ही है, किन्तु १३ वें, १४ वें गुणस्थानके मुकाबिले कोई उपशमक होता ही नहीं। अतः प्रयोजन नहीं होनेसे श्रेणिसे ऊपर इन्हें कहा गया है।

अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीवके अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते रहते हैं, जिसके निमित्तसे कर्मोंकी स्थितिका घात होने लगता है, स्थितिबन्ध कम होजाते हैं, बहुतसा अनुभाग (फलशक्ति) कर्मोंका नष्ट हो जाता है, कर्म-स्कन्धोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है व खोटी प्रकृतियांशुभ प्रकृतियोंमें बदल जाती हैं।

अपूर्वकरणगुणस्थानके बाद जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। इसमें अपूर्वकरण गुणस्थानसे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं। उप-शमश्रेणिके अपूर्वकरणवाला तो उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है

और क्षपकश्रेणिके अपूर्वकरणवाला क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरणमें जाता है। उपशमक अनिवृत्तिकरण चारित्रबाधक २० कर्म प्रकृतियोंका उपशम करता है, सिर्फ एक सूक्ष्म संज्वलन लोभ बच जाता है और क्षपक अनिवृत्तिकरण इन २० कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है इनके क्षयके अतिरिक्त अन्य-कर्मसम्बन्धी १६ प्रकृतियोंका भी क्षय करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके बाद जीव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला तो उपशमश्रेणिके सूक्ष्म-साम्परायमें पहुंचता है और क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुंचता है। उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय तो सूक्ष्मसंज्वलन लोभका उपशम कर देता है और क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानवाला इस लोभका क्षय कर देता है। इस प्रकार चारित्र-बाधक प्रकृति फिर नहीं रहती है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके बाद जीव उपशमश्रेणिका हो तो उपशान्तक-कषाय नामके ११ वें गुणस्थानमें जाता है। यदि क्षपक श्रेणिका हो तो क्षीणकषाय नाम १२ वें गुणस्थानमें जाता है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव तो चारित्रमोहके उपशमके कालके समाप्त होने पर उपशमश्रेणिके १० वें गुण स्थानमें आ जाता है और क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव १३ वें गुणस्थानमें पहुंचता है अर्थात् सकलपरमात्मा सयोगी होता है।

चढ़ते समयकी उपशमश्रेणिमें जीव क्रमशः ८ वें, ९ वें, १० वें, ११ वें में पहुँचता है। यदि इस बीच मरण हो गया तो वह तुरन्त चौथे गुणस्थानमें आकर देव होता है। उतरते समयकी उपशमश्रेणिमें जीव क्रमशः ११ वें से १० वें, ९ वें व ८वां में पहुंचकर ७वें में पहुंचता है! इसके बाद क्रम नहीं है। यथायोग्यप्रकारसे नीचे उतरता है अथवा इस ७वें से ६वें में आकर व ७ वें, ६वें में परिवर्तन कर कर पुनः ऊपर चढ़ सकता है। उतरते समयकी उपशमश्रेणिमें जीवका यदि मरण हो जाय तो वह भी चौथा गुणस्थान पाता हुआ देवगतिमें जन्म लेता है।

सयोगकेवली नामक १३ वें गुणस्थानमें यह परमात्मा जिसकी जैसी मनुष्यभवकी आयु शेष हो उसमें केवल १ अन्तर्मुहूर्त छोड़कर शेष आयु

पर्यन्त रहते हैं। इनके वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र—ये चार प्रकारके कर्म रहते है। वेदनीयके उदयसे सभामंडप समवशरणादि विभूति होती है। यद्यपि विभूतिसे परमात्माका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, फिर भी कर्मोदयका नैमित्तक कार्य तो होता ही है। आयुकर्मके उदयसे आत्मा शरीरमें अवस्थिति रहता है। नामकर्मके उदयसे शरीरकी रचना रहती है। गोत्र कर्मके उदयसे ये आत्मा सर्वोत्कृष्ट लोकमान्य होते हैं। इन चार कर्मों की स्थितियां विभिन्न प्रकारकी होती हैं। सो, यदि आयुकर्मकी स्थिति कम हो और शेष ३ कर्मोंकी स्थितियां अधिक हों तो उन अधिक स्थितियोंको आयुकर्मकी स्थितिके बराबर करनेके लिये (होता स्वयं है) इन सकल परमात्माके समुद्घात होता है। आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना, किन्तु शरीरको छोड़कर नहीं निकलना, इसे समुद्घात कहते हैं। सकलपरमात्मा (सयोगकेवली) के इस समुद्घातका नाम केवलिसमुद्घात कहते हैं। यह केवलिसमुद्घात सयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तसे पहिले ही होता है। यह समुद्घात ८ समयोंमें पूर्ण होता है (१) पहिले समयमें वातवलयोंको छोड़कर बाकी लोकप्रमाण उपरसे नीचे १४ राजू तक शरीरप्रमाण या शरीरसे तिगुने प्रमाण मोटाईको लिये हुए आत्मप्रदेश फैल जाते हैं। इसको दण्डसमुद्घात कहते हैं। (२) दूसरे समयमें दोनों बाजूसे जहां तक लोकविस्तार है (वातवलयोंको छोड़कर) वहां तक फैल जाते हैं। इसे कपाटसमुद्घात कहते हैं। (३) तीसरे समयमें आगे पीछे जहां तक लोकविस्तार है (वातवलयोंको छोड़कर) वहां तक फैल जाते हैं। इसे प्रतरसमुद्घात कहते हैं। (४) चौथे समयमें समस्त वातवलयोंमें (चारों ओर) फैल जाते हैं। इसे लोकपूरणसमुद्घात कहते हैं। लोकपूरणसमुद्घात आत्मप्रदेश लोकके समस्तप्रदेशों में फैलते हैं। जितने लोकके प्रदेश हैं उतने ही आत्मा प्रदेश है। सिर्फ यही लोकपूरण समुद्घातकी ही स्थिति ऐसी है जहां आत्मा प्रदेशोंसे पूर्णलोकव्यापक होता है। (५) पांचवे समयमें प्रतरसमुद्घातकी स्थिति हो जाती है। (६) छटवें समयमें कपाटसमुद्घातकी स्थिति हो जाती है। (७) सातवें समयमें दण्डसमुद्घातकी स्थिति हो जाती है। (८) आठवें समयमें शरीरमें ही सब प्रदेशोंका प्रवेश

हो जाता है। इस घटनासे शेषकर्मो की स्थिति आयुकर्मकी स्थितिप्रमाण हो जाती है। इसके बाद योग निरोध होने लगता है।

सयोगकेवलीके योगनिरोध होनेपर अयोगकेवली गुणस्थान होता है। इसका काल "अइउऋ" इन चार ह्रस्वाक्षरोंके शीघ्र बोलनेके कालके बराबर है। अन्तमें अवशिष्ट सर्वकर्मप्रकृतियोंका क्षय होते ही कर्ममुक्त व शरीरमुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं, सिद्ध हो जाते हैं। सिद्ध भगवानको गुणस्थानातीत अथवा अतीतगुणस्थान कहते हैं।

४६–सम्यक्त्व

सम्यक्त्व शब्दका अर्थ यथार्थता याने सचाई है। जीवोंके जो वस्तुस्वरूपके विरुद्ध अभिप्राय रहता है, उस विपरीत अभिप्रायके मिटनेपर सचाई आजाती है, इसीको सम्यक्त्व कहते हैं। वस्तुका स्वरूप अपने द्रव्य प्रदेश पर्याय गुणरूप है, किसी भी वस्तुका कुछ भी उस वस्तुसे बाहर नहीं है। अतएव कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं है। है तो वास्तविक बात यह, किन्तु कोई अभिप्राय ऐसा बनावे कि मैं अमुक पदार्थको यों करता हूं, अमुकको सुख देता हूं, अमुकको दुःख देता हूं या अमुक मुझे कुछ करता है या अमुक अमुकको करता है इत्यादि भाव सब मिथ्यात्वके भाव हैं; अयथार्थ है, झूठे हैं याने वस्तु स्वरूपके विरुद्ध हैं। ऐसा विपरीत अभिप्राय न रहे तो स्वच्छता उत्पन्न होती है वही तो सचाई है।

आत्माका वैभव सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व ही सत्य आनन्दका जनक है। जीव आनन्द ही तो चाहता है। आनन्द सम्यक्त्व होनेपर वास्तवमें होता है। मिथ्यात्व ही विपदा है। जीव विपदासे बचनेके लिये नाना उपाय करता है, किन्तु सम्यक्त्वके उपाय बिना विपदा दूर हो ही नहीं सकती।

आत्मा स्वभावसे सर्वगुणकरण्ड है। यदि कोई आवरक, बाधक बाह्य उपधि न लगी हो तो आत्मामें स्वभावका ही विकास होता है। सम्यक्त्वका भी बाधक यदि बाह्य उपधि न लगी हो तो सम्यक्त्वका भी स्वभाव विकास

होता है। आत्माके साथ प्रकृतियोंका संयोग है। ये ही प्रकृतियाँ आत्मगुणके विकासके बाधक व आवरक है। सम्यक्त्व गुणके विकासकी बाधक ७ प्रकृतियां है जिनको इन नामोंसे सूचित किया गया है— (१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति, (४—७) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ। इन प्रकृतियोंका जब पूर्ण उपशम होता है तभी जो सम्यक्त्व होता है, उसका नाम है औपशमिक सम्यक्त्व। इन प्रकृतियोंका जब एकदेश उपशम होता है अर्थात् क्षयोपशम होता है तब जो सम्यक्त्व होता है उसका नाम है क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। इन प्रकृतियोंका जो क्षय होता है तब जो सम्यक्त्व होता है उसका नाम है क्षायिक सम्यक्त्व।

औपशमिक सम्यक्त्व व क्षायिक सम्यक्त्व—ये दोनों निर्मल सम्यक्त्व है। उपशमसम्यक्त्व तो प्रकृतियोंके उपशमसे हुआ है, अतः उपशमकाल समाप्त होने पर औपशमिक सम्यक्त्व समाप्त होजाता है। फिर चाहे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो या मिथ्यात्व हो, कुछ भी हो किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व तो अन्तर्मुहूर्त ही रह सकता है। क्योंकि जिन प्रकृतियोंका उपशम था सो उपशम (दबने) का काल समाप्त हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंके क्षयसे होता है सो जिन प्रकृतियोंका क्षय ही हो चुका है उनका सत्त्व रहा नहीं, अतः क्षायिकसम्यक्त्व सदैव अनन्तकाल तक बना ही रहेगा। जब तक संसार शेष है तब तक भी क्षायिक सम्यक्त्व रहेगा और उसके बाद भी अर्थात् मुक्त होनेपर भी क्षायिक सम्यक्त्व बना ही रहेगा।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अत्यन्त सूक्ष्म किसी प्रकारकी मलिनता रहती है क्योंकि वह सम्यक्त्व सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंमें से ६ प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय व उपशम तथा १ (सम्यक्त्वप्रकृति) के उदयके निमित्तसे हुआ है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व संसार अवस्थामें ही रहता है और वह बहुत काल तक रह सकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव जब तक सराग रहता है तब तक तो उसकी भावनायें चलती है और जब वीतराग हो जाता है तब भावनायें नही चलती, किन्तु परम अनाकुल परिणमन चलता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी भावनायें विशुद्ध होती हैं।

वह अधिकतया निरपेक्ष निज शुद्ध चैतन्य स्वभावकी उपासनाके लिये यत्नमें लगता है। बाहरमें अन्य जीवोंके देखनेपर उनमें भी शुद्ध चैतन्यस्वभाव देखता है तथा इस परमब्रह्म तत्त्वकी दृष्टि होनेसे सब जीवोंको एक समान समझता है और इस दृष्टिमें व्यक्तित्वकी दृष्टि न रहनेसे सबको एक ही देखता है। जब वह यह देख लेता है कि जो यह है सो मैं हूं, इसमें व मुझमें कोई अन्तर नहीं है। तब वह परको विषय बनाकर क्या तो राग करे व क्या द्वेष करे ? इसी कारण सम्यग्दृष्टि जीव समतामृतका पान करता रहता है। सम्यक्त्व होनेपर जीवके भय नहीं रहता है। जिसने अपने आत्मस्वरूपका सब मर्म अपने आपमें ही निश्चित कर लिया व समझ लिया कि मेरा सर्वस्व यह मैं हूं, परिपूर्ण हूं, अपने ही परिणमनका कर सकने वाला हूँ, यह मैं दूसरे पदार्थोंके द्वारा कुछ नहीं किया जाता, ऐसी समझवाला क्या इस दुनियांका भय करेगा कि हाय मुझपर अब क्या बीतेगी, कैसे गुजारा चलेगा ? वह तो अपनेको देखता है और प्रसन्न रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीवके दीनता नहीं रहती है। जिसने वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय कर लिया और ऐसा प्रत्यय भी कर लिया कि किसी अन्य पदार्थसे मुझ आत्मामें कुछ भी सुख अथवा दुःख आदिका परिणमन नहीं होता, वह क्या परपदार्थोंकी आशा लगायगा ? आशाके लगानेका ही नाम दीनता है। ज्ञानी जीवके पुण्योदयवश जो समागम आजाय उसका भी वह ज्ञाता रहता है और पूर्वकृतपापोदयवश कोई आपत्ति आ जाय तो उसका भी ज्ञाता रहता है। इसका कारण यह है कि वह बाह्य पदार्थसे अपनी संपत्ति या विपत्ति नहीं मानता।

लोकमें घृणा करना भी एक क्लेशका साधन है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवके घृणा नहीं रहती। इसका कारण यह है कि वह समस्त सत्को वास्तविक द्रव्य की दृष्टिसे देखता है। सत्स्वभावकी दृष्टिसे देखने पर सारा विश्व एक सत् रूप दीखता है और चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे देखनेपर समस्त जीव एक चैतन्यमात्र ही दीखता है। इस दृष्टिके कारण कभी व्यक्तिपर भी नजर डालता तो सभी उसे परमात्मा दीखते, सभी उनके लिये प्रभु दीखते। है भी वास्तविक

यही बात कि प्रत्येक जीव स्वभावतः एक समान हैं। जीव द्रव्यकी जो बात होती है वह सब जीवोंमें है। एकेन्द्रियसे मुक्त जीव पर्यन्त समस्त आत्मा एक चैतन्यस्वरूप हैं। ऐसी दृष्टिकी मुख्यता हो जानेसे उपाधिजनित भेदोंसे विभिन्न पर्याय व परिणमन सम्यग्दृष्टिके सम्मुख हों तो भी उनके देखनेसे घृणा नहीं उत्पन्न होती है, बल्कि दया उत्पन्न होती है कि अहो प्रभो! तुम ज्ञान आनन्द के घन पुञ्ज होकर भी किस परिणमनमें अपनी प्रभुताको ले जा रहे हो। इस तरह अपूर्व समतामें आकर सम्यग्दृष्टि जीव निरञ्जन निजस्वरूपका अनुभव कर सत्यानन्दमग्न होता है। यह सब सम्यक्त्वकी महिमा है।

४७—सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति

सम्यक्त्वकी वृत्ति तो विपरीतभावका अभाव करना ही है, किन्तु सम्यक्त्व जिसे उत्पन्न हुआ है वह यदि रागका विनाश नहीं कर सका और रागके उदय में अपना व्यवहार करता है तो उस सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति कैसी होती है? इसका यहां विवरण किया जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीवकी प्रतीति निरन्तर यही रहती है कि मेरा स्वभाव व परिणमन आदि सब कुछ मुझमें ही है, मेरा कुछ भी तत्त्व किसी अन्य पदार्थसे नहीं आता, मेरा हित मैं ही हूं; फिर भी पूर्वबद्ध कर्मके विपाकसे जो भी परिणमन बनता है उसका जाननहार तो रहता है, किन्तु उसे अपनाता नहीं है। सुख, दुःख, रोग वेदना आदि कुछ भी आवे उसके प्रति यही भाव है कि ये कर्मविपाकसे प्रभव विभाव हैं इन रूप मैं नहीं हूं। इसी कारण सुख, दुःखको भोगता हुआ भी वह अन्तरङ्गसे भोगता नहीं है। कषायभावको करता हुआ भी वह अन्तरङ्गसे करता नहीं है। लोकमें अनेकों उदाहरण इस प्रकारके देखे जाते हैं कि कोई श्रम करता हुआ भी करता नहीं है, रोता हुआ भी रोता नहीं है, क्रोध करता हुआ भी क्रोध करता नहीं है, मारता हुआ भी मारता नहीं है, खिलाता हुआ भी खिलाता नहीं है, धनका मालिक बनता हुआ भी मालिक बनता नहीं है इत्यादि।

जैसे—एक वेश्या धनार्जनके अभिप्रायसे किसी पुरुषसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती है, इस कलासे प्रेममय वचन व चेष्टा करती है जैसकि सही प्रमिका भी

अपने पतिको प्रदर्शित नहीं कर सकती, तिस पर भी क्या वेश्या अन्तरङ्गसे प्रेम करती है, वह तो प्रयोजन सिद्ध होनेपर बात भी नहीं पूछती है। इस दृष्टान्तमें वेश्याके भावसे या अन्य बातोंसे प्रयोजन नहीं लेना है, किन्तु यह देखना है कि भाव कुछ और है व करनेमें आता कुछ और है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवका अन्तरङ्ग कार्यक्रम तो यही है कि किसी भी परपदार्थका उपयोग न करना पड़े और निर्विकल्प समाधि भावमें ही स्थित होकर शुद्ध परिणमन प्रकट होवे, परन्तु कुछ अशक्तिवश इस योग्य वातावरणमें अर्थात् निर्ग्रन्थ अवस्थामें नहीं रह सकता, अतः गृहाश्रममें रहनेके कारण अनेकों व्यवहार करने पड़ते हैं। सो यह स्त्री पुत्रादिसे प्रेममय वार्तालाप करके भी अन्तरङ्गसे प्रेम नहीं करता है। दृष्टान्तमे तो वेश्याके मायाचार है, परन्तु सम्यग्दृष्टिकी यह वृत्ति मायाचार नहीं है, क्योंकि उसका किसीको ठगनेका भाव नहीं है। यथार्थमार्ग पर ही उसका चलनेका भाव है, लेकिन अशक्तिवश रागवृत्ति होती है इसी कारण वह रागवृत्तिका ज्ञाता होता है। उसको अपनाता नहीं है। इसका कारण यह है कि उसने सर्वविविक्त निज चैतन्यस्वरूपको अपनाया है।

जैसे स्त्रियां अनेकों बार ससुराल जा चुकती हैं तो भी जब ससुराल जाती हैं रोती अवश्य है, परन्तु प्रायः उनके मनमें ससुराल जानेका उत्साह रहता है क्योंकि घर तो उनका वहीं है। इस तरह उनमें परख लो कि उन स्त्रियोंके मनमें है तो उत्साह, किन्तु बाह्य वृत्ति रोनेकी है अथवा जिस देशमें किसीके मरने पर रोनेके लिये मजदूरनी बुलाई हो जाती हैं। वहां वे मजदूरनी रोनेकी कला जाननेसे ऐसा रोती हैं कि सुननेवाले उस रुदनको सुनकर रंजमें आजायें किन्तु उन रोनेवालियोंके मनमें शोक नहीं है, प्रत्युत हर्ष ही है और बाह्यवृत्ति उनकी रोनेकी हो रही है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप यथार्थ माननेके कारण किसी भी बाह्य घटनामें अपनी हानि नहीं मानते और इसी कारण वे आकुलित नहीं होते तथापि जो ज्ञानी होकर भी अशक्तिवश गृहाश्रम में रहते हैं उनको बाह्य वातावरणमें कदाचित् हर्ष विषाद करना पड़ता है तो भी वे सत्य प्रतीतिके कारण अन्तरङ्गमें आकुलित नहीं होते।

जैसे गुरु शिष्यके उद्धारके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करता है अथवा माता पुत्रके सदाचारकी रक्षाके लिये कदाचित् बाह्यमें क्रोध भी करती है तो भी उन दोनों (गुरु व माता) के अन्तरङ्गमें वैसा कषाय परिणाम नहीं है। इसी प्रकार व्यवहारयापनके लिये सम्यग्दृष्टि प्रमत्त जीव कदाचित् प्रयोजनवश क्रोधादि भी करता है तो भी उसके अन्तरङ्गमें वैसा कषाय परिणाम नहीं है, क्योंकि उसने तो उद्देश्य निजकल्याणका बनाया है।

जैसे माता बच्चेको सुधारकी चाहसे मारती भी है अथवा डाक्टर करुणा-भावसे रोगीकी चिकित्सा करता है, आपरेशन करता है और दैववश रोगी मर जाता है तो माता या डाक्टर मारनेवाले नहीं कहलाते हैं। इसी प्रकार सम्य-ग्दृष्टिजीव भी प्रत्येक जीव पर करुणाभाव रखता है। किसीके सुधारकी चाहसे उसका व्यवहार अन्य जीवको अरुचिकर लगे या बाधाकर लगे तो सम्यग्दृष्टि जीव कहीं घातक या बाधक नहीं हो जाता, वह तो स्वपरदयासे पूर्ण ही रहता है।

जैसे सेठका नौकर नौकरीके कारण सेठके बच्चेको खिलाता हुआ भी वह अन्तरङ्गसे उसका खिलाने वाला नहीं है। इसी प्रकार गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मनुष्य गृहाश्रमकी वृत्तिके कारण पुत्रादिकोंसे प्रेमपूर्ण वार्तालाप करता है, उन्हें खिलाता है तो भी वह अन्तरङ्गसे उनका खिलानेवाला नहीं है, क्योंकि उसका लक्ष्य तो स्वाधीन सहज आत्मीय आनन्दके लिये बना रहता है।

जैसे सेठका मुनीम दुकानको चलाता है, संभालता है, कोई लेनदेनवाला आवे तो उसे कहता भी है कि तेरे इतने दाम आये मेरे इतने दाम तुमपर निकलते है, कोई लूटना चाहे तो उससे रक्षा भी करता है; इत्यादि अनेक प्रकरणोंमें मुनीम लगा हुआ है तो भी मुनीमके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह मेरी दुकान है, यह मेरा वैभव है आदि। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि रागी मनुष्य घरके सब काम चलाता है, परिवारको संभालता है, व्यापार करता है, कोई आक्रामक आवे तो अपनी रक्षाके लिये प्रत्याक्रमण भी करता है, विवाद भी करता है, युद्ध भी करता है इत्यादि अनेक कार्योंमें वृत्ति करता है तो भी उस ज्ञानी मनुष्यके किसी भी समय यह श्रद्धान नहीं है कि यह

परिवार है, मेरा है, यह वैभव मेरा है इत्यादि।

सम्यग्दृष्टि जीवका उद्देश्य विशुद्ध हो जानेके कारण उसकी सभी वृत्तियां अलौकिक होती हैं। ज्ञानीकी महिमा अपार है, सम्यक्त्वकी महिमा अपार है। कितनी बाह्य वृत्तियां तो अज्ञानियोंकी वृत्तियों जैसी मालूम पड़ती हैं लेकिन वहां भी अन्तरङ्गमें ज्ञानीके अलौकिक बात हो रही है।

लोकमें सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तवमें सुखी है। विपरीत अभिप्रायको छोड़ देनेसे कोई संज्ञी जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

४८–स्वरूपाचरण

स्वके रूपके आचरणको स्वरूपाचरण कहते हैं। आत्माका स्वरूप है विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप चैतन्यशक्ति उस चैतन्यशक्तिका उपयोग द्वारा स्पर्श रखना सो स्वरूपाचरण चारित्र है। सम्यग्दृष्टिजीवके आत्मानुभव हो हो रहा हो तब या न हो रहा हो तब, स्वरूपाचरण तो सम्यक्त्वमें सदैव बना रहता है। इस स्वरूपाचरणके प्रसादसे सम्यग्दृष्टिके किंकर्तव्यविमूढ़ता नहीं रहती, किसी भी जीवसे बैर बांधनेका परिणाम नहीं होता। सम्यक् श्रद्धानके कारण जितना आत्माचरण होना आवश्यक है उतना तो सदैव होता ही है। किसी जीवने तत्काल अपराध किया हो या पहिले अपराध किया हो इसके प्रति अकल्याण (विनाश) का भाव ही नहीं होता, यह सब स्वरूपाचरणकी महिमा है। अनन्तानुबंधी कषाय व मिथ्यात्वके होते हुए स्वरूपाचरण नहीं होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्वके उपशमादि होनेपर ही स्वपाचरण होता है तथा आगे आगे अन्य कषायोंके उपशमादि से स्वरूपाचरण बढ़ता जाता है। जिस अन्तरात्माके कषायोंका, मोहका मूल से क्षय होता है, उसका उत्कृष्ट स्वरूपाचरण होता है।

मोक्षमार्गका प्रारम्भ स्वरूपाचरणसे है और मोक्षमार्गका आखिरी भाग भी स्वरूपाचरणमें है, मोक्ष भी स्वरूपाचरणमें है। स्वरूपाचरण ही निश्चय-चारित्र है। यह आत्मा समस्त परद्रव्योंसे विविक्त अपनेमें तन्मय अनन्त

गुणोंके एकत्वरूप है। इसका अभेदरूपसे परिचय करके उसकी ओर झुकनेको स्वरूपाचरण कहते हैं। स्वरूपकी ओर लग जाना अनेक पदोंमें अनेक प्रकार की लगनसे सहित है, किन्तु सम्यक्त्व होने के कारण होनेवाली स्वरूपरुचिकी लगन तो स्वरूपाचरण होती ही है, इससे कम भाव स्वरूपाचरण नहीं कहा जा सकता।

वैसे तो सभी जीव स्वरूपमें ही आचरते हैं, क्योंकि स्वरूपसे बाहर किसी भी द्रव्यकी क्रिया नहीं है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव तो विभावरूप अपने आपकी श्रद्धा करके विभावमें आचरते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव सर्वविशुद्ध ध्रुव चैतन्यमात्र निज स्वभावमय अपने आपकी श्रद्धाकरकेस्वभावमें आचरते हैं। स्वभावमें आचरनेका नाम स्वरूपाचरण है। स्वरूपाचरण ज्ञानी जीवके ही होता है। निश्चयतः चारित्र स्वरूपाचरण ही है। अणुव्रतके भाव उस आत्मामें आते हैं, जिसका स्वरूपाचरण कुछ और दृढ़ होने लगता है। इसलिये अणुव्रतके वर्णनमें स्वारूपाचरणकी ही महिमा जाननी चाहिये। महाव्रतके भाव भी उस आत्मामें आते हैं जिसका स्वरूपाचरण विशेष दृढ़ व्यक्त होने लगता है। स्वरूपमें स्थिरताका उपयोग जगे बिना सर्व विषय, आरम्भ, परिग्रहका सहज त्याग कैसे हो सकता है ? इसलिये महाव्रतके वर्णनमें भी स्वरूपाचरणकी महिमा जाननी चाहिये।

कषायोंके उपशम या क्षयकी जैसी विशेषता बढ़ती जाती है वैसा ही स्वरूपाचरण दृढ़ व्यक्त होता जाता है। कषायोंका पूर्णतया उपशम होनेपर स्वरूपाचरण यथाख्यात के रूपमें प्रकट हो जाता है। कषायोंको क्षय होनेपर तो स्वरूपाचरण यथाख्यात व परमयथाख्यात चारित्रके रूपमें प्रकट होकर पूर्ण स्वरूपाचरण व्यक्त हो जाता है जो कि संयमके सर्वविकल्पोंसे परे है।

स्वरूपाचरणकी असीम व्यक्तता स्वभावके पूर्ण अनुरूप है, जिससे स्वरूपाचरण व स्वभाव दोनों समान हो जाते हैं। इस स्वरूपाचरणके स्वरूपके ध्यानसे यथाशीघ्र स्वरूपाचरण परिणमनका उपयोग छूटकर स्वभावमें उपयोग हो सकता है। निश्चयतः देखो तो स्वरूपाचरण ही वास्तविक धर्म है अर्थात् निश्चयधर्म है।

हे स्वरूपाचरण ! सदा जयवंत प्रवर्तो । स्वरूपाचरण ही शक्ति है । बड़े बड़े प्रतापी चक्रवर्ती, सम्राटोंने भी परपदार्थके व्यासङ्गमें शान्ति प्राप्त नहीं की और सत्यविवेकके जगते ही उन समस्त वैभवोंको त्यागकर स्वरूपाचरणका शरण ग्रहण किया । इस स्वरूपाचरणके शरणसे वे महान् हुए, सर्वज्ञ हुए, परमानन्दमग्न हुए ।

स्वके सहज, ध्रुव चैतन्य स्वरूपका प्रत्यय, उपयोग, आश्रय, आलम्बन, स्वभाव परिणमन आदि स्वरूपके समग्रविकास भी स्वरूपाचरण ही तो हैं । स्वरूपाचरण मोक्षमार्ग है और स्वरूपाचरण ही मोक्ष है, स्वरूपाचरण ही उद्देश्य है और स्वरूपाचरण ही विधेय है ।

४९—यथाख्यात आचरण

यथा अर्थात् जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा ही ख्यात अर्थात् प्रकट आचरण यथाख्यात आचरण कहलाता है । यह भी स्वरूपाचरणका उत्कृष्ट विकास है । आत्माका स्वभाव नित्य अन्तःप्रकाशमान है । उसकी व्यक्ति कषायभावके कारण नहीं हो पाती । जब स्वरूपाचरणके प्रसाद से कषाय क्षीण होकर समूल विनाशको प्राप्त होते है तब आत्माका जैसा स्वभाव है वैसा ही प्रकट हो जाता है । आत्माका स्वभाव उपाधिसे अलिप्त है सो उपाधिसे छूटते ही वीतराग (निरुपाधिभाव) प्रकट हो जाता है । इसीको यथाख्याताचरण कहते हैं ।

यथाख्यात चारित्र प्रकट होनेपर ज्ञान भी यथाख्यात हो जाता है अर्थात् यथाख्यात चारित्रके प्रकट होनेपर अन्तर्मुहूर्तमें सर्वज्ञता हो जाती है । सो सर्वज्ञताका बीज यथाख्यात आचरण है । यथाख्यात संयम कर्मप्रकृतियोंके उपशमसे भी होता है व कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे भी होता है । उनमें से कर्मप्रकृतियोंके उपशम से होने वाला यथाख्यातचारित्र सर्वज्ञताका कारण नहीं बन पाता, क्योंकि उपशमकाल समाप्त होनेपर यथाख्यातसंयम भी नहीं रह पाता और कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला यथाख्यातसंयम सर्वज्ञता बीज बनता ही है । यह यथाख्यात संयम सर्वज्ञतासे पहिले होता है और

सर्वज्ञताके कालमें भी रहता है। सर्वज्ञतासहित यथाख्यात संयम परम यथा-ख्यातसंयम कहलाता है।

आत्माका स्वभाव ज्ञानानन्दरसनिर्भर है सो यहां आत्मा ज्ञानानन्दमय होता है सो यथाख्यात प्रकट है ही। यथाख्यातसंयमकी बाह्यबाधक कषाय प्रकृति हैं। अन्तरङ्गबाधक भावकषाय है और साक्षात् बाधक विभिन्नभाव-कषायमें होनेवाले विभिन्न संयम परिणाम है अर्थात् चारित्रगुणकी अपूर्ण अवस्था चारित्रगुणकी पूर्ण अवस्थाकी बाधिका है।

ज्ञानकी वृद्धि चारित्रविकासके अनुसार होती है और चारित्रकी वृद्धि ज्ञानविकासके अनुसार होती है। इस तरह ये दोनों गुणविकास परस्पर एक दूसरेको प्रश्रय देते हुए असीम हो जाते हैं। इसी सिलसिलेमें ज्ञानके विकाके अनुसार अर्थात् आत्मानुभव, वीतरागताके परिवर्द्धनके अनुसार स्वरूपाचरण यथाख्यातके रूपमें आया है और इस यथाख्यातके परिवर्द्धनके कारण अब सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानके रूपमें आयगा। फिर केवलज्ञानके वर्तनके कारण यथा-ख्यात अन्तमें परमयथाख्यात होगा तथा निर्विकल्प भावरूपमें वर्तन होगा।

जैसे सम्यग्ज्ञान ही अवधि, मनःपर्यय, पूर्णश्रुत, निर्विकल्प अनुभव्य व केवलज्ञानके रूपमें प्रसिद्ध होता है। इसी प्रकार स्वरूपाचरण भी अणुव्रत, महाव्रत, सामायिक, छेदोपस्थापना आदि स्वरूपोंमें से गुजरकर यहां यथाख्यातके रूपमें आ जाता है। स्वरूपाचरण ही सत्य आत्मबल है। जिनका आचरण स्वरूप विरुद्धभूत विविध पापोंमें लग्न रहता है, उनकी आत्मामें न तो आत्मबल है और न मनोबल भी रह पाता है तथा वचनबल, कायबल भी क्षीण होने लगता है। जिनका स्वरूपके अविरुद्ध आचरण है, पापोंसे जो दूर रहते है उनका आत्मबल प्रकट होता है, विविध विकट परि-स्थितियोंमे उनके धैर्य रहता है, विवेकबल सदा उदित रहता है।

विशुद्ध परिणाम ही वास्तविक लाभ है, अन्य जड़ पदार्थोंका समागम लाभ नहीं कहलाता है, वह सब तो क्लेशका ही हेतु होता है। अतः अनेक प्रयत्नोंपूर्वक यथार्थ स्वरूप जानकर सत्योपयोगी रहना चाहिये, जिसके बलसे

स्वरूपाचरण रूपी अमृतका पान हो। इसी स्वरूपाचरणके प्रतापसे ज्ञान भी चरम सीमाको प्राप्त होकर केवलज्ञानके रूपमें प्रकट होता है।

५०—केवलज्ञान

केवलज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं जिनसे दो विशेषतायें प्रकट होती है—(१) केवल याने सिर्फ ज्ञान ही हो अर्थात् जिस ज्ञानके साथ राग द्वेष संकल्प विकल्प आदि कुछ भी न हों इस ज्ञानको केवलज्ञान कहते है। इस अर्थ से केवलज्ञानकी पूर्ण निष्कलमपता प्रकट होती है। यद्यपि राग द्वेष सकल्प विकल्पके नष्ट होनेपर भी योगीके कुछ समय ज्ञान तो रहताहै, किन्तु उसमें सर्वज्ञता नहीं होती, उसे भी केवलज्ञान शब्दसे कहना चाहिये था, किन्तु उसे केवलज्ञान शब्दसे नहीं कहा गया। इसका कारण यह है कि छद्मस्थ क्षीणमोहयोगीका वह रागद्वेषसंकल्पविकल्पसे रहित तो है, परन्तु मनोयोग, वचनयोग, कामयोगमें से किसी न किसी एक योगके अवलम्बनसहित वह ज्ञान है तथा ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके कारण वह ज्ञान है, अतः उस ज्ञानमे केवल विशेषण युक्त नही हुआ। यद्यपि सशरीर परमात्माके भी केवलज्ञान रहता है और योग रहता है तो भी वह ज्ञानयोगके अवलम्बनके साधनपूर्वक नही होता और न वहां ज्ञानावरणकर्म है। इसलिये सकल परमात्माके ज्ञानमे केवलज्ञानका व्यपदेश युक्त होता है। (२) केवलका अर्थ है आत्मामें जो बल है उसे समस्तबलके साथ जो ज्ञान रहता है उस केवलज्ञान कहते है, क्योंकि "क" आत्माका पर्यायवाची शब्द है, अतः 'के' का अर्थ आत्मनि होता है। के व बलं—इन दो पदोमें अलुप्तविभक्तिक तत्पुरुष समास हो जाता है। फिर केवल व ज्ञान में 'केवलेन सहित ज्ञान केवलज्ञानम्' ऐसा समास हो जाता है। इस अर्थसे केवलज्ञानकी सर्वज्ञता की विशेषता सूचित हुई। आत्माके अनन्तबलकी प्रकटताके साथ जो ज्ञान है, वह सकलज्ञेयज्ञायक ज्ञान है अथवा आत्मामें ज्ञानविषयक समस्तबलके विकासवाला जो ज्ञान है वह सकलज्ञेयज्ञायक ज्ञान है। यद्यपि केवलज्ञानमें जितना ज्ञेय जाननेमें आया उससे भी अनन्तगुणी शक्ति है अर्थात् समस्त विश्व जितना है उससे भी अनन्तगुण विश्व होता तो उसे भी केवलज्ञान जान लेता। इस भावकी दृष्टिसे उसे केवलज्ञान नही कहा जाना चाहिये था, किन्तु ज्ञान ज्ञेयविषयक

ही होता है सो जितना समस्त ज्ञेय है उसके ज्ञान लेनेकी ही विवक्षा अनन्त-ज्ञतमें है। अतः इस ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान समस्त ज्ञेयको जानता है, परन्तु ज्ञेयमें अथवा ज्ञेयपर्याय में भूत, भविष्यत्, वर्तमानका विकल्प नहीं करता। जो पर्यायें हो चुकी हैं, जो हो रही हैं व जो होवेंगी उन सबको विना विकल्पके एक समयमें ही जान लेता है। इससे इस शङ्काको स्थान नहीं रहता कि जो वर्तमान सत् है वह सब तो जान लेना युक्त है, परन्तु जो पर्याय नष्ट होगई अथवा जो पर्याय आगे होंगी, अभी हैं ही नहीं उन्हें जान लेना कैसा युक्त हो सकता है? युक्त हो जाता, क्योंकि केवलज्ञान वर्तमान पर्यायको वर्तमानके कारण नहीं जान रहा है, किन्तु जिसमें सत्का सम्बन्ध हो, चाहे है, चाहे था या होगा, उन सबको केवलज्ञान सहज ही जान जाता है। केवलज्ञानमें तो ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं, परन्तु जिनके अनुरूप ज्ञेयाकार हुए हैं, वे पर्यायें भूत हों, भविष्यत् हों, यहां अर्थमें तो भूत, वर्तमान, भविष्यत्पना तो है किन्तु ज्ञेयाकारमें नहीं। हां यह बात दूसरी है कि जैसे क्रमको लिये वे पर्यायें हैं वे प्रकट हैं, किन्तु जानता है एक साथ और भूत, भविष्यत् वर्तमानकी कल्पनासे रहित। जैसेकि चित्रपटपर भूत, भविष्य, वर्तमानके पुरुषोंके चित्र लिखे हों तो चित्रपटपर आकार तो सर्व वर्तमान ही हैं और भूत भविष्यत् वर्तमानके चिह्नोंसे रहित।

केवलज्ञानके साथ किसी भी प्रकारका राग या द्वेष आदि नहीं है। अतः वह अत्यन्त स्वच्छ है। इसी कारण ज्ञेयमें जो कुछ है गुण, पर्याय आदि उन सबको तो जानता है, किन्तु रागवश ही हो सकनेवाली कल्पना केवलज्ञानमें नहीं है। जैसे कोई रागी पुरुष तो यह जानता है कि यह मकान मेरा है, किन्तु केवलज्ञानी "यह मकान इसका है" इस प्रकार नहीं जानते, क्योंकि वह तो रागीको रागवश कल्पना हुई है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका त्रिकालमें कभी हो ही नहीं सकता। इसी तरह प्रयोजन व योग्यतावश की हुई कल्पना भी केवलज्ञानमें नहीं होती। जैसेकि कोई पुरुष किसी चीजके बारे में ऐसा जानता है कि यह चार हाथ लम्बी है, दो हाथ चोड़ी है इत्यादि

परन्तु केवलज्ञानमें यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वह लम्बाई अथवा चौड़ाई पुद्गल द्रव्यका न गुण है न पर्याय है, एक स्कंधमें प्रयोजन व योग्यतावश रागी पुरुषने कल्पनाकी है व उस आधारपर माप किया है। केवलज्ञान तो जो पदार्थ जैसे गुणपर्यायवाला था, है, होगा, वह सब जानता है। इसी प्रकार अनेक पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धकी केवलज्ञानमें कल्पना नहीं है। जैसेकि रागी पुरुष सोचा करते हैं कि यह अमुकका पिता है, यह अमुकका पुत्र है अथवा अमुक पदार्थके निमित्तसे इसका यह कार्य हुआ. इस तरह केवलज्ञानमें कल्पना नहीं है। इसका कारण यह है कि पदार्थ अपने स्वरूपसे जैसे हैं वैसे ही जानने की स्वच्छता केवलज्ञानमे है। यद्यपि यह विज्ञानसिद्ध बात है कि किसी पदार्थके निमित्तसे किसी अन्यपदार्थमें कार्य हो जाते हैं तथापि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे कुछ गया नहीं, कुछ सम्बन्ध नहीं। उपादान की ही ऐसी कला है कि वह अमुक प्रकारके पदार्थके सान्निध्यमें अमुक प्रकारसे परिणम जाता है। इससे एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं बन जाता। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तशक्त्यात्मक है, प्रति समय परिणमनशील है सो मात्र उस वस्तुको वैसा ही जानना केवलज्ञानका कार्य है।

यद्यपि ज्ञान ज्ञेयका विषयविषयीभावमात्र सम्बन्ध है तो उनमें से कोई भी किसी को ग्रहण नहीं करता है और न छोड़नेका परिणमन करता है वे तो स्वभावसे ही एक दूसरेसे छूटे हुए हैं। केवलज्ञानी अपने स्वभाववृत्तिसे केवलज्ञानरूपसे परिणम कर स्वच्छ वर्तनासे रहते हैं। इसलिये वस्तुतः केवलज्ञानी अपने आपको अपने आपमें उस प्रकारसे संचेतन करते रहते हैं। यहां उन्होंने सर्व अर्थके साक्षात्काररूप ज्ञेयाकाररूपसे परिणमन किया, अतः विषयीमें विषय का उपचार करके व्यवहारसे वास्तविक व्यक्तिको दिखानेके लिये यह भी कहना युक्त है कि केवलज्ञानी सर्व ओरसे समस्त विश्वको जानता है। फिर भी सर्व विश्वसे पृथक् ही रहता है।

जब यहां के पुरुषोंके ज्ञान भी इस कलासे सहित देखे जाते हैं कि वे भूत पर्यायको बराबर जान रहे हैं और वर्तमान पर्यायको जानते हैं, साथ ही

यह भी कला है कि भविष्यके पर्यायोंको भी जानते हैं। यह बात दूसरी है कि किसीका ज्ञान मिथ्या होता है, किसीका ज्ञान सम्यक् होता है, किन्तु कला तो भूत, भविष्यको भी जानने की है। फिर जो ज्ञान सर्व आवरणोंसे दूर हो गया, वह भूत, भविष्यको न जान सके यह कैसे हो सकता है ? प्रत्युत वह पूर्ण निरावरण ज्ञान अनन्त भूत व भविष्यको जानता है अथवा जो जो भी ज्ञेय है वह सब केवलज्ञानका विषय हो जाता है। केवलज्ञान तो सबकों जानता है चाहे वह स्थूल विषय हो चाहे सूक्ष्म विषय हो। बहुप्रदेशी, एक प्रदेशी, मूर्त, अमूर्त, भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ही ज्ञेयको केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञानका परिणमन तो समस्त अर्थोके साक्षात्कार (ज्ञेया-काररूप) है। अतः यदि यहां कोई शका करे कि केवलज्ञानी सबको नहीं जानता तो यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी खुद के एक भी नहीं जानता है और चूंकि निश्चयसे केवलज्ञानी बाह्य अर्थको जानते नहीं है, व्यवहार से बाह्य अर्थ को जानते हैं और कोई यदि शंका करे कि केवलज्ञानी खुदके एक को नहीं जानता बाह्य सब अर्थको ही जानता है तो यह यह फलितार्थ होगा कि केवलज्ञानी बाह्य किसी भी अर्थको नहीं जानता। यहां तो यह देखा जा रहा है कि यदि सबको नहीं जानता तो एकको भी नहीं जानता और एकको नहीं जानता तो सबको नहीं जानता।

केवलज्ञान केवल आत्माके आश्रय से ही प्रकट होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। ज्ञान तो वैसे सभी आत्माके ही आश्रयसे प्रकट होते है, किन्तु उन ज्ञानोंमें से कितने ही ज्ञान तो उत्पत्तिमें इन्द्रिय या मनके बहिरङ्गसाधनकी अपेक्षा रखते है और कितने ही ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अवधि लेकर प्रकट होते है, उन सबसे विलक्षण यह केवलज्ञान है जो कि असहाय और अनवधि है। केवलज्ञान पहिले तो सशरीर अवस्थामें परमात्माके होता है, बादमें ये ही परमात्मा शरीरमुक्त हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रवर्तता ही रहता है। जब सशरीरपरमात्मा हैं तब भी यह केवलज्ञान मन, इन्द्रिय, उपदेश, संस्कार, प्रकाश आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता है और न शरीररहित अवस्थामें ही किसीकी अपेक्षा करता है—केवल आत्मासे ही होता है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, प्रत्यक्षमें भी सकलप्रत्यक्षज्ञान है।

इतना ही नहीं, किन्तु सहज निरुपधि आनन्दका सा घनीभूत होनेसे यह केवलज्ञान महाप्रत्यक्ष कहा जाना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है, परिपूर्ण, समस्तज्ञेयोंको जानता है, अत्यन्त निर्मल है, इस ज्ञानमें कोई क्रम नहीं है कि पहिले अस्पष्ट जाने पीछे स्पष्ट जाने। जो ज्ञान ऐसा है उसमें आकुलताका स्थान ही कहाँ? जो उत्पत्तिमें पराधीन हो, अपूर्ण हो, कुछ ही ज्ञेयोंको जाने, सकलङ्क हो, क्रम क्रमसे स्पष्ट जाने, ऐसे ज्ञानके साथ ही आकुलताका निवास है।

केवलज्ञानमें जो जो कुछ ज्ञात है वह होता अवश्य है। केवलज्ञानमें ज्ञात है इसलिये होता है ऐसा नहीं है। जो कुछ जैसे होता है वह वैसे होता है। केवलज्ञानमें तो ऐसी स्वच्छता है वह सहज ही उसमें प्रतिभासित हो जाता है। अब एक दृष्टिसे देखो तो यह कहा ही जा सकता है कि 'जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे, अनहोनी नहिं होसी कबहूं काहे होत अधीरा रे।' इस दृष्टिको इस बातको बढ़ा बढ़ा कर कुछ लोग तो इस निष्कर्ष पर भी उतर गये कि भगवान्की मर्जी बिना कुछ भी नहीं होता। भगवान्के तो मर्जी (इच्छा) है ही नहीं, फिर भगवान्की मर्जीसे सब कुछ कैसे होगा? भगवान्के तो ज्ञानके कारण भी कुछ नहीं होता। वस्तुतः अन्तरङ्गसाधनसे होता बाह्य साधनकी उपस्थितिमें होता, इससे आगे कुछ नहीं है। केवलज्ञान स्वयं अनादि ज्ञानस्वभावके ऊपर पूर्णविकासके रूपमें प्रगट होता है।

केवलज्ञान अनन्तज्ञान है अर्थात् केवलज्ञानका अन्त याने विनाश नहीं है अर्थात् केवलज्ञानके अनन्तर केवलज्ञान केवलज्ञान ही पर्याय आती रहेगी, इसका अभाव नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान अनन्त द्रव्य व अनन्त पर्यायोंको जानता है, इस कारण केवलज्ञान अनन्त है।

केवलज्ञानके सम्बन्धमें एक समस्या उत्पन्न होती है अल्पज्ञोंको कि केवलज्ञान क्या सबको जानता है? यदि सबको जानता है तो द्रव्य व पर्यायका अन्त आगया। इसका समाधान इस प्रकार दिया करते हैं लोक कि केवलज्ञान सबको तो जानता है, किन्तु सबको अनन्तरूपसे जानता है। इसलिये सबको जान-कर भी उनका अन्त आनेका प्रसङ्ग नहीं। कोई कहते है कि केवलज्ञान अनन्त

को जानता है अनन्त जाननेमें सबका जानना नहीं कह सकते, क्योंकि सबको जाननेमें तो अन्त होनेका प्रसङ्ग आता, अनन्त जाननेमें यह आपत्ति नहीं, सब अनन्तसे अधिक है। इस द्वितीय विचारमें यह शोचनीय हो जाता है कि समस्त ज्ञानावरणके नष्ट हो जानेपर ज्ञान सबको न जान सके और कुछ जानकर ही रह जाय, इसमें कौन बाधक है ? इसका उत्तर यों किया जा सकता है कि ज्ञानमें स्वभावतः अनन्त जाननेकी शक्ति है सो अनन्त जानता है। कोई कहते हैं कि केवलज्ञान वर्तमान पर्यायको तो साक्षात् पर्यायरूपमें जानते हैं और अन्य पर्यायोंको शक्तिरूपसे जानते हैं। यहां शोचनीय बात यह हो जाती कि अल्पज्ञोंके भूत भविष्यत् जानने की कला है और केवलज्ञानीके भूत भविष्य जाननेकी योग्यता न हो यह विचित्र बात है। दूसरी बात यह है कि एकदेश प्रत्यक्षमें तो असंख्यात भव व तीन लोकके मूर्त पदार्थ जाननेकी योग्यता है और केवलज्ञानमें न हो यह विचित्र बात है। तीसरी बात यह है कि इस रूपसे जानने में कि यह पदार्थ इस इस पर्यायमें परिणाम सकता था व इस इस पर्यायमें परिणम सकेगा, ऐसी शक्तिके ज्ञानमें तो विकल्प आता, केवलज्ञान तो निर्विकल्प है।

केवलज्ञानकी महिमा तो अनुपम है। यह पूर्णज्ञान है। इसकी सहजलीला में ही विश्व प्रतिभासित हो जाता है, फिर भी केवलज्ञानके साथ अनन्त आनन्द का अन्वय है। केवलज्ञानीनिजानन्द रसलीन रहते हैं।

आत्माके अनन्त गुणोंमें से एक प्रधानगुण ज्ञानगुण है। उस ज्ञानगुणका पूर्ण शुद्ध परिणमन केवलज्ञान है। केवलज्ञान आत्माका स्वभावपर्याय है अर्थात् बाधकभूत अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग साधन न हों तो परिपूर्ण ज्ञानविकासरूप केवलज्ञान पर्याय ही प्रकट होती है। केवलज्ञानके बाधक बहिरङ्गसाधन ज्ञानावरणका उदय है। बाधक बहिरङ्गसहायकसाधन मोहनीयकर्मका उदय है। अन्तरङ्गबाधक साधन परके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञानोपयोग है, वास्तविक बाधक यही परलक्ष्योपयोग है। त्रैकालिक चैतन्यस्वरूपमय निजआत्मतत्त्वका आश्रय उपयोग करे तो निर्मल ज्ञानोपयोग विकसित हो होकर केवलज्ञानपर्याय प्रकट होती है। परवस्तुका आश्रय करके होनेवाला उपयोग केवलज्ञानका मुख्य

बाधक है और परवस्तुके आश्रय करके होने वाले उपयोगमें आत्मबुद्धिका होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है। भेदरूपमें गुण पर्यायके ग्रहणरूपसे निज आत्मतत्त्वके बारेमे भी होनेवाला उपयोग और उस उपयोगमें आत्मबुद्धि होना भी केवलज्ञानका मुख्य बाधक है।

आत्माके लिये सारभूत, हितरूप, आनन्दकर उपयोग केवलज्ञान ही है। केवलज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी अथवा आत्माकी पूर्ण शुद्ध परिणति है। केवलज्ञान होते ही आत्मा परमात्मा हो जाता है। केवलज्ञान प्रत्येक आत्माका स्वभावभाव है अर्थात् प्रत्येक आत्मामें केवलज्ञान होनेकी शक्ति है। केवलज्ञान ही हित है, इसमें सब प्रकारके क्लेश समाप्त होकर सहज आनन्द एवं परिपूर्ण आनन्द प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान जिस विधिसे प्रकट होता है वह विधि स्वाधीन है। वह विधी है—अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण करके उपयोगका शुद्धस्वभावका विषय करनेवाला होगा। यह ज्ञान द्वारा साध्य है। इस ज्ञानोपयोगरूप वर्तने के लिये भेदविज्ञान साधन है। भेदविज्ञान ! जयवंत होहु, शुद्धोपयोग ! जयवंत होहु, केवलज्ञान ! जयवंत होहु।

५१—सकलपरमात्मा

जब कोई साधु अन्तरङ्ग बहिरङ्ग समस्त परिग्रहके त्यागके बलसे और निरपेक्ष शुद्ध निज कारणसमयसारके अवलम्बनसे सर्वप्रकारके मोहसन्तानसे अत्यन्त पृथक् हो जाता है, किसी भी कषायका मूल नहीं रहता है। उसके अनन्तर शीघ्र ही अनन्तज्ञानी अनन्तदर्शनी, अनन्तानन्दी, अनन्तशक्तिमान् परम-आत्मा हो जाता है। इस परमात्मदेवका जब तक शरीरके एकक्षेत्रावगाहमें वास है तब तक यह सकल परमात्मा कहलाता है। शरीर तो पहिलेसे ही था। परमात्मा होनेके बाद मनुष्यायु पर्यन्त वह शरीर रहता ही है, किन्तु अब यह शरीर भी दिव्य हो जाता है। इस दिव्य शरीरमें अवस्थित परमात्मा सकल परमात्मा है। कलका अर्थ है शरीर व स का अर्थ है, सहित, परमका अर्थ है

परा या लक्ष्मीः यस्य स परम उत्कृष्ट लक्ष्मी सहित, ऐसा आत्मा सकल परमात्मा कहलाता है।

सकलपरमात्माका पुण्य सातिशय होता है। इससे उत्कृष्ट पुण्य अन्यत्र नहीं होता। इस कारण तथा संसारी महापुरुष एवं देव आदि कल्याणेच्छु आत्मा आत्मकल्याणकी साधनाके अभिलाषी होते ही है, इस कारण सकल परमात्माकी पूजा भक्तिके भावसे एव आत्मोद्धारके यत्नमें सकल परमात्माकी सभामें पहुंचते हैं। उस सभाका निर्माण एवं प्रबन्ध देवेन्द्रके तत्वाधानमें होता है। इस समस्त सभास्थानका नाम समवशरण अथवा गन्धकुटी होता है। जो तीर्थङ्कर होते है उनका सभास्थान समवरणके रूपमें होता है। तीर्थङ्करके अतिरिक्त अन्य धर्मप्रवर्तक सकलपरमात्मावोंकी सभाका नाम गन्धकुटी होता है। ये सब अपने अपने देशनायोग्य योगपर्यन्त यथासमय दिव्यध्वनि द्वारा भव्यजीवोंके सम्बोधनमें निमित्त होते है। अन्तमें शरीरयुक्त होकर सर्वथा सर्वकर्ममुक्त होते हैं व लोकशिखरमें जा विराजमान होते है। वहाँ उनका मात्र चिद्घन अमूर्त आत्मा अनंतविकाससंयुक्त विराजमान रहता है। कितने ही सकल परमात्मा दिव्यध्वनि बिना ही मनुष्यभव समाप्तकर सर्वकर्ममुक्त हो जाते हैं। ये सब सकल परमात्मा एक समान ही परिपूर्ण ज्ञान एवं आनन्दमय आदि सर्व विकास युक्त है। इन देवोंका ध्यान आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि दिलानेमें विशेष कारण है। इसलिये आत्मार्थी सकल परमात्माके द्रव्यगुण पर्यायोंके यथार्थस्वरूपका ध्यान करते हैं।

सकल परमात्माकी विशेषता है कि वे वे १८ दोषोंसे रहित होते हैं। १८ दोष ये है—जन्म, जरा, क्षुधा, तृषा, विस्मय, अरति, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेद, राग, द्वेष व मरण। यद्यपि सकलपरमात्माके शरीर है तो भी मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे न तो बुभुक्षा ही है और न तृषा ही है। केवलज्ञानके बाद शरीर दिव्य हो जाता है। यदि मुनि अवस्थामें वृद्ध व रुग्ण भी शरीर हो तो भी केवलज्ञान होनेपर वही शरीर दिव्य हो जाता है, फिर बुढ़ापेका तो कारण ही नहीं। सकल परमात्माका अब किसी योनिमें भी जन्म नही हो सकता। जिसका नवीन जन्म नहीं है उसके आयुक्षय को नवाण कहते हैं। सकल परमात्माका मरण नहीं होता। परिपूर्ण ज्ञान व

आनन्द होनेसे विस्मय, अरति, खेद, शोक, मद, मोह, भय, चिन्ता, राग, द्वेष सकलपरमात्माके नहीं है। अनन्तशक्तिमान् एवं दिव्यशरीरवान् होनेसे रोग, निद्रा, स्वेद भी नहीं है। सकलपरमात्माके कोई भी दोष नहीं है। अत्यन्त निर्दोष होनेसे सकलपरमात्माकी दिव्यध्वनि प्रामाणिक, हितकारी एवं शान्तिमार्गमें भव्यजनोंको प्रेरित करनेको कारणभूत होती है। सकलपरमात्मा वेदमय (ज्ञानमय) होनेसे स्वयं वेद है और सकलपरमात्माकी दिव्यध्वनि पूर्णश्रुतसे परिपूर्ण होनेसे श्रुति है। इस श्रुतिको सुनकर गणेश अर्थात् सब आचार्यगणोंके भी ईश (प्रमुख) स्मृति करते हैं अर्थात भावश्रुतका अवधारण करते हैं। गणेश स्मृतिसे पुराणोंका सूत्रपात करते हैं और परम्पराचार्य इन्हीं पुराणसूत्रोंका विस्तार करते हैं जिनके परिणामस्वरूप वस्तुस्वरूपके अनुकूल विविध विषयोंसे परिपूर्ण शास्त्र, आगम आज उपलब्ध हैं। इन आगमोंका मूल स्रोत श्रुति है। अतएव ये प्रामाणिक हैं।

वेदमय अथवा साक्षात् वेदस्वरूप भगवान् सकलपरमात्मा मुमुक्षु आत्माओंके आराध्य हैं। इनके ध्यानरूप प्रसादसे एवं परम्परागत आगमके अभ्यासरूप प्रसादसे वस्तुस्वरूपका अवगम होता है जिसके मननके परिणामस्वरूप परमब्रह्म परमेश्वरस्वरूप सच्चिदानन्दमय कारण समयसारका परिचय होता है।

सकलपरमात्मा जब सभामें विराजे होते हैं तब चारों ओर बैठे हुए भक्तोंको भगवान्का मुख दीखता है, ऐसा ही पुण्यातिशय है तथा दिव्यशरीरकी महिमा है, इसी कारण भगवान्के चतुर्मुख होनेकी प्रसिद्धि हो गई है। भगवान् जहां विराजे होते हैं उसके चारों ओर ४००-४०० कोश तक सर्वउपद्रव मिटकर सुभिक्षता हो जाती है। इसलिये लौकिक अपेक्षासे भी सकलपरमात्मा शङ्कर (सुखकर्ता) है और वास्तविक आत्मीयशाश्वत सुखके मार्गके नेता एवं उपदेष्टा हैं, अतः परमार्थकी अपेक्षा भी शङ्कर हैं। सकलपरमात्माका यथासमय होनेवाला विहार आकाशमें ऊपर ही होता है, अतः उनका विहार अलौकिक है। सकलपरमात्माके किसी भी प्रकारका राग द्वेष नहीं है, अतः भगवान् न किसीको दुःख करते और न सुख करते और न किसी प्रकारकी

कल्पना ही करते। वे तो अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं। भगवान्के दर्शनका ही अद्भुत प्रताप है कि जीव पापका क्षय करके विशुद्धि व शान्तिका अनुभव कर लेते हैं। सकलपरमात्मा पर किसी भी प्रकारका कोई उपसर्ग नहीं कर सकता। भगवान् भोजन नहीं करते, उनके अनन्त-वीर्यकी ऐसी महिमा है कि वे बिना भोजन किये ही आजीव उभयथा पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। भगवान्के केवलज्ञानमें सर्वज्ञान आजाता हैं। अतः भगवान् ही सब विद्याओंके ईश्वर हैं। भगवान्से शरीरमें कोई विकार नहीं आता, इसी कारण किसी भी समय न उस शरीरमें पसीना आ सकता है, न कोई रोग हो सकता है, न क्षुधा तृषा है, न शीत उष्णकी बाधा है, न नख केशकी वृद्धि है। किसी भी प्रकार का कोई विकार नहीं होता। सकलपरमात्माके शरीरकी आंख दृष्टि इतनी सौम्य रहती है कि देखनेवालोंको अर्धमीलित, नासादृष्टि प्रतीत होती है उसमें उन्हे कोई श्रम नहीं होता, अतः पलक भी झपती नहीं है।

सकलपरमात्मासे श्रुति उत्पन्न होती है, श्रुतिसे आगमरचना होती है, आगमसे ज्ञानाभ्यास चलता है, ज्ञानसे सम्यक् चारित्र होता है, सम्यक् चारित्रसे कर्मोंका क्षय होता है, कर्मोंके क्षयसे सर्वआकुलता समाप्त होती है और शाश्वत आनन्द प्रकट होता है। अतः आनन्दाभिलाषियोंके अर्थात् आत्मकल्याणार्थियोंके परमदेव एवं परमगुरु सकलपरमात्मा है।

सकलपरमात्माकी अन्तरङ्ग विशेषता तो वीतरागता व सर्वज्ञता है तथा बहिरङ्ग विशेषता दिव्यशरीरक होना है। आत्माका स्वभाव चैतन्य है, चैतन्यका पूर्ण स्वाभाविक विकास वीतरागता व सर्वज्ञता है। वीतरागता तो चारित्र गुणका पूर्ण विकास है और सर्वज्ञता ज्ञान गुणका पूर्ण विकास है। इन दोनों गुणोंका विकास श्रद्धागुणके स्वाभाविकविकास होनेपर होता है। इस तरह भगवत्ता सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप विकास का नाम है।

सकलपरमात्मा पूर्वकृतभावभेदसे २ प्रकारके हैं—(१) तीर्थङ्कर, (२) सामान्यकेवली। तीर्थङ्कर महापुरुष वे ही होते हैं जिन्होंने पूर्वकालमें निम्न-

लिखित १६ सद्भावनायेंकी—(१) दर्शनविशुद्धि, (२) विनयसम्पन्नता, (३) शीलव्रतानतिचार, (४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, (५) संवेग, (६) शक्तितस्त्याग, (७) शक्तितस्तप, (८) साधुसमाधि, (९) वैयावृत्यकरण, (१०) अर्हद्भक्ति, (११) आचार्यभक्ति, (१२) बहुश्रुतभक्ति, (१३) प्रवचनभक्ति, (१४) आवश्यकापरिहाणि, (१५) मार्गप्रभावना, (१६) प्रवचनवत्सलत्व।

(१) सम्यग्दर्शनके होते हुए जगतके जीवोंका कल्याण हो ऐसी भावना करना सो दर्शनविशुद्धि है। (२) दर्शनज्ञान चारित्र व इनके धारकोंमें विनययुक्त होना सो विनयसम्पन्नता है। (३) शील और व्रतोंमें अतिचार न लगाने की भावनाको शीलव्रतानतिचार कहते हैं। (४) निरन्तर ज्ञानोपयोगमें रहनेकी भावनाको अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते है। (५) संसारसे भयभीत और धर्ममें अनुरागी होनेकी भावनाको संवेग कहते है। (६) शक्ति न छुपाकर त्याग करनेकी भावनाको शक्तितस्त्याग कहते हैं। (७) शक्ति न छुपाकर तप करनेकी भावना करनेको शक्तितस्तप कहते हैं। (८) योग्य व्यवहार उपचारसे किसी उपसर्गादिसे उपद्रुत साधुओंको समाधानरूप करनेको साधुसमाधि कहते हैं। (९) वैयावृत्य, सेवा करने के भावको वैयावृत्यकरण कहते हैं। (१०) सकलपरमात्माकी भक्ति करनेकी भावनाको अर्हद्भक्ति कहते हैं। (११) आचार्य महाराजकी भक्तिसे बाकी भावना को आचार्यभक्ति कहते हैं। (१२) बहुज्ञानी साधु सन्तोंकी भक्ति सेवाकी भावनाको बहुश्रुतभक्ति कहते है। (१३) आगमकी भक्तिकी भावनाको प्रवचनभक्ति कहते हैं। (१४) आवश्यक कर्तव्योंमें से किसीकी हानि न होने देनेकी भावना को आवश्यकापरिहाणि कहते है। (१५) मोक्षमार्गकी प्रभावनाकी भावनाको मार्गप्रभावना कहते है। (१६) साधर्मिजनों व ज्ञानियोंमें वात्सल्य रखनेकी भावनाको प्रवचनवत्सलत्व कहते हैं।

इन भावनोंमें मुख्य दर्शनविशुद्धि है। दर्शविशुद्धि तो अवश्य ही होना चाहिये। अन्य १५ भावनाओंमें कोई कम भी रह जाय तो भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध हो सकता है। जिनके पहिले भवमें तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध गई, वे देवगतिमें जन्म लेते हैं और देवगतिसे च्युत होकर मनुष्यभवमें तीर्थङ्कर होकर निर्वाण

पाते है। यदि किसी जीवने पहिले नरकायु बांधली हो और बादमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लिया जाय तो वह नरकगतिमें जन्म लेगा। वहांसे निकल कर मनुष्यभवमें तीर्थङ्कर होता है। तीर्थङ्करोंके गर्भमें आनेसे ६ माह पहिलेसे व ९ माह गर्भकाल तक याने १५ माह तक तीर्थङ्करके मातापिताके घर रत्नवृष्टि होती है। जन्म होनेपर इन्द्रदेव आते हैं और बड़े उत्साहके साथ तीर्थङ्कर बालकको मेरुपर्वत पर लेजाते है और क्षीर सागरके जलसे अभिषेक करते हैं, स्तुतिकर माता पिताके घर लाकर उन्हें सौंप देते हैं। तीर्थङ्करके वैराग्यके समय भी इन्द्रदेव कल्याणक करते हैं। केवलज्ञान उपजनेपर भी देव इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। निर्वाणके समय भी देव व इन्द्र कल्याणक मनाते हैं। इस तरह पञ्च कल्याण मनाये जाते हैं। तीर्थङ्कर भगवान्‌की सभा समवशरणके रूपमें होती है।

तीर्थङ्कर देवके जन्मसे ही अनेक शरीरातिशय होते हैं। सामान्यकेवली होने वाले महापुरुषोंके जन्मसे ही उनमें से कुछ कम भी होते हैं, उनमें कुछ आवश्यक ही हैं। सकलपरमात्माकी दुनियांके लिये देन सन्मार्गोपदेश है।

गतवर्तमानकालमें श्री ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व व महावीर—ये २४ तीर्थङ्कर हुए हैं और भरत, बाहुबलि, राम, हनुमान, सुग्रीव, सुकौशल, प्रद्युम्न, आदि अनेक कोटाकोटि सामान्यकेवली हुए हैं।

सकलपरमात्माका आत्मा व यहां हम लोगोंका आत्मा द्रव्यदृष्टिसे एक समान है। चेतनपदार्थ सकलपरमात्मा है सो चेतनपदार्थ यहां हममें भी है। गुण (शक्ति) की अपेक्षा भी देखा जाय तो सकलपरमात्मा व हम एक समान हैं। चेतनद्रव्यमें जितने गुण होते हैं उतने ही तो सकलपरमात्माकी आत्मामें है और उतने ही हम लोगोंकी आत्मामें हैं। अन्तर केवल परिणमनकी अपेक्षासे है। सकलपरमात्मा वीतराग व सर्वज्ञ हैं, किंतु हम सराग एवं अल्पज्ञ हैं। सकलपरमात्मा की आत्मा भी पहिले हम जैसी थी, किन्तु क्षयोपशमलब्धिवश बढ़ती हुई विशुद्धिके प्रतापसे ऐसी स्थिति पाई कि उपदेश विवेकका ग्रहण

किया और उसमें जो तत्त्व जाना उसका मनन किया, जिसके प्रतापसे विशेष विशुद्धि हुई। विशुद्धिके उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेपर सम्यग्दर्शन, संयम, विशिष्ट ध्यान आदि होते गये जिसके परिणाममें सकलपरमात्मा हुए। हम भी यदि उसी मार्गसे चलें तो ऐसी स्थितिमें आजायेंगे।

सकलपरमात्माका रूप प्रायः सभीने किसी न किसी रूपमें माना अर्थात् शरीरसहित हों और भगवान् हों यही तो सकलपरमात्मा हैं, किन्तु सकलपरमात्मा स्वरूप तो वीतराग व सर्वज्ञता है। वीतराग व सर्वज्ञके होते हुए रागभरी चेष्टायें व किसी बातकी अजानकारी कैसे हो सकती है? अतः रागभरी चेष्टामें व अजानकारीमें सकलपरमात्माका स्वरूप नहीं सोचना चाहिये। यद्यपि जो सकलपरमात्मा हुए वे गृहस्थावस्थामें अनेक वातावरणमें भी पहिले रहे तथापि गृहस्थावस्था परमात्मअवस्था नहीं है। अतः वीतराग, सर्वज्ञ, अनन्तानन्दमय, अनन्तशक्तिमान्के रूपमें सकलपरमात्माकी उपासना करना चाहिये। साथ ही ऐसी दृष्टि बनावें कि यह जो शुद्धविकास है वह चैतन्यस्वभावसे प्रकट हुआ है और फिर चैतन्यस्वभावको चेतनमें अभेद करके शुद्धस्वरूपकी दृष्टि बनाना चाहिये। इसके परिणाममें निजशुद्धस्वरूपकी दृष्टि हो जाती है, जिससे आत्मानुभव होता है।

इस प्रकार सकलपरमात्माका ध्यान सर्वक्लेशोंका हरनेवाला होता है।

ॐ तत् सत् परमात्मने नमः।

५२—निकलपरमात्मा

सकलपरमात्मा मनुष्यगतिमें होते हैं सो जब मनुष्यायु पूर्ण हो जाती है तो मनुष्य शरीरसे मुक्त होनेके साथ ही उसी समय अवशिष्ट सर्वकर्मोंसे रहित हो जाते हैं जिसे निर्वाण कहते हैं। ऐसे निर्वाणको प्राप्त परमात्मा निकलपरमात्मा कहलाते हैं। निकलपरमात्माकी आत्माके प्रदेशोंका विस्तार (आकार) जिस मनुष्यशरीरसे मुक्त हुए हैं उस शरीरप्रमाणसे किञ्चित् ही न्यून प्रमाण रहता है। किञ्चित् न्यूनके तात्पर्य २ हैं—(१) इस मनुष्य

शरीरमें रहती हुई भी आत्माके प्रदेशों, निकले हुए बालोंमें व नखोंमें नहीं है तथा समस्त शरीरपर ऊपर मक्खीके परकी तरह सूक्ष्म चाम है उसमें नहीं है, किन्तु है सब वह मनुष्य शरीरका अङ्ग सो यहां भी आत्मप्रदेशों इस शरीरसे न्यून हैं, यही न्यूनता मुक्तजीवके प्रदेशोंमें है। (२) अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मको विघटनेसे अङ्ग उपाङ्गोंका वह आकार विघट जाता है, जिससे पोल सब भर जाती है, इसमें भी न्यूनताकी बात कही जाती है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि मुक्त आत्माके प्रदेश उसी प्रकारके आकारमें क्यों रहते हैं, फैलकर लोक प्रमाण क्यों नहीं होजाते या संकुचित होकर वटबीज इत्यादि जैसे अल्पप्रमाणमें क्यों नहीं होजाते? इसका समाधान तो आत्मप्रदेशोंका संकोच विस्तार उपधि व आधारके आधारका अब कर्मरूप उपधि व शरीररूप आधार नष्ट होगया, अब आत्मप्रदेशोंके संकोच व विस्तारका कोई कारण नहीं रहा, फिर कैसे फैल जावें और कैसे वटबीजादि प्रमाण होजावें, अतः जिस आकारमे मुक्त हुए उसी आकार प्रमाण रहते हैं। आत्माका स्वभावतः कोई आकार नहीं है और न स्वभावतः आकारकी वृद्धि हानि हैं, किन्तु जैसे मूसामें मोम भरा था, अब प्रयोगसे मोम गल जाता है तो मूसका या आभूषणमें के पोलका आकार वही रह जाता है, जो मूसका था। इसी प्रकार कर्ममल गल जाने (नष्ट हो जाने) पर व शरीरसे भी मुक्त हो जाने पर मुक्त आत्माके प्रदेशोंका आकार वही रह जाता है जिस प्रमाण पहिले थे।

निकलपरमात्मामे सकलपरमात्माकी भांति क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तवीर्य आदि तो हैं ही, साथ ही शरीर व अवशिष्ट कर्मोंसे मुक्त हो जानेके कारण अगुरुलघु, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व आदि भी प्रकट हो जाते हैं। निकलपरमात्मामें शरीरका सम्बन्ध न होनेसे तथा व्यवहारिकता नहीं होनेसे निकलपरमात्माका ध्यान निजशुद्धस्वरूपके ध्यानके लिये विशेषाधिक सहायक है। निकलपरमात्माका स्वरूप और चेतनके सहज स्वभावका स्वरूप एक समान शब्दोंसे विशेषित हैं। जैसे—निकलपरमात्मा विराग हैं तो सहज चैतन्य स्वरूप भी विराग

है। इसी तरह सनातन, शान्त, निरंश, निरामय आदि अनेकों विशेषण सहज-चैतन्यस्वरूपमें भी घटित होते हैं।

निकलपरमात्मा मुक्त होते ही लोकमें सर्वोपरि लोकके शिखरपर पहुंच जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका यह कारण है कि आत्मामें ऊर्द्ध्वगमनका स्वभाव है। कर्मोंसे व शरीरसे मुक्त होनेपर एक ही समयमें ऊर्द्ध्वगतिस्वभावसे जाकर वहां विराजमान रह जाते हैं, जिससे ऊपर लोक है ही नहीं। सिद्ध प्रभु लोकके ऊपर विराजमान हैं, इसे अनुभव भी कहता है। भक्त जीवोंकी प्रभुके सम्बन्धमें दृष्टि देनेका भाव होनेपर ऊपर ही निहारते हैं। इससे भी यही सिद्ध है कि सिद्ध भगवान् लोकके ऊपर विराजमान रहते हैं। लोकके बाहर भी ऊपर क्यों नहीं चले जाते? इसका समाधान यह है कि जीवकी गतिमें निमित्तकारण धर्मास्तिकाय है। आगे धर्मास्तिकाय न होनेसे लोकके ऊपर परमात्माका गमन नहीं होता है। ऐसा ही इसमें सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

सिद्ध आत्माओंका संसारमें पुनरागम नहीं होता है। इसका कारण यह है कि संसारभावका अन्तरङ्ग कारण तो आत्माकी मलीमसता है और बहिरङ्ग कारण कर्मोंका उदय है। सिद्ध भगवान्के आत्मामें न तो मलीमसता है और न कर्मोंका सत्व है। उदय कहांसे आवे? अतः एक बार शुद्ध हो जानेपर आत्मा कभी भी अशुद्ध नहीं होता। काल पाकर स्वयं अशुद्ध हो जाय इस सन्देहका भी अवकाश नहीं है, क्योंकि काल तो परिणमनमात्रमें निमित्त है, वह विशिष्ट परिणमनका कारण नहीं है।

निकलपरमात्मा अनन्त हैं, किन्तु उनके गुणविकासोंमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। केवल प्रदेश (आकार) की दृष्टिसे चूंकि जिस शरीरके बाद निर्वाण हुआ है, उस शरीरप्रमाण आत्मा मुक्त हुआ सो उससे कमने या बढ़नेका कोई निमित्त न होनेसे उसी शरीरप्रमाण आकारमें निकल-परमात्मा होते हैं। यह आकार मूर्तिक नहीं, किन्तु ज्ञानादि अनन्त गुणोंका आधारभूत एक द्रव्य ही उतने क्षेत्रमें है यही विस्तार है। निकलपरमात्माकी वर्तमान स्थितिकी दृष्टिसे किसीसे कोई न जरा भी बड़ा है और न जरा

भी कम है, किन्तु यदि मुक्त होनेसे पहिले भवकी विशेषता देखें अथवा उस अन्तिम भवसे पहिले भवकी विशेषता देखें तो उस पूर्व जीवनकी अपेक्षा विशेषतायें बताई जा सकती हैं—

जैसेकि कोई परमात्मा क्षेत्रकी पृथ्वीपर से मुक्त हुए हैं, कोई परमात्मा पर्वतपरसे मुक्त हुए हैं कोई समुद्रसे मुक्त हुए हैं तो कोई आकाशमें ही रह कर मुक्त हुए हैं। कोई वैरी किसी मुनिराजको समुद्रमें फेंक दे और उनको परमसमाधिभाव वहीं हो जाय, जिससे शीघ्र चार घातिया कर्मोंका नाश करके मुनिपदके अनन्तर अरहंत (सकलपरमात्मा) हो जाय और शीघ्र ही शेष सर्व अघातिया कर्मोंका नाश करके सिद्ध (निकलपरमात्मा) हो जाय तो वह समुद्रसे मुक्त हुआ कहलाया। इसी प्रकार कोई वैरी जीव मुनिराजको उपसर्ग करे और आकाशमें बहुत ऊंचे ले जाकर वहांसे पटक दे और वह मुनि शीघ्र ही (भूमि तक न आ सके इस बीच) अरहंत सिद्ध हो जाय तो वह आकाशसे मुक्त हुआ कहलाता है।

यदि अन्तिम भवसे पहिले भवकी दृष्टिसे देखा जाय तो जितने इस समय सिद्ध हैं, उनमें से कितने ही तो देवगतिसे आकर मनुष्य होकर मुक्त हुए हैं और कितने ही मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर मुक्त हुए हैं, कितने ही नरकगतिसे आकर मनुष्य होकर मुक्त हुए हैं तथा कितने ही तिर्यञ्च-गतिसे आकर मनुष्य होकर मुक्त हुए है।

यदि पूर्व शरीरकी अवगाहनाकी दृष्टिसे देखा जाय तो कितने ही ३॥ हाथके शरीरसे मुक्त हुए हैं और कितने ही ५२५ धनुषके प्रमाणवाले शरीरसे मुक्त हुए है तथा ३॥ हाथ व ५२५ धनुषके बीचके अनेकों प्रकारकी अवगा-हनावाले शरीरसे मुक्त हुए हैं। इस तरह पूर्वभावी बाह्य सम्बन्धकी दृष्टि से तो अन्तर बताया जा सकता है, परन्तु सिद्ध भगवानों (निकलपरमात्माओं) के गुणविकासमें अन्तर नहीं है। सभी निकलपरमात्मा सर्वज्ञ, वीतराग, निष्कल, निर्लेप, अनन्तानन्दमय इत्यादि समान विकासवाले होते हैं।

५३–निश्चय धर्म

"धम्मो वत्थुसहावो" धर्म वस्तुका स्वभाव है अर्थात् जो वस्तुका स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। स्वभाव अनादि, अनन्त होता है। इस कारण स्वभाव व्यक्ति (पर्याय) रूपमें नहीं देखा जा सकता है, किन्तु स्वभाव अनादि अनन्त शक्तिस्वरूपमें देखा जाता है। इस तरह आत्माका धर्म आत्माका अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव ही ठहरा। वह धर्म किये जानेकी चीज नहीं है। वह तो अनाद्यनन्त आत्मामें नित्य प्रकाशमान है ही। जो जीव पापभावरूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है व जो जीव पुण्यभाव रूप परिणमन करते हैं उनमें भी यह धर्म है तथा जो जीव इस धर्मकी दृष्टि रखते हैं व इसका चिर उपयोगरूप आलम्बन करते हैं उनमें भी यह धर्म है। अतः इस धर्मकी व्यावहारिकता तो नहीं बनती है, फिर धर्मका पालन ही क्या कहलाये ? इसका समाधान यह है कि इस वस्तुस्वभावरूप धर्मका श्रद्धान व उपयोगका रहना ही धर्मका पालन है। ऐसे धर्मपालनको ही निश्चयधर्मका होना कहा जाता है। अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध चैतन्यस्वभावका उपयोग होना सो निश्चयधर्म है और इसी कारण इस आत्मस्वभावपर दृष्टि न रह कर किन्हीं भी परपदार्थों का उपयोग होना अथवा परपदार्थके विषयसे उत्पन्न हुए इष्ट अनिष्ट भावोंको अपनाना आदि सब अधर्म हो जाता है। निश्चयतः किसी भी प्रकारका राग व रागवश हो किया जानेवाला किसी भी ज्ञेयका उपयोग धर्म नहीं है। अद्वैतोपासनासे च्युत होकर बाह्यमें परमात्माकी भक्ति अथवा परमात्माका उपयोग भी धर्म नहीं है, क्योंकि वह परमात्मा भी परपदार्थ है। यह निश्चय धर्मकी व्याख्याकी जा रही है, निश्चयके पूर्ववर्ती अथवा निश्चयके साधककी कथा नहीं है, व्यवहारधर्ममें इसका प्रतिपादन होगा। अतः इस प्रकरणमें प्रत्येक बातको निश्चयदृष्टि रखकर ही देखना है। परमनिश्चयधर्म तो आत्मा का अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव है और निश्चयधर्म उस परमस्वभावका श्रद्धान व उपयोग है।

परमस्वभावका निर्णय अतिप्रेयगम्य अथवा अनुभवगम्य है। स्वभावकी

समस्त परिणतियोंका भी निषेध करके स्वभाव जाना जाता है। शारीरिक कोई भी पर्याय जीवका स्वभाव नहीं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह जीवके स्वभाव नहीं; कल्पना, वितर्क, विचार जीवके स्वभाव नहीं; ध्यान जीवका स्वभाव नहीं; आंशिक प्रकट ज्ञान जीवका स्वभाव नहीं; पूर्णरूप से प्रकट ज्ञानआदि भी जीवका स्वभाव नहीं। इसका कारण यह कि इन उक्त बातोंमें कितने ही भाव तो परद्रव्यरूप हैं, कितने ही भाव औपाधिकभाव हैं, कितने ही भाव क्षायोपशमिक हैं, कितने ही भाव (केवलज्ञानादि) सादि हैं। स्वभाव अनादि, अनन्त, निरुपाधि एवं अहेतुक होता है। जो इन सब पर्यायों का आधारभूत स्रोत है वह स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव यदि किसी विधि द्वारा कहा जाता है तो वह विधि या तो अंशरूप होगा या पर्यायरूप होगा, किसी न किसी विशेषतारूप होगा। स्वभाव निर्विशेष, निरंश एवं अपरिणामी है। यद्यपि स्वभावके ही भेद करके विशेषतावों एवं अंशोंके रूप व्यवहारनयसे स्वभावको समझाया जाता है तथापि स्वभावका पूर्ण परिचय भेद व अंशोंके द्वारसे नहीं किया जा सकता है। जो स्वभावके मर्मसे परिचित हैं वे ही व्यवहारकी भाषासे निश्चयधर्मका परिचय पा लेते हैं। इसी प्रकार यद्यपि पर्यायों द्वारा भी स्वभावका परिचय व्यवहार द्वारा कराया जाता है तो परिणाम द्वारा स्वभावका परिचय सम्यक् नहीं हो पाता है। स्वभाव पर्यायोंसे जुदा कहीं रहता भी नहीं तो भी पर्यायका स्वरूप स्वभावका स्वरूप नहीं बन जाता। अत एव परिणामवाला होकर भी अर्थात् परिणामी होकर भी स्वभाव अपरिणामी है। इस तरह स्वभावको समझनेका उपाय प्रतिषेध है। आत्मस्वभाव राग नहीं है, विचार नहीं है, ध्यान नहीं है आदि निषेध करते करते यदि ध्रुवभाव जो उनका स्रोत है समझमें आजाय तो वह प्रतिषेधगम्य समझ बन गई।

परमस्वभावके निर्णयका मुख्य उपाय अनुभव है। परपदार्थोंपर व परभावोंपर उपयोग न जाकर परमविश्रामसे स्थित होजाय यह उपयोग उपयोग काम तो बंद करता नहीं, निर्विशेष आत्मा उसके अनुभवमें आता है। यह उपाय सरलसे सरल है व कठिनसे कठिन है। सरल मनुष्य चाहे लौकिक

ज्ञान विशेष न रखते हों, श्रद्धाके बलपर इस उपायसे अनुभव कर लेते हैं। कषायकी पकड़ रखनेवाले मनुष्य चाहे लौकिक ज्ञानमें काफी पाण्डित्य रखते हों, किन्तु यथार्थरुचिके अभाव होनेसे बहुत कुछ अन्यपुरुषोंको बता सकनेपर भी न यह उपाय कर पाते हैं और न आत्मानुभव कर पाते हैं। इस अनुभवसे निश्चयधर्मका पालन यथार्थ हो जाता है।

इस प्रकार यह प्रसिद्ध हुआ कि अनादि अनन्त अहेतुक निज चैतन्यस्वभाव का श्रद्धान, उपयोग, आलम्बन, आचरण निश्चयधर्म है। यह निश्चयधर्म परमस्वभावरूप धर्मके मुकाबिलेमें व्यवहाररूप है, क्योंकि श्रद्धान, उपयोग, आलम्बन ये सब पर्यायरूप हैं, परन्तु जिस तत्त्वका श्रद्धान, उपयोग आदि हो रहा है वह तत्त्व सनातन एवं निरपेक्ष स्वभाव है अर्थात् परमस्वभाव है। इसी कारण परमस्वभावका आलम्बन निश्चयधर्म है। इसके अतिरिक्त धर्म नामपर रूढ जितनी भी क्रियायें हैं वे निश्चयधर्म नहीं है। देहकी क्रिया तो देहका परिणमन है सो जैसे अन्य अचेतनका परिणमन है वह चेतनका धर्म नहीं। इसी प्रकार देहका परिणमन भी चेतनका धर्म नही है। वचनकी क्रिया भी भाषावर्गणाके स्कन्धोंका उस प्रकारका परिणमन है वह भी (वचन भी) अचेतन पुद्गल स्कन्धका परिणमन है वह भी चेतनका धर्म नहीं। द्रव्यमन भी पुद्गलपिन्ड है, उसकी परिणति भी अचेतनकी परिणति है, अतः वह भी चेतन का धर्म नही। हां इतनी बात अवश्य है कि देह, मन व वचनकी ऐसी क्रियाओं के होनेमें योग निमित्त है और योगके होनेमें उस प्रकार आत्माका उपयोग निमित्त है, किन्तु निमित्तमात्र पड़नेसे किसी वस्तुका परिणमन किसी अन्य वस्तुका धर्म नहीं हो जाता। विचाररूप भावमन भी आत्माका स्वभाव परिणमन नहीं होनेसे, निरुपधि भाव नहीं होनेसे निश्चयधर्म नहीं। रागद्वेषादि-भाव भी आत्माका स्वभावपरिणमन नहीं होने से निश्चयधर्म नहीं। परमस्व-भावके अतिरिक्त अन्य पदार्थ या भावको लक्ष्य करके होनेवाला ज्ञान भी निश्चय धर्म नहीं, क्योंकि उस ज्ञानका विषय ध्रुवभाव नहीं है।

निश्चयधर्मका यदि भेदरूपसे वर्णन किया जावे तो निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र निश्चय धर्म है। अन्य समस्त

परद्रव्योंसे रहित, समस्त परभावोंसे रहित शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वभावकी प्रतीति को निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। यथार्थस्वरूपमें निजगुण पर्यायमें तन्मय आत्मतत्त्वके ज्ञानको निश्चयसम्यग्ज्ञान कहते हैं। रागद्वेष संकल्प विकल्पसे दूर होकर आत्मस्वरूपके उपयोगमें स्थिर होने अथवा राग द्वेषरहित निर्विकार परिणमनको निश्चयसम्यक्चारित्र कहते हैं।

निश्चयधर्मरूप परिणामके होनेपर भव भवके संचित भी अनेकों कार्माण स्कन्ध निर्जरित हो जाते हैं, क्योंकि कर्मसंचय मिथ्यात्व व राग द्वेषके परिणामोंके होनेपर हुआ था और उनका सम्बन्ध भी इन विकार परिणामोंके रहते हुए दृढ़ रहता है सो मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि विकारोंके अभावरूप निश्चयधर्मका जितना जितना अंश प्रकट होता जाता है, उसके अनुकूल कर्म निर्जरा होती ही है, ऐसा सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

इस जीवने अनादिसे अधर्मरूप परिणमन किया और इसीके परिणामस्वरूप नाना क्लेश सहे। अब इस दुर्लभ नर जन्मको पाकर जिसमें रहते हुए आत्माके अन्यभवोंकी अपेक्षा अधिक ज्ञान व संयमरूप वर्तन हो सकता है—हमारा कर्तव्य है कि आत्माके परमस्वभावको समझें और इसके उपयोगरूप अवलम्बन से निश्चयधर्मका पालन करें।

५४—व्यवहारधर्म

'विशेषेण अवरणं व्यवहारः' अर्थात् विशेषरूपसे फैलाने को अथवा दूर रखने को व्यवहार कहते हैं। व्यवहार कितने ही प्रकारका होता है—(१) निश्चयके स्वरूपको देखनेवाला व्यवहार, (२) निश्चयके स्वरूपको बताने वाला व्यवहार, (३) निश्चयधर्मके अनन्तर पूर्ववर्ती भाव रूप व्यवहार, (४) निश्चयधर्मके परम्परासाधक भावरूप व्यवहार, (५) निश्चयधर्मके परम्परासाधक भावके होने पर होनेवाली मन वचन कायकी क्रियायें, (६) भावशून्य तत्सदृश क्रियायें। इन छह बातोंके आधारसे क्रमशः व्यवहारधर्म का विवरण किया जाता है—

(१) आत्माका निश्चयस्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र परमस्वभाव है, उसका

अवलोकन आश्रय, प्रतीति करनेरूप जो परिणति है उसे अभी निश्चयधर्मके प्रकरणमें निश्चयधर्मकी श्रेणिमें कहा है; यही निश्चयधर्म परमस्वभावरूप निश्चयस्वरूपके मुकाबिले व्यवहारधर्म है।

(२) आत्माका जो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्य स्वभाव है उसका निश्चयदृष्टिसे जो वर्णन है, चर्चा है वह भी व्यवहारधर्म है।

(३) परमस्वभावके आलम्बनरूप निश्चयधर्मके वर्तनसे अनन्तर पूर्ववर्ती जो निश्चयनयके भाव हैं, विकल्प हैं जिन्हें शुभोपयोग कहते हैं, वे भाव भी व्यवहार हैं। ऐसे भाव पहिले होते हैं और उसके ही अनन्तर निश्चयधर्म हो सकता है। अतः यह निश्चयनयके अभिप्रायरूप शुभोपयोगका भाव व्यवहारधर्म है। इसका कारण यह है कि विकल्पमात्र धर्म नहीं है। व्यवहारनयके विकल्प भी धर्म नहीं हैं और निश्चयनयके विकल्प भी धर्म नहीं है। व्यवहारनय व निश्चयनय दोनोंके विकल्पोंसे छूटकर जो अविकारस्वभावका अनुभव करते हैं, वे ही निश्चयधर्मका पालन करते हैं। इस धर्मके आनेके पूर्व जो एकत्व स्वभावकी भावनाके विकल्प आते हैं वे व्यवहारधर्म हैं। यह भावना साधक है और अनुभव साध्य है। अतः निश्चयभावना व्यवहारधर्म है।

(४) भगवद्भक्ति, गुरुसेवा आदिके शुभविकल्प बुरे विकल्पोंसे बचाये रखते हैं और सन्मार्गमें चलनेके प्रेरक होते हैं। अतः परम्परया निश्चयधर्मके साधक हो सकते हैं। अतः देवपूजा, गुरूपास्ति आदि भाव भी व्यवहारधर्म हैं। ये भाव भी किसी न किसी प्रकारकी वीतरागता आये विना नहीं होते तथा इन शुभोपयोगोंके होते हुए भी स्वरूपाचरण रहता है अतः ये शुभोपयोग भी व्यवहारधर्म हैं। इन शुभोपयोगों में मिश्रभाव रहता है जिससे कि वह पर्याय न केवल शुद्धोपयोगरूप कही जा सकती है और न केवल कर्मरूप कही जा सकती है। इस परिणाममें जितना अंश पुण्यभावरूप है उतने अंशमें बन्ध है और जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें निर्जरा है। एक ही पर्यायमें शक्ति-वैचित्र्य है। साधुवों द्वारा किये जानेवाले वन्दन प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, सामायिक, स्तवन, तप आदि भी शुभोपयोग हैं। ये भाव भी परम्परया निश्चयधर्मके कारण होनेसे व्यवहारधर्म हैं।

(५) निश्चयधर्मके परम्परया साधक भावके होनेपर जो मन वचन कायकी क्रियायें होती हैं वे भी व्यवहारधर्म कहे जाते हैं, किन्तु मन वचन कायकी क्रिया अचेतन पदार्थकी परिणतियां है। अतः उपचाररूपसे व्यवहार धर्म हैं। अन्तरङ्ग भावोंका इन क्रियावोंके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। शुभोपयोग के भावको निमित्त पाकर आत्माका ही ऐसा योग हुआ जिसको निमित्त पाकर देहवातका उस प्रकार चरण हुआ जिसको निमित्त पाकर मन, वचन, कायकी ऐसी क्रिया हुई। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण परम्परया साधक भावोंके होनेपर होने वाली ये क्रियायें उपचरतः व्यवहारधर्म कहलाते हैं।

(६) भावशून्य तत्सदृश क्रियायें उपचरितोपचरित व्यवहारधर्म हैं। जैसी दैहिकक्रियायें ज्ञानी जीवोंके एकक्षेत्रावगाहित देहमें हो जाती हैं वैसी क्रियावोंसे हित व धर्मप्राप्तिकी आशा रखकर कल्याणकी इच्छासे वैसी अपनी भी क्रियायें कोई अज्ञानी जीव करे तो बाह्यमें तो ज्ञानी व अज्ञानी दोनों एक समान लग रहे हैं तथा कुछ कषाय भी मंद होती हुई भी देखी जाती है, अतः भावशून्य उन समान क्रियाओंको उपचरितोपचरित व्यवहारधर्म कहते हैं।

यह सब केवल बाह्यदृष्टि करके ही व्यवहृत होता है, क्योंकि अन्तरङ्गका तो वास्तवमें पता होना कठिन है व बाह्य प्रवृत्ति ज्ञानियोंके देहादि क्रियाकी तरह दीखती है, अतः व्यवहारधर्म कहा जाता है।

उक्त प्रकारके सब व्यवहारधर्मोंका अपनी अपनी जगह प्रयोजन है और अपने अपने प्रयोजन व स्थानके अनुसार फल है, किन्तु जहां तक जीवके भावों तकका व्यवहार है वहां तक तो उनका आत्माके लिये अधिक या हीन फल होता ही है। बाह्य अचेतन शरीरादिकी क्रियाका फल आत्मामें नहीं होता। व्यवहारधर्म परम्परया या कोई व्यवहारधर्म अनन्तर समयमे ही निश्चयधर्मका कारण पड़ता है। व्यवहारधर्म निश्चयतः आत्माका धर्म नहीं है, फिर भी व्यवहारधर्म आये विना किसी भी जीवने निश्चयधर्म प्राप्त किया नहीं और न कोई निश्चयधर्म पा सकेगा, परन्तु जो जीव व्यवहारधर्मको ही धर्म मानता है उसका वह भाव न तो निश्चयधर्मका कारण बन सकता है और न उसकी संज्ञा "व्यवहारधर्म" हो सकती है।

एक प्रकारके व्यवहारधर्मका वह भी स्थान है जिसे हम निश्चयधर्मके साथ ही हो तो व्यवहारधर्म कहते है। यदि निश्चयधर्मसे रहित कोई व्यवहार है तो वह व्यवहारधर्म नहीं है। विशुद्ध चैतन्यमात्र आत्माकी प्रतीति वाले ज्ञानी जीवका प्रतीतिके अविरुद्ध जो भी क्रिया होती है उसे व्यवहारधर्म कहते है। जिन जीवोंने परपदार्थोंसे पृथक्, परभावोंसे भिन्न ज्ञानानन्दपुञ्ज आत्मा का परिचय नहीं किया, उनकी क्रिया मिथ्याअभिप्रायोंके साथ चलती है। अतः आत्मासे अपरिचित जीवोंकी क्रिया व्यवहारधर्म नहीं है।

व्यवहारधर्म प्रयोजनवान् भी है व अप्रयोजनवान् भी है। निर्विकल्पभाव में स्थित न रहनेपर व्यवहारधर्म पापोंसे बचाता है अतः प्रयोजनवान् है, अथवा सम्यक् ज्ञानका उपयोग जब तक नहीं पाया, उन जीवोको सम्यक् मार्गमें ले जाने वाला हो सकनेके कारण प्रयोजनवान् है और निर्विकल्पसमाधि में स्थित जीवोंको व्यवहारधर्म अप्रयोजनवान् कहते हैं।

५५–मैत्री

सब जीवोंमें मित्रताके भावको मैत्री कहते हैं। मित्रताका भाव उनमें ही हो सकता है जो कि बराबरीका दूसरोंको समझते हों। ज्ञानी जीव मनुष्यको ही क्या पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष आदि सभी जीवोंको वस्तुतः ज्ञानानन्दपुञ्ज देखते है। उनकी इस दृष्टिमें सभी जीव समान है। अतः ज्ञानियोंके सभी जीवोंके प्रति मित्रता रहती है। इसी कारण सभीके प्रति यथायोग्य वह व्यवहार रहता है जिससे जीवोंको कष्ट न पहुंचे। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय इन जीवोंकी रक्षा करना व रक्षा करनेका उपदेश देना आदि ही इनकी मित्रता निभाना है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंका सम्पर्क हो तो उनसे यथापद व्यवहार करना और उनके विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का आदर करना संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवोंसे मित्रता निभाना है। मित्रताका मतलब है "दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा" दुःख न उत्पन्न हो ऐसी अभिलाषाको मित्रता कहते है। दूसरोंके दुःखकी चाह द्वेषवश होती, द्वेष किसी विषयके

रागवश होता, जिस विषयका दूसरेको बाधक समझा हो। ज्ञानी जीवके न तो किसी परपदार्थमें राग है और न किसी जीवमें द्वेष है। इस कारण ज्ञानी आत्मा के दूसरोंको दुःख उत्पन्न हो, ऐसी अभिलाषा नहीं उत्पन्न होती। ज्ञानी जीव की दृष्टिमें सभी जीव अपने समान हैं। अपनेको दुःख कोई नही चाहता तथा जिन्हें अपने समान माना हो उनको भी दुःख कौन चाहेगा? अपनेको सभी चाहते हैं कि दुःख उत्पन्न न हो तो जिन्हें अपने समान माना उनके प्रति भी यही अभिलाषा होगी कि इन्हें दुःख उत्पन्न न हो।

ज्ञानी जीवके मैत्रीभाव होना नैसर्गिक गुण है। उसके तो निजके भी उद्धारकी अभिलाषा है और अन्यजीवोंका भी उद्धार हो ऐसी भावना है।ॐ।

संसारमें सभी जीव सुखी हों ऐसी भावना करनेवाला जीव भी सुखी होता है और जो किसी जीवका दुःख चाहता है उसको दुःख हो, चाहे न हो किन्तु परका दुःख चाहने वालेको वर्तमानमें भी दुःख है तथा आगे भी दुःख होगा। ज्ञानी विवेकी संसारका, सर्वपदार्थका यथार्थस्वरूप जानते हैं। अतः उनके सब जीवोंके प्रति मित्रताका ही भाव रहता है।

५६—प्रमोद

ज्ञानीजीव गुणदर्शक, गुणप्रेमी व गुणग्राहक होते हैं। उन्हें कोई गुणी अथवा गुणाधिक महानुभाव मिलें तो उनके गुणोंमें वे अति प्रमुदित होते हैं। जिनको निजशुद्ध चित्स्वरूप की उपलब्धि होगई उनके मनमें गुणियोंके प्रति ईर्ष्याभाव नहीं हो सकता, प्रत्युत प्रमोद ही उत्पन्न होता है। वर्तमान परिणमन को ही निज आत्मस्वरूप मानने वाले मोहियोंके पर्यायमें अहङ्कार हो जाता है जिससे अपने इस पर्यायको सबसे ऊंचा मानते हैं या देखना चाहते हैं। इसी दुरभिनिवेशके कारण अज्ञानियोंके मनमें गुणियोंको देखकर ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। ईर्ष्या परिणतिके कारण ईर्ष्यालु तो दुःखी होता ही है, किन्तु उसके वातावरणमें आनेवाले अनेक लोक भी उस निमित्तको पाकर दुःखी हो जाते हैं। ज्ञानी जीव वस्तुका स्वरूप यथार्थ जानते हैं, उनके यह दृढ़ प्रत्यय है कि

प्रत्येक वस्तु अपने परिणमसे ही परिणमती है। अतः किसीके परिणमनसे किसी अन्यको हानि नहीं पहुँचती, लाभ भी नही पहुंचता। लाभ हानि अपने अपने परिणामपर निर्भर है। दूसरेके गुणोंके विकासको देखकर प्रमोद उसीको होता है जिसके गुणोंका विकास होनेवाला होता है। अतः प्रकृत्या ज्ञानी जीव गुणियोंको देखकर प्रमोदभावसे भर जाते हैं। इस तत्त्वने भी समताका पाठ पढ़ा है। गुणियोंको देखकर उनके समान होनेकी जिनकी उत्कण्ठा है अथवा उनके समान होनेका जिनका पूर्ण निर्णय है उनके प्रमोदभावना उत्पन्न होती है। समताका यह भाव जिनके नहीं जगा है वे बड़े को देखकर या तो भयसे या लाजसे या प्रभोजनसे ही उनका विनय करते हैं, वह मोक्षमार्गियोंका भाव नहीं है। जो समताकी बातका निर्णय करके गुणियोमें प्रमोद करते है उनका मोक्षमार्ग उस भावमें भरा है।

जिन अन्तरात्माओंने स्वरूपकी अविशेषता देखी है उनको कही भी गुणविकास दीखे प्रमोद ही होता है। गुणियोंको देखकर प्रमोदभाव होना प्रमोद करनेवालेके सम्यक्त्वका सूचक है। वस्तुतः प्रमोद कोई दूसरे प्राणीका नहीं किया करता है, केवल अपना ही वह भाव करता है। इसी प्रकार ईर्ष्या करनेवाला भी कोई दूसरे की ईर्ष्या नहीं करता, केवल अपना ही ईर्ष्यापरिणमन करता है। अतः प्रमोदभावसे खुदका ही लाभ होता है और ईर्ष्याभावसे खुदकी ही हानि होती है।

यह आत्मा स्वरसतः चैतन्यमात्र है। ज्ञाता द्रष्टा रहना तो इसका स्वभाव परिणमन है अन्य भाव तो सब औपाधिक भाव है। आत्मा ईर्ष्या जैसे निकृष्ट परिणामोंसे अत्यन्त दूर है। उसके अविकारस्वभावको पहिचाननेवाले ज्ञानीजन ईर्ष्यापरिणामको कैसे कर सकते हैं? अपने गुणविकाससे होनेवाले आनन्दमें जो तृप्त होते हैं ऐसे भव्यजन अन्य गुणीजनोंके गुणविकासको देखकर अत्यन्त प्रमोद करते हैं। यह प्रमोद भी अपना ही प्रमोद है। आत्मानुभवका जो आनन्द है वह वचनातीत है। आत्मानुभवके आनन्दसे संतुष्ट रहनेवालोंको अन्य आत्मानुभवियोंका मिलाप होनेपर प्रमोद ही होता है।

जिसे धर्मात्माओं प्रमोद नहीं है वह राग रहते हुए तो धर्मी हो ही नहीं सकता। जिसे धर्मसे प्रेम है उसे धर्मात्मावोंको देखकर अवश्य ही प्रमोद होता है। वस्ततः यहां भी तात्त्विक बात तो यह है कि अन्य गुणीजनोंके गुणविकासको देखनेवाले उपयोगमें अपने गुणविकासके अभिप्रायको पुष्ट कराया। अतः अपने ही गुणोंके विकासमें प्रमोद हुआ। कोई भी जीव किसीके देहसे प्रेम नही करता, किन्तु अपने ही भावसे प्रेम करता है। ज्ञानी जीव भी किसी अन्यके प्रति प्रमोद नही करता, किन्तु अपने ही भावके प्रति प्रमोद करता है। इस प्रमोदमें भी कर्मकी निर्जरा है, पुण्यका भी बन्ध है क्योंकि यह भाव वीतरागता व सरागताका मिश्रभाव है। जितने अंशमें वीतरागता है, उतने अंशमें निर्जरा चलती है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें कर्मबन्ध चलता है। यह भाव शुभभाव है। अतः पुण्यबन्धकी ही मुख्यता है।

यदि धर्मात्मा जनोंको देखकर प्रमोदभाव उत्पन्न न हो उल्टा प्रमोद हो तो समझना चाहिये कि अभी बहुत आवरण उस आत्मापर है, जिससे धर्मकी रुचि भी नहीं हुई। इसीलिये धर्ममूर्तियोंपर इसके प्रमोदभाव नहीं जगता।

अपने आपसे ही मेरा हित है, इस प्रतीतके बलसे ईर्ष्याभावको समाप्त करके गुणाधिक अथवा गुणी महानुभावमें प्रमोद करना प्रारंभिक आवश्यक अङ्ग है।

५७–अनुकम्पा

करुणा, अनुकम्पा, कृपा व दया–ये एकार्थवाचक शब्द है। दुःखी जीवोंको देखकर उनके दुःखोंके अनुरूप यथायोग्य स्वयंके कप जाने अर्थात् पीडित होनेके भावको अनुकम्पा कहते हैं। सर्वजीवोंको समान समझनेवाले ज्ञानी पुरुष अन्य जीवाको देखकर अपने अपने गुणपदके अनुसार उनपर अनुकम्पा करते हैं। कितने ही ज्ञानी जीव दुःखियोंको देखकर ऐसा भाव करते हैं।

कि अहो स्वयं तो ये सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप हैं, किन्तु अपनी प्रभुताको भूलकर कैसे विकल्पोंसे आकुलित हो रहे हैं ? कितने ही ज्ञानी जीव दुःखियोंको देखकर ऐसी भावना करते हैं कि ये जीव ज्ञानानन्दमय निजस्वरूपका परिचय करलें और सर्व संकटोंसे छुटकारा पा लें। कितने ही ज्ञानी जीव दुःखियोंको देखकर ऐसा सम्बोधते हैं, समझाते हैं; जिससे उन दुःखी जीवोंका उपयोग शरीरादि परद्रव्यसे भिन्न समतामृतके सागर निजस्वरूपका भान कर लें। कितने ही महापुरुष दुःखियोंको देखकर दुःखके कारणभूत पापका विनाश करनेके लिये व पुण्यभाव बढानेके लिये व्रत, विधान, ज्ञानाभ्यास, ध्यान आदि प्रवृत्तियोंमें लगानेका यत्न करते हैं। कितने ही पुरुष दुःखियोंको देखकर आहार औषधि आदि सामग्री देकर वर्तमान दुःखका उपशम करते हैं।

उक्त इन सभी उपायोंमें उन दयालु पुरुषोंने उक्त जुदा जुदा भाव करके अपनी ही पीड़ा मिटाई अर्थात् दुःखियोंको देखकर उन्हें अपने ही परिणमनसे एक प्रकारकी पीड़ा हुई, जिसका प्रतीकार उक्त विभिन्न उपायोंसे किया गया। वास्तविक अनुकम्पा तो जीवका ऐसा सुधार बना देनेका है जिससे उसे फिर संसारके कोई संकट ही नहीं रहते। फिर भी व्यवहारकी सुविधा की भी रक्षा करना आवश्यक है सो क्षुधा व्याधि आदिके संकट उपशान्त करते हुए वास्तविक सुधारका यत्न करा देना अनुकम्पा है।

किसी दुःखीको देखकर दयालु पुरुषका चित्त पीड़ित हो जाता है और इसी कारण वह अपनी ही पीड़ाको दूर करनेका उपाय दुःखीकी आवश्यकता पूर्ण कर देना (वस्त्र भोजनादि दे देना) समझनेसे दुःखीको उसकी आवश्यक सामग्री देता है। अतः अनुकम्पा वास्तवमें खुदकी ही है। ज्ञानी पुरुष आत्म-शान्तिके सन्मुख तीनों लोकोंके वैभवको तुच्छ समझता है। इसी कारण निज आत्माकी शान्तिके लिये सारा वैभव छोड़नेके लिये भावना रखता है और अन्य आत्माओंको किसी वैभवके देनेसे यदि कुछ शान्ति होती हो तो इस प्रसङ्गमें उस वस्तुके त्याग कर देनेमें उसे विलम्ब नहीं लगता।

अनुकम्पा एक वह उत्तम गुण है, जिस एक इस अनुकम्पाके होते हुए

जीवन व्यतीत हो तो सद्गति होती ही है चाहे उसने व्रत, तप किया हो चाहे न किया हो तथा अनुकम्पा न हो सके और व्रत तप भले अनेक हो जायें तो उससे दुर्गति ही होती है। अनुकम्पाका अन्तरङ्गभावसे सम्बन्ध है।

इस अनुकम्पाका प्रयोजन भी समता है अर्थात् दुःखियोंका दुःख मेटकर उसको अपने समान सुखी बनाना है। ज्ञानी जीवोंको सभी प्राणियों पर अनुकम्पा रहती है। मनरहित जीवोंका संक्लेशसे मरण न हो एतदर्थ स्वयं उनकी रक्षा करते हैं और उपदेश देकर अन्य प्राणियोंको इस बातकी श्रद्धा कराकर उनसे रक्षा कराते हैं। मनसहित जीवोंको सत्य तत्त्वार्थ स्वरूप समझकर उन्हें शान्तिमार्गमें लगाते हैं।

ज्ञानी पुरुष विविध अनुकम्पायें करके भी यह प्रतीति नहीं रखते कि मैं किसीका कुछ कर रहा हूं। शुभरागवश उनकी ऐसी प्रवृति हो जाती है कि उसका वह ज्ञाता द्रष्टा रहता है। सर्वोच्च अनुकम्पा, संसारके क्लेशोंसे भयभीत होना और संसारसे सर्वसंकट टलें ऐसा उद्यम करना ही है और व्यवहार-अनुकम्पा जैसे संक्लेश परिणाम उपशान्त हों ऐसे संयोग मिलाना है, जिससे उपशान्तसंक्लेश हो जानेकी अवस्थामें आत्माकी सावधानीकी कुछ योग्यता आ सके।

५८—माध्यस्थ्य

अविनीत, क्रूराशय व विपरीत प्रवृत्तिवाले जीवोंमें रागद्वेष नहीं करनेको माध्यस्थ्य कहते हैं। ज्ञानी पुरुष चूंकि पूर्ण श्रद्धा रखते हैं कि किसी पदार्थकी परिणतिसे किसी अन्यपदार्थका परिणमन नहींहोजाता। अतः किसी भी जीवकी कैसी ही विरुद्ध वृत्ति हो उससे वे कहीं रागद्वेष नही कर बैठते। माध्यस्थ्यमें तो समता प्रकट ही है। दुष्ट अभिप्रायवालोंसे प्रेम करनेमें आपत्तिया आती है, जिनसे आत्महितके यत्नोंमें भी बाधा होती है तथा दुर्बुद्धिजनोंमें राग करनेकी ज्ञानीको कोई अटक भी नहीं है। ज्ञानीको तो राग धर्म,

धर्मसाधन, धर्मीजन व पात्र पुरुषोंमें हो सकता है। दुष्ट अभिप्रायवालोंसे द्वेष करनेमें भी अनेक आपत्तियाँ हैं जिनसे आत्महितके यत्नोंमें उपद्रव उत्पन्न हो जाते है तथा द्वेष करनेकी बात भी तो ज्ञानियोंके नहीं है।

मोहीजन प्रायः इसके विपरीत अमाध्यस्थ्यभावके कारण अनेक संकट व आकुलताओंमें फसे रहते हैं, परन्तु ज्ञानी जन सहजवृत्तिसे ही माध्यस्थ्यभाव रखनेके कारण सुखी रहते हैं।

यदि विपरीतबुद्धि वालोंमें कोई भद्र पुरुष समझमें आया और करुणाभाव भी उस जातिका हुआ तो ज्ञानीजन साधारण व सरल शब्दोंमें उसे सम्बोधते हैं—हे आत्मन् ! तेरा ज्ञान व आनन्द स्वभाव है यथार्थज्ञान करना व यथार्थ आनन्द पाना तेरी कला है। प्रिय ! अपनी स्वभावकलाको भूलकर परपदार्थों में क्यों उपयोग फसाता है। सर्वप्रकारके व्यसनोंको छोड़कर सरल सत्यमार्ग पर चल।

दुर्बुद्धियोंमें पात्रता कम होती है। इसलिये उनमें माध्यस्थ्य भाव रखना ही मुख्यतया कर्तव्य है। जिस चेष्टासे अपने आपमें क्षोभ उत्पन्न हो जाय, ऐसी वृत्तिमें जानेका ज्ञानीको कोई प्रयोजन नही है। रागद्वेपरहित चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना करनेवाला ज्ञानी और जिसका प्रयोजन रागद्वेप रहित अवस्था प्राप्त करना हो वह व्यर्थ उन यत्नोंमें कैसे जा सकता, जिनके कारण रागद्वेष व संक्लेश करना पड़े। इसी कारण विपरीतवृत्तिवाले जीवोंमें ज्ञानी जीवके माध्यस्थ्यभाव रहता है।

विपरीतवृत्ति मोहवश होती है। वस्तुका यथार्थस्वरूप परिचित न होनेसे, आत्माका सत्यस्वरूप प्रतीत व होनेसे जो पदार्थ विषयसाधक माने गये उन्हीं पदार्थोंमें ममत्व हुआ और अतिनिकट पदार्थोंको तो निज आत्मा ही माना। इस मिथ्याबुद्धिमें इष्ट अनिष्ट कल्पना होने लगती है और वह भी अट्ट सट्ट। इस अविवेकके कारण मोही जीवोंकी अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं। ऐसी स्थितिमें उनसे राग किया जाय तो आपत्ति, द्वेष किया जाय तो आपत्ति। ज्ञानी जीव ऐसी आपत्ति अपने यत्न द्वारा नहीं पैदा करते, जिससे आत्मसाधना ही समाप्त हो जाय।

जगत्में जीव अनन्तानन्त हैं। उनमें विरले ही कुछ जीवोंको छोड़कर शेष सबही विपरीतवृत्तिवाले है। उनमें से इने गिने मनुष्य यदि समागममें आ गये या समक्ष आगये तो जब तू अन्य अनेकों विपरीतबुद्धिवालों के प्रति क्षोभ नहीं करता तो इन्हींके प्रति क्षोभ करनेमें क्या रखा है ? प्रत्येक जीवमात्र अपनी परिणति ही कर सकता है। अपने परिणमनसे बाहर तो किसीका कोई वश ही नहीं है।

ज्ञानी जीव निज परिणमनको देखता है। जिन बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे ज्ञेयाकार परिणमन हुआ है, उन पदार्थोंसे अपना तनिक भी सम्बन्ध नहीं मानता और अपनी परिणतिका ज्ञाता रहता है। ज्ञानी पुरुष स्वयंमें कर्मोदय निमित्तवश उत्पन्न हुए राग द्वेषभावोंमें मध्यस्थ रहता है अर्थात् ज्ञाता रहता है, उन रागादिविभावोंमें न तो आकर्षण है न प्रेम है, न उनके प्रति अहङ्कार है और न उनमें स्वामित्व बुद्धि है। फिर बाह्यपदार्थोंकी परिणति जानकर भी बाह्यपदार्थोंमें क्यों न ज्ञानी मध्यस्थ रहेगा ? उसे न तो बाह्यके प्रति आकर्षण हो सकता है, न प्रेम हो सकता है और न उनमें कर्तृत्वादि भाव ही हो सकते हैं। ज्ञानी जीव सबका मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहता है, यही ज्ञानीका माध्यस्थ्य भाव है।

५९–गृहस्थधर्म

ज्ञानीजीव जिसने कि वस्तुका यथार्थस्वरूप जाना है, कुछ अशक्तिवश पूर्ण निष्परिग्रह नहीं बन पाता, वह ही गृहस्थधर्मका पात्र है। गृहस्थीमें रहते हुए जो समागम मिलता है उससे भी किसी न किसी अंशमें धर्मकी पूर्ति करता है वह। गृहस्थ ज्ञानीके स्त्री परिग्रहका यह प्रयोजन रहता है कि इच्छा तो यही थी कि सर्वप्रकारसे स्त्रीसे विरक्त व पृथक् रह कर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालकर जीवन सफल करता, किन्तु इतनी शक्ति तो है नहीं और स्त्री परिग्रह रखूं नहीं तो अन्य प्रकार भी अनेकों दोष लग सकते हैं। अतः एक ही स्त्रीपरिग्रहका परिमाण व संतोष करके शेष सब स्त्रियोंसे पूर्ण विरक्त रहता है। जब स्त्री

परिग्रह रह गया व गृहमें रहकर ही गुजारा करनेका संकल्प कर लिया तब धनका प्रयोजन भी करना पड़ता, अतः उसके अर्थ उद्यम करना पड़ता, धनका कुछ संचय करना पड़ता, किन्तु ज्ञानी गृहस्थ परिग्रहका परिमाण कर लेता है कि मैं इतना आवश्यक परिग्रह रखूंगा इसके अतिरिक्त अन्य सब परिग्रहका त्याग है, फिर अन्य परिग्रहमें न लालसा रखता है, न विशेष परिग्रहीको देखकर आश्चर्य करता है।

ऐसे विरक्त भावसे रहनेवाला ज्ञानी गृहस्थ किसी भी समागममें आसक्त नहीं होता, न समागमसे लाभ या हित मानता है और न समागममें हर्ष मानता है। सद्गृहस्थकी सदा यह भावना रहती है कि कब समस्त परिग्रहसे मुक्त होकर केवल आत्मध्यानमें ही रमूं। किन्तु, जब तक निर्ग्रन्थ अवस्था नहीं पाता है तब तक देवभक्ति, गुरुसेवा, ज्ञानार्जन, यथाशक्तिसंयम, इच्छानिरोध, दान आदि सत्कार्योंमें प्रवृत्त होता है। वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्माके गुणोंका चिन्तवन करते हुए अपने स्वरूपकी परख कर करके निजस्वरूपके अनुभवका आनन्द लेता रहता है। उसकी दृढ़ श्रद्धा है कि देव वही आत्मा है जो राग द्वेषादि सर्व दोषोंसे रहित है व सर्वज्ञ है, यही परमात्माका स्वरूप है। वह उपासक ऐसा ही होना चाहता है, अतः उसकी भक्ति देवमें उत्पन्न होती है। देवभक्तिसे पापका क्षय व पुण्यका संचय भी होता है। सशरीर परमात्माके साक्षात् दर्शन व भक्तिको देवभक्ति कहते हैं व उनकी मूर्तिमें उनकी स्थापना करके मूर्तिके समक्ष उनके गुणोंके स्मरण संस्तवनको भी देवभक्ति कहते हैं तथा किसी भी स्थानपर एकान्तमें भी परमात्माके गुणस्मरणको देवभक्ति कहते हैं। देव वह है जिसमें क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, विस्मय, अरति, खेद, रोग, शोक, भय, मद, मोह, निद्रा, चिन्ता, स्वेद, बुढ़ापा, राग, द्वेष आदि दोष न हों तथा जिनमें ज्ञान व आनन्दका पूर्ण विकास हो। अशरीर परमात्मा याने सिद्ध भी देव कहलाते है। रागद्वेषके चक्रमें फंसे हुए जीवोंको निवृत्तिका उपाय प्रारम्भमें रागद्वेष रहित एवं सर्वज्ञ तथा अनन्तानन्दमय देवकी भक्ति उपासना है। देवभक्तिमें वीतरागताका भाव, वीतरागताका स्मरण व वीतरागता का उद्देश्य है, अतः यथायोग्य कर्मनिर्जरा भी है। गृहस्थधर्ममें देवभक्ति एक

प्रधान कर्तव्य है। इसी प्रकार गुरुसेवा भी गृहस्थोंका प्रधान कर्तव्य है। यदि गुरुवोंका समागम प्राप्त न हो तो गृहस्थोंको धर्मपरिचय व धर्ममें उत्साह होना कठिन है। गुरुवोंके समय समयपर मिलनेवाले उपदेश एक धर्मका संस्कार बना देते हैं। साक्षात् मिलनेवाले गुरुवोंकी चर्याकि मुद्राके दर्शनसे गृहस्थ उत्तम आचरणके लिये प्रीतिवान् होते हैं। अज्ञान अन्धकारसे हटाकर ज्ञान ज्योतिमे ले जाने के निमित्त गुरुजन हैं। गुरुकी सेवासे पवित्रताकी वृद्धि होती है। अतः गुरुसेवा गृहस्थोंका प्रधान कर्तव्य है। ज्ञानोपयोग विना तो आत्माका कल्याण ही नहीं। ज्ञानोपयोग ज्ञानसिद्धिके विना नहीं हो सकता सो ज्ञानसिद्धिके अर्थ गृहस्थ स्वाध्यायके कर्तव्यमें लगते हैं। वे अपने योग्य किसी ग्रन्थका स्वाध्याय क्रमशः करते हैं। कभी किसी ग्रन्थको लिया, कभी किसी ग्रन्थको लिया, इस प्रकार नहीं करते; कारण कि इस पद्धतिम ज्ञानार्जन नही होता। स्वाध्यायके अतिरिक्त अध्ययन भी करते हैं। अध्ययनका भी बड़ा महत्त्व है। अध्ययनसे क्रमिक, मौलिक एवं पुष्ट ज्ञान होता है। वेधर्मकी बात शुद्धभावसे पूछते भी है। पूछना भी स्वाध्याय है क्योंकि पूछने से ज्ञानकी दृढ़ता होती है, शङ्काका परिहार होता है। स्वाध्यायमें आये हुए तत्त्वका बार बार विचार करना चाहिये। उससे खुदके लिये क्या प्रेरणा मिली? उसका विचार करना चाहिये। योग्य पुरुषोंको देख, धर्मके चर्चा अथवा धर्मका उपदेश देना भी स्वाध्याय है, क्योंकि, उपदेश देना तभी होता है जब हृदयसे वह बात विचारी जाय सो उपदेशमें उपदेष्टाने अपना विचार किया है। यद्यपि उपदेशका अधिकार आचार्य महाराजको है तो भी चर्चाके रूपमें उपदेश करना धर्मरुचियों का प्राकृतिक कर्तव्य हो जाता है। ज्ञानी गृहस्थ अपनी शक्तिप्रमाण संयम का साधन भी करते हैं। जीवोंकी रक्षा करना, अप्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिकी भी विराधना न करना, भोजननिर्माणादि आरम्भोंमें यत्नाचार रखना, उद्योगादिमें यत्नाचार रखना आदि प्राणिसयमके उपाय ज्ञानी गृहस्थ करता है। इन्द्रिय और मनकी वृत्तिको संयत रखना इन्द्रिय-संयम है। ज्ञानी गृहस्थ इन्द्रियसयमपर भी विशेष ध्यान देते हैं। ब्रह्मचर्यकी अधिकाधिक साधना करना, गरिष्ठ रसीले भोजनोंका त्याग करना, सुगन्धित

वस्तुवों के मिलानेका यत्न नहीं करना, रागकारक चित्र नाटक शरीर रूपादि नहीं देखना, रागकारक संगीत गायन शब्द नहीं सुनना सो ये इन्द्रियसंयम कहलाते हैं। इज्जत प्रतिष्ठादि नहीं चाहना सो मनःसंयम कहलाता है। ज्ञानी गृहस्थका भाव चूंकि सर्व विषय त्याग करके निर्विषय चैतन्यस्वरूपकी आराधना में बने रहना है। अतः उक्त इन्द्रियसंयमके पालन करनेके लिये वह यत्नशील रहता ही है। गृहस्थ ज्ञानी जीवके जब जब जो इच्छा उत्पन्न उस इच्छाको दूर करनेका भाव बना रहता है और यथाशक्ति इच्छाओंका निरोध करता है यही गृहस्थका एक तप है। ज्ञानी गृहस्थ आजीविकाके न्यायपूर्ण उपायोंसे जो आर्थिक लाभ पाता है, उसीके अन्तर्गत हिस्सेमें ही अपना सबका गुजारा करता है क्योंकि कर्ज लेकर आरामके साधन जुटानेपर एक शल्य हो जाती है, जिससे वह धर्मका पालन नहीं कर सकता। गृहस्थोंका यह भी एक तप है कि गृहस्थको जितना समागम प्राप्त हुआ है वह चेतन हो या अचेतन हो उनमें आसक्त नहीं होना, उनके समागममें हर्षविभोर न होजाना। जो संयोगमें हर्ष नहीं मानते वे वियोगमें भी दुःखी नहीं होते। गृहस्थका एक मुख्य कर्तव्य दान है। व्यवसायादि व्यवहारमें जो पाप होता है उसकी शुद्धि दान (त्याग) से होती है। अर्थोपार्जनमें होने वाले पापकी शान्ति अर्थ के त्यागसे ही होती है, किन्तु अर्थका त्याग यदि खोटे कार्योंमें लगाता है तो वह उसको विषयपुष्टिका कारण होनेसे दान नहीं कहलाता है। ज्ञानी गृहस्थ चार प्रकारके दानको भक्तिपूर्वक करता है—(१) गृहस्थसाधु, आर्या, त्यागी, व्रती, सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको भक्तिपूर्वक सविधि आहारदान देता है। दीन दुःखीजनोंको भी दयापूर्वक आहारदान करता है। (२) गृहस्थ रुग्ण साधु श्रावकोंको उनके आहारके समय प्रासुक औषधिदान देता है। साधारणजनोंको भी औषधालय आदिकी व्यवस्था करके उनके योग्य औषधिप्रदान करता है। (३) ज्ञानीगृहस्थ साधु, त्यागियोंके योग्य वसतिका, कुटी, कमरों की व्यवस्था करके तथा उनके योग्य वचनोंको बोलते हुए किसी प्रकारका भय दूर करके व अन्य प्रकारसे अभयदान देता है। साधारण लोकोंके लिये भी धर्मशाला, भवन, आवास, प्रकाश आदिकी

सुविधा देकर अभयदान करता है। अन्य अनेक प्रकारोंसे जीवोंकी रक्षा करा कर अभयदान करता है। (४) ज्ञानी गृहस्थ साधु, विद्वानोंको योग्य शास्त्रोंको प्रदान करके, अनेक शास्त्रोंका प्रकाशन करके शास्त्रदान करता है। साधारण जनोंको भी उपदेश देकर, उपदेशव्यवस्था करके, विद्यालय खुलवा करके, अन्य भी अनेक उपायोंको करके ज्ञानदान करता रहता है। इस प्रकार गृहस्थ अपने योग्य धार्मिक कर्तव्योंमें कभी प्रमाद नहीं करता है। धार्मिक कार्योंमें तन, मन, वचन व धन लगाकर संतुष्ट रहता है।

हित मित प्रिय वचन बोलना गृहस्थोंका भी भूषण है एवं कर्तव्य है। गृहस्थोंको अनेक प्रकारके मनुष्योंसे समागम होता है, उनसे अधिक बोलनेसे आत्माका ध्यानबल शिथिल हो जानेसे ऐसीबातोंका प्रयोग हो जायगा जो हितरूप भी न हो और प्रिय भी न हो। फिर ऐसे वचनके निमित्तसे विवाद आपत्ति, हानि आदि अनेक विम्डवंनायें हो सकती हैं, जिनके कारण गृहस्थको आत्मकल्याणमें बाधा आसकती है। अतः थोड़ा बोलना, प्रिय बोलना व जिसमें दूसरेका हित भी हो ऐसा बोलना गृहस्थका धर्म है, कर्तव्य है, भूषण है।

शुद्ध भोजन करना तो गृहस्थका खास धर्म है। शुद्ध भोजनकी प्रवृत्ति बिना उस गृहस्थका भी मलिन परिमाण रहेगा, पापबन्ध भी विशेष होता रहेगा तथा साधुधर्मकी परिपाटी भी समाप्त हो जायगी। इसका कारण यह है कि साधु तो गृहस्थके घर विधिपूर्वक शुद्धभोजन मिले तभी आहार लेते हैं। यदि गृहस्थोंने शुद्धभोजन करना छोड़ दिया तो साधुवोंका शरीर आहारके अलाभमें कितने दिनों टिक सकेगा? परिणाम यह होगा कि साधुवोंका अभाव हो जायगा। साधुवोंके अभाव होनेसे गृहस्थको भी स्वयंकी हानि है, क्योंकि गृहस्थको जब तक आदर्श साधुवोंके दर्शन प्राप्त न होंगे वह अपना उत्थानमार्ग कैसे कर सकेगा? अपनेसे महान् उज्जवल चरित्र वालों के सम्पर्कमें भी रहकर तथा उत्थानकी विशेष भावना भी रखकर मार्गपर बढ़ना दुष्कर होता है। फिर तो आदर्श संत पुरुषोंके समागम विना केवल मोही रागी पुरुषोंके सम्बन्धमें रहता हुआ गृहस्थ अपना कल्याण कैसे कर

सकेगा ? वस्तुतः साधुवोंकी सेवा भी गृहस्थ अपने उद्धार एवं आनन्दके लिये करता है। साधु बिना गृहस्थोंका धर्मनिर्वाह कठिन है और गृहस्थोंके बिना साधुवोंका भी धर्मनिर्वाहपरम्परा रहनी कठिन है। अतः शुद्ध भोजनकी घरमें प्रवृत्ति रखना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। शुद्धभोजन वहीं है जिसमें कीट, मकोड़े आदि किसी जीवकी हिंसा न हो तथा अन्नादिक सब बिना घुना हो, आटा आदिक अधिक दिनोंके न हो। दूध पौना घंटाके भीतर गर्म किया हुआ हो, ऐसी दूधकी दही हो व १ रात तक ही बसी हुई दहीका घी हो, जो कि तुरंत याने ४५ मिनटके भीतर तपा लिया जावे—इत्यादि अनेक वस्तुवोंकी उनके योग्य मर्यादा है।

ज्ञानी गृहस्थका कर्तव्य है कि क्रोध, मान, माया, लोभको अधिकसे अधिक मन्द करे। मन्दकषाय पुण्यबधका कारण है, आगे उदयमें आनेवाले पुण्यको जल्दी उदयमें ला देता है, मोक्षमार्गके योग्य अवसर बना देता है। मंदकषायताके विपरीत चलनेसे याने तीव्र क्रोध मान माया लोभ करनेसे अनेकों विपत्तियां सामने आ जाती है। तीव्र क्रोध करनेसे पड़ौसी वगैरह सब दुश्मन हो जाते है अथवा उन्हें वह अनिष्ट लगने लगता है, जिससे कदाचित् कोई उसपर आपत्ति आवे तो सहायक मिलना कठिन हो जाता है। क्रोधमें जिसके प्रति क्रोध किया हो उसके द्वारा अनेकों विपत्तियोंके आनेकी संभावना है। जिसके क्रोध कम है उसका जीवन अच्छी तरहसे व्यतीत होता है और इसी कारण धर्ममार्गमें उसका विहार हो जाता है। मान कषाय भी गृहस्थमें मन्द होना चाहिये। यहां कोईसी भी वस्तु ऐसी नही है जिसकी प्राप्ति हित करती हो। अतः मान करनेका कोई स्थान ही नही। इसी कारण ज्ञानी गृहस्थके मानकषाय स्वयं मन्द रहती है। माया तो कुटिलवृत्ति है। ज्ञानी गृहस्थके मायाकी वृत्ति अत्यन्त मन्द रहती है। लोभ भी सर्व आपदाओंका बीज है। लोभके कारण चित्तमें सदा आकुलता रहती है। लोभीका दिल सदा हल्का रहता है और उसके चिन्ताओंका ढेर लगा रहता है। ज्ञानी गृहस्थ समस्त पर द्रव्यको अहित व भिन्न समझता है। इस कारण उसके दिलमें लोभ घर नहीं कर पाता है अर्थात् ज्ञानी गृहस्थके लोभकषाय मन्द

रहती है। चारों कषायों के मन्द होनेसे ज्ञानी गृहस्थका जीवन गृहमें रहते हुए भी विराग जीवन है।

गृहस्थ अपने कर्तव्योंका पालन करता रहे तो वह अवश्य आत्मानुभवका अधिकारी होता है। आत्मानुभवसे ही सर्वसिद्धि है।

६०—मूलआचरण

सत्यश्रद्धा, न्यायवृत्ति एवं भक्ष्य पदार्थका ही उपयोग—ये तीन आचरण गृहस्थोंके मूल आचरण है। जैसे नींव बिना मकान नहीं बनता, जड़ बिना वृक्ष खड़ा नहीं होता, इसी प्रकार इन तीन आचरणों बिना गृहस्थ सदाचारी नहीं कहा जा सकता। अतः इन तीनोंको मूल गुण अथवा मूल आचरण कहते हैं।

सत्यश्रद्धा—जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही विश्वास करना सो सत्यश्रद्धा है। पदार्थ किस प्रकारके है इसके जाननेके लिये इसी पुस्तकके प्रारम्भमें लिखित विश्वके पदार्थ, जगतके जीवोंकी स्थिति, चेतनकी महिमा, क्लेशमुक्तिका उपाय, दृष्टिवाद व विश्वव्यवस्था—इन प्रकरणोंका अवलोकन करना चाहिये। जिन सबका सारांश यह है कि प्रत्येक जीव, प्रत्येक परमाणु एवं आकाशादि सभी पदार्थ स्वतन्त्र सत्तावान् हैं, वे सभी अपने अपने परिणमनसे परिणमते हैं। अतः किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थका अन्य कोई चेतन अथवा अचेतन पदार्थ न तो अधिकारी है न स्वामी है और न कर्ता है। ऐसे अपने अपने स्वरूपमें अवस्थित पदार्थको स्वतन्त्र स्वतन्त्र निरखना व वैसा ही विश्वास करना ज्ञानी गृहस्थका प्रथम मूल आचरण है। स्वतन्त्रताकी प्रतीतिवाला महापुरुष परतन्त्रभावका आदर नहीं करता है। वह परपदार्थ विषयक उपयोगमें होनेवाले राग द्वेषादि विकारोंसे दूर रहकर शुद्ध स्वतन्त्र निजकलामें ही विहार करना चाहता है। इसी कारण जो वीतराग एवं सर्वज्ञ है ऐसे परमात्माकी ओर अधिकतया दृष्टि बनाता है तथा वीतरागता प्राप्त होनेका उपाय जिन शास्त्रोंमें किसी न किसी रूपमें सत्यताके साथ मिलता है; उन शास्त्रोंका अध्ययन, श्रवण, मनन विनयपूर्वक करता है एवं

जो महापुरुष वीतराग होनेके यत्नमें लग रहे हैं ऐसे साधुवोंकी सेवा करता है। वह ज्ञानी गृहस्थ वीतराग सर्वज्ञदेव, आप्तपरम्परागत हितोपदेशपरिपूर्ण शास्त्र एवं निरारम्भ निष्परिग्रह ज्ञानध्यानतपोलीन साधुके सिवाय अन्य सरागदेव, असत्य शास्त्र, आरम्भपरिग्रहासक्त गुरुवोंकी सेवा विनय संग आदिसे दूर रहता है। ऐसी सत्यश्रद्धाका वास एवं व्यवहार ज्ञानी गृहस्थका मूल-आचरण है।

न्यायवृत्ति – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसंतोष व परिग्रहपरिमाणका पालन करते हुए लोकोसे सद्व्यवहार करनेको न्यायवृत्ति कहते हैं। ज्ञानी गृहस्थके मनमे अन्यायका कभी भाव नही होता और इसी कारण वह शान्ति एव संतोषपूर्वक अपना समय व्यतीत करके जीवन सफल करता है। अन्यायकी सुगम परिभाषा यह है कि जो बात अपनेको अपने लिये प्रतिकूल जंचे, उसे दूसरोके प्रति करना सो अन्याय है। यदि कोई हिंसा झूंठ आदिके व्यवहारसे अपना दिल दुखाये तो अपने को बुरा लगता है तो हम भी यदि किसीका उन व्यवहारोंसे दिल दुखायें तो वह अन्याय है। अन्यायकी बात हर एक कोई समझ जाता है, किन्तु जो लोभकषायमें रंगे हुए हैं वे अन्यायको छोड़ नहीं सकते। ज्ञानी पुरुषके यह निर्णय है कि "जगत्में किसी भी परपदार्थसे मुझ आत्माका हित नहीं हो सकता, मेरा हित मेरे ही शुद्ध उपयोगसे है!" अतः वह अन्याय कर सके ऐसा परिणाम ही उसके नहीं आता। किसीको धोका देना, विश्वासघात करना, रिश्वत लेना, झूंठी गवाही देना, झूंठा लेख लिखना, कोई चीज चुरा लेना, परस्त्री की ओर कुदृष्टि करना, बड़ेको देखकर ईर्ष्या करना, किसीको असमर्थ जानकर दबाना आदि सब अन्याय हैं। अन्यायका व्यवहार करनेवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता। अन्याय अज्ञानमे ही किया जा सकता है। जिनकी अन्यायवृत्ति है वे ऊपरसे कैसी ही शुद्धि करें, वे अपवित्र ही हैं, सदाचारी कहलाने के अधिकारी नही हैं। न्यायवृत्तिसे रहनेवाले पुरुष अन्तरङ्गमें पवित्र रहते हैं, उनके समागममें रहने वाले सुखी रहते हैं। न्यायवृत्ति के वर्तावसे पुण्यबन्ध होता है। आगे उदयमें आने वाले पुण्य पहिले ही उदयमें आकर फल दे सकते हैं। न्यायवान् पुरुषको क्लेश नहीं होता। मोक्षमार्गकी

यह नींव है जो कभी अन्याय न करे, न्यायसे ही जीवन बितावे।

न्यायवृत्ति गृहस्थोंका मूल आचरण है। इसके बिना जप, तप, व्रत आदि सब ढोंग हैं, ढोंग ही नहीं बल्कि दूसरोंके ठगनेके साधन हैं। ज्ञानी गृहस्थ एक विशुद्ध अन्तरात्मा है। अतः उसके यह मूलाचरण नियमसे होता है।

भक्ष्योपयोग—ज्ञानी गृहस्थकी भावना रहती है कि यह भोजन करना जीवको रोग लगा है, जीव तो अमूर्त चैतन्यमात्र है, उसका तो किसी भी पर-पदार्थके साथ सम्बन्ध ही नहीं है तथा जो सम्बन्ध दीखता है वह भी निमित्त-नैमित्तिकभाव मात्र है। यहां तक कि जो ऐसा सम्बन्ध प्रतीत होता कि जहां आत्मा जाता वहां शरीर व कर्म जाते, जहां शरीर जाता वहां जीव जाता। इसमें भी निमित्तनैमित्तिक भावकी ही बात है, सम्बन्ध नहीं है। ऐसे स्वतन्त्र चैतन्यस्वरूप मैं परपदार्थके उपभोगका विकल्प करके विपरीत मार्गको अपनाऊं यह नहीं होना चाहिये। यह भोजन कब छूटे? इस प्रकार भोजनकी निवृत्ति की भावना करनेवाले ज्ञानी गृहस्थको कर्मविपाकवश शारीरिक क्षुधा तथा आत्मबुभुक्षाके उपचारमें कुछ भोजन ग्रहण करना पड़ता सो वह वहां यह बड़ा विवेक रखता है कि कहीं जीवोंका विनाश न हो जाय। इस भावनाके परिणाम में कीटादिक देहियोंकी रक्षा करता है और अप्रयोजन वनस्पतिका भी घात नहीं करता है। ऐसे ज्ञानी गृहस्थ स्थूल अभक्ष्यका भक्षण तो करते ही नहीं और यथाशक्ति अतिचारको भी दूर करते हैं स्थूल अभक्ष्य ८ प्रकारके हैं— (१) मद्य, (२) मांस, (३) मधु, (४) बड़, (५) पीपल, (६) ऊंबर, (७) कठूमर, (८) पाकर। मद्य तो अनेक पदार्थोंको सड़ाकर बनाई जाती है, जिसमें अनेक मृतक शरीरोंका रस एवं अनेक जीवित देह रहते हैं। सो मद्यके पानमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त मद्यपानसे बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। मांस तो कलेवर है ही वह जीवहिंसा हुए बिना नहीं मिलता तथा उसमें प्रतिसमय अनेकों उसी वर्णके जीव उत्पन्न होते रहते हैं सो इसके भक्षणमें महती हिंसा है। मधु (शहद) भी अनेक जीवोंका रस है व मक्खियोंका उगाल है। इसके भक्षणमें भी अनेक जीवोंकी हिंसा है। बड़, पीपल, ऊंबर, कठूमर, पाकर व इसी जातिके अन्य फलोंमें त्रस जीव नजर तक

आ जाते हैं। इन फलोंके भक्षणमें अनेकों जीवोंकी हिंसा है। अतएव ज्ञानी गृहस्थ इन अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण नहीं करता है।

इस प्रकार गृहस्थका मूल आचरण संक्षेपमें इन तीन बातोंके पालनमें आजाता है—(१) मिथ्यात्वका त्याग, (२) अन्यायका त्याग, (३) अभक्ष्यका त्याग। मिथ्यात्व दो प्रकारका है—अगृहीतमिथ्यात्व, गृहीतमिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व तो शरीर रागादिक पर्यायमें आत्मबुद्धि करनेका नाम है। गृहीत मिथ्यात्व कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुकी सेवा भक्ति करनेका नाम है। दोनों प्रकार के मिथ्यात्वका त्याग ज्ञानी गृहस्थके होता है। अन्यायका भी त्याग ज्ञानी गृहस्थके होता है। अभक्ष्य पदार्थोंके भक्षणका त्याग भी ज्ञानी गृहस्थके होता है।

उक्त तीन कुतत्त्वोंके त्यागमें परस्त्रीसेवन, वेश्यासेवन, शिकार खेलन आदि सभी अनाचारोंका त्याग गर्भित है।

गृहस्थके उक्त मूल आचरणोंसे उसके आत्माका प्रभाव बढ़ता जाता है और अधिकाधिक आत्मानुभवका अधिकार हो जाता है तथा अधिकाधिक ज्ञानोपार्जन, शुद्ध भोजन व ब्रह्मचर्यका पालन इन तीन चर्याओंका पालन भी आत्मानुभवपर अधिकार पानेका अमोघ उपाय है। इन्हें भी गृहस्थका मूल आचरण समझना चाहिये।

६१—साधुधर्म

जो आत्माको साधे उसे साधु कहते हैं। जिसका लक्ष्य, उद्देश्य व कार्य मात्र आत्माको साधनेका है उसे साधु कहते हैं। आत्मसाधनमें पूर्णतया उद्यत सत्पुरुषकी बाह्य पदार्थोंसे अत्यन्त उपेक्षा होती है। अतः बाह्यपदार्थोंमें किसी भी पदार्थका संग्रह उसके समीप नहीं होता, केवल तीन पदार्थ उसके समीप हो सकते हैं—(१) पुस्तक, (२) कमंडलु, (३) पिच्छिका। पुस्तक तो ज्ञानका साधन है, ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि है और आत्मसिद्धिका ही साधुके यत्न है। अतः पुस्तक साधुके समीप रह सकती है। पुस्तकके रहने से साधुका नियम भङ्ग नहीं होता। हां यदि निष्प्रयोजन पुस्तकोंका संग्रह करे तो उससे साधुता

नष्ट हो जाती है, क्योंकि जिस तृष्णाके विकल्पके कारण पुस्तकोंका संग्रह होता है वे विकल्प आत्मसिद्धिके बाधक है। स्वाध्याय करना, भक्ति करना, जाप करना, गृहस्थके घर आहार लेना आदि कार्य अशुचि अवस्थामें नहीं किये जाते हैं और इन कार्योंका करना साधुके होता है सो शुद्धिके अर्थ जलपात्र होना आवश्यक हो जाता है। वह जलपात्र कमण्डलके रूपमें रहता है, क्योंकि इसमें राग नहीं होता व इसे कोई छीनता भी नहीं। यदि कभी कमण्डलु पास न रहे तो कदाचित् समयपर कोई अनधिकृत तूमा, डवला आदि मिल जावे तो उससे भी शुद्धि करली जा सकती है। सत्संग, यात्रा, चर्या आदिके निमित्त चलना आवश्यक है, जिससे अवसर आनेपर उन जीवोंको आरामपूर्वक हटाया जा सके। ऐसी चीज मोरोंके पङ्खोंका समूह है। ये पंख जगलमें मोर खुद छोड़ देते हैं। इन पंखोंकी बंधी हुई पिच्छिका कहलाती है।

यदि ध्यान व तपमें ही कोई लीन हो जावे तो उसे पुस्तककी कोई आवश्यकता नहीं। यदि कोई आहार नीहार करे ही नहीं तो उसे कमण्डलुका कोई आवश्यकता नहीं। यदि कोई एक स्थानमें एक आसनसे ध्यानमें लीन हो जावे और उससे विचलित न होवे तो उसे पिच्छिकाकी कोई आवश्यकता नही।

इस प्रकार निरारम्भ व निष्परिग्रह एवं आत्मसाधक साधु पुरुषोंका ध्यान आत्मस्वभावकी सिद्धिमें रहता है। आत्माका स्वभाव तो अभेदविवक्षामें अखण्ड चैतन्यस्वरूप ही कहा जा सकता है, भेद विवक्षामें सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र रूप है। ऐसे स्वभावकी सिद्धिके लिये आचरण भी सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र रूप हो सकता है। अतः साधुकी वृत्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप होती है। इसको ही रत्नत्रय कहते हैं। अतः संक्षिप्त शब्दोंमें कहा जाय कि साधुका धर्म क्या है तो उत्तर होता है—रत्नत्रय। साधुका धर्म रत्नत्रय धर्म है।

सम्यग्दर्शनके कारण साधुका श्रद्धान आत्मस्वरूपमें व परमात्मस्वरूपमें व परमात्मत्वप्राप्तिके उपायमें अविचल होता है। साधुके यह स्पष्ट रहता है कि आत्मा समस्त पर पदार्थोंसे अत्यन्त पृथक् है, आत्मा औपाधिक भावोंसे भिन्न

है, आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, सब आत्मा एक सदृश चैतन्यस्वभावी है। साधुके यह स्पष्ट रहता है कि परमात्मा वह पावन आत्मा है जो परम ब्रह्म चैतन्यस्वभावके अनुरूप विकसित है; परमात्मा सर्वज्ञ, वीतराग एवं निर्दोष है। साधु परमात्मत्वकी प्राप्तिके उपायमें भी निर्भ्रान्त है। उसके यह स्पष्ट रहता है कि जैसा आत्माका निरपेक्ष स्वभाव है उसकी ही प्रतीति, उसका ही उपयोग और उसके ही अनुकूल आचरण ही परमात्मत्व की प्राप्तिका उपाय है।

साधुकी चर्या ज्ञान, ध्यान व तपकी वृत्तिसे परिपूर्ण रहती है। इन तीनमें सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। ज्ञानमें न रह सके तब ध्यान है। ध्यानमें भी न रह सके तब तप है। केवल ज्ञाता रहना अर्थात् पदार्थके सिर्फ जानकर रहना; पदार्थके सम्बन्धमें राग द्वेष न होना इस परिणतिको ज्ञानपरिणति कहते हैं। पदार्थोंको आत्माके यथार्थस्वरूपके चिन्तवनमें नाना प्रकारोंसे लगना सो ध्यानपरिणति है। अनशन, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश—इन बाह्यतपोंमें लगना व प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग व ध्यान—इन अन्तरङ्ग तपोंमें प्रवृत्ति करना सो तपकी परिणति है।

साधु पुरुष कभी भी निदानभाव नहीं करता अर्थात् साधु न तो इस लोकमें आराम, प्रतिष्ठा, इज्जत, पद मिले ऐसा भाव करता है कि मैं परलोकमें उच्चपदी, अहमिन्द्र इन्द्र, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि होऊं। सांसारिक बातकी चाह जहां होती है वहां साधुता नहीं रह सकती। साधुके तो धर्मके बाह्य साधनभूत नरजन्म उत्तमसंहनन धर्मिकुल आदिकी प्राप्तिकी ओर भी दृष्टि नहीं रहती। इसका कारण यह है कि साधु अर्थात् जो आत्माको साधने के लिये तत्पर हुआ है, उसकी यह अविचल प्रतीति है कि मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं इसके उपयोगसे ही चैतन्यका शुद्ध विकास है।

साधुके ध्यानमें यह वृहत् परिमाण वाला लोक और असीम कालका यथोचित सीसामें चित्र आ जाता है, जिससे उसकी यह धारणा बनी रहती है कि इस जीवने असंख्यातों योजनों वाले इस लोकके प्रत्येक प्रदेशपर जन्म धारण किया है व मरण किया है तथा यथासंभव स्थानोंमें बड़ा बड़ा ठाठ बनाया है, किन्तु आज कुछ भी तो साथ नहीं है। अब न मुझे परिचित स्थानपर प्राप्त

समागमका क्या हर्ष या संतोष करना। वस्तुतः मेरा परमाणुमात्र भी नहीं है। अनादि अनन्तकालमें इस आयु या परिचयवाला कुछ वर्षका समय क्या है? जन्म मरण करते करते व अनेकों परिचय करते करते अनन्तकाल बीत गया है। यह समय तो कुछ गिनतीमें भी नहीं, यह तो अभी ही शीघ्र बीता जानेवाला है। कितने समयका क्या सोचना है। सभी विकल्पों। हट जावो। साधुके इस प्रकार यथार्थ मर्म ध्यानमें बना रहता है, इस कारण साधुकी वृत्ति निर्विकल्प रहनेकी होती, जब निर्विकल्प न रह सके आत्ममननकी वृत्ति होती तथा अन्य प्रकारसे भी चिन्तवन चलता है, किन्तु किसी भी चिन्तवनमें मोह व आसक्ति नहीं उत्पन्न होती।

विषयकषायोंपर विजय प्राप्त करके सुख दुःखमें, प्रशंसा निन्दामें, जीवन मरणमें, लाभ अलाभमें, वन भवनमें सर्वत्र समता रखना साधुधर्म है।

साधु पुरुष प्रत्येक समागमसे विरक्त रहते हैं। बाह्य पदार्थोंसे विरक्त रहने की बात तो दूर रहो वहांसे तो विरक्त ही हैं, किन्तु आत्मभूमिमें उत्पन्न हुए राग द्वेषादिभावोंसे भी विरक्त रहते हैं तथा राग द्वेषादि भावोंसे तो विरक्त होते ही हैं, आत्मभूमिमें उत्पन्न हुए सद्विचारोंसे भी विरक्त रहते हैं। निःशङ्कितपना, निर्वाञ्छकता, ग्लानि न करना, सत् देव शास्त्र गुरुमें ही भक्ति रखना, अपनी प्रशंसा नहीं करना, परका अपवाद नहीं करना, धर्मसे, च्युत होते हुए पुरुषोंको अनेक सदुपायोंसे धर्ममें स्थिर करना, धर्मात्मावोंमें निष्कपट वात्सल्य करना, ज्ञान तप आदि सुविधावोंसे धर्मकी प्रभावना करना आदि सम्यक् आचारोंको करते हुए भी यह भावना रखते हैं कि ये सब प्रवृत्तियां मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं कब निष्क्रिय शुद्ध स्वभाव परिणमनरूप रहूं। इसी प्रकार वे सम्यग्ज्ञानवर्द्धक एवं सम्यक्चारित्रादिवर्द्धक अनेक प्रकारके ज्ञानार्जन विधियोंमें व तपस्यावों आदिमें बसकर भी उन सब प्रवृत्तियोंसे, आचारोंसे विरक्त रहते हैं क्योंकि उनको यही भावना रहती है कि मैं तो अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, इस मेरेका कार्य तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रूप बने रहनेका है, उक्त विविध सदाचारोंके भाव भी मेरे स्वभाव नहीं है। साधु पुरुष ऐसी अन्तर्भावना रखकर व यथासमय इस अन्तर्भावनाके अनुरूप निर्विकल्प भावका

अनुभव करके भी उक्त सदाचारोंमें तब तक वृत्ति करते रहते हैं जब तक कि उन सदाचारोंके प्रसादसे उन सब प्रवृत्तियोंसे भी मुक्त होकर पूर्ण शुद्ध नहीं हो जाते।

ऐसे निज परमब्रह्म परमात्माके अद्वैतस्वरूपके उपासक साधुजन ही अन्य जीवोंके कल्याण अर्थात् सत्य शाश्वत शान्तिके मार्गमें लगनेके निमित्त-कारणभूत हैं। ऐसे साधुपुरुषोंको हमारा नमस्कार है।

६२–साधुमूलाचार

साधुकी साधुताकी पहिचान करना कठिन बात है अथवा साधु जैसे ही पुरुष विशेष समागम होनेपर किसी साधुकी साधुताका अनुमान कर सकते हैं तो भी कुछ बाह्य प्रवृत्तियां अवश्य होती हैं जो साधुताके होनेपर होना ही पड़ती हैं। उन्हीं प्रवृत्तियोंका संक्षेप करके जो आवश्यक प्रवृत्तियां हैं उनका वर्णन किया जाता है। इन्ही प्रवृत्तियोंको "साधुवोंके मूल आचरण" शब्दसे भी कहा जाता है।

साधुवोंके मूल आचरण २८ कहे गये हैं—(१) अहिंसा महाव्रत, (२) सत्य महाव्रत, (३) अचौर्य महाव्रत, (४) ब्रह्मचर्यमहाव्रत, (५) परिग्रहत्याग महाव्रत, (६) ईर्यासमिति, (७) भाषासमिति, (८) ऐषणासमिति, (९) आदाननिक्षेपण समिति, (१०) प्रतिष्ठापना समिति, (११) स्पर्शनेन्द्रियरोध, (१२) रसनेन्द्रियरोध, (१३) घ्राणेन्द्रियरोध, (१४) चक्षुरिन्द्रियरोध, (१५) श्रोत्रेन्द्रियरोध, (१६) केशलुञ्च, (१७) समता, (१८) वन्दना, (१९) स्तुति, (२०) प्रतिक्रमण, (२१) स्वाध्याय, (२२) कायोत्सर्ग, (२३) आचेलक्य, (२४) अस्नान, (२५) भूमिशयन, (२६) अदन्तधावन, (२७) स्थिति-भोजन, (२८) एकभक्त।

(१) अहिंसा महाव्रत—सर्वजीवोंके प्रति दयाशीलता होना, किसी भी जीवकी हिंसा न करना और इसी निमित्त समस्त आरम्भोंको त्याग देना सो अहिंसा महाव्रत है। राग द्वेषादि भावोंका होना ही वस्तुतः हिंसा है। साधु

पुरुष राग द्वेषादि भावोंसे भी बचते रहते हैं। वे किसी भी जीवका अनिष्ट नहीं सोचते। कोई दुर्भाववाला उनपर कोई उपसर्ग भी करे, उन्हें किसी भी प्रकारकी पीड़ा भी दे, किन्तु साधुपुरुष न तो प्रतीकार ही करते हैं और न उसका अनिष्ट ही सोचते हैं। साधु ही सच्चे अहिंसक हो सकते हैं। यह अहिंसापालन साधुका प्रथम मूल आचार है।

(२) सत्यमहाव्रत—जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, ऐसा वचन बोलना, भगवत्परम्परागत कल्याणमार्गके विरुद्ध वचन न बोलना, आगमानुकूल वचन कहना, सच बोलना सो सत्यमहाव्रत है। सत्यवचनवक्तामें प्रामाणिकता लाता है। सत्यवचन व्यवहारसे आत्मा कभी उद्वेगका पात्र नहीं होता। वचन ही एक ऐसी चीज है जिससे आत्माके भले करे आशयोंका अनुमान होता है। साधुवोंका वचन सत्य ही निकलता है। यह सत्यमहाव्रत साधुवोंका मूल आचरण है।

(३) अचौर्यमहाव्रत—जिस अन्तरात्माने सर्वपरिग्रहत्याग करके शिवमय निज आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिये ही सर्व यत्न किये, उसे किसी बाह्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं है। वह तो कर्मोदयवश होनेवाले विकल्पोंसे भी विरक्त रहता है। ऐसा साधु किसी स्थितिमें किसी भी प्रकारकी चोरी करने का विकल्प भी नहीं करता। ऐसे परम योगियोंके अचौर्यव्रत सहज ही निभता रहता है। यह अचौर्यव्रत साधुवोंका मूल आचरण है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—जो अन्तरात्मा केवल निज परम ब्रह्मस्वरूप में ही रमण करना चाहता हो और यथाशक्ति इस चैतन्यस्वरूपके उपयोग व ध्यानमें लगा करता हो, वह असार मैथुनके भावका विकल्प भी करता हो यह असंभव बात है। वह सब प्रकारके कामभावसे विरक्त होकर निजब्रह्ममें ही आचरण करता है। ऐसे साधुके इस पवित्रभावको ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहते हैं। यह साधुवोंका मूल आचरण है।

(५) परिग्रहत्याग महाव्रत—जिस ज्ञानी योगीके सदा यह नजरमें रहता है कि मेरा आत्माका मात्र यही आत्मा है और यही मैं मेरे लिये शरण हूं, हित हूं तथा साथ ही सर्वसे परम उपेक्षा करके एक निज परमब्रह्ममें ही

जिसने उपयोग लगाया है ऐसे साधुके सबही परिग्रहोंका त्याग रहता है। ये परिग्रहभूत पदार्थ पर हैं। इन्हें न कोई आत्मा ग्रहण करता है और न छोड़ता है। केवल मोही जीव तो पदार्थोंका आश्रम करके विकल्प बनाता व ज्ञानी जीव पदार्थपरिणमनोंका मर्म जानकर विकल्पका त्याग करता। विकल्पोंका त्याग करना व इस त्यागके परिणामस्वरूप परिग्रहसे दूर रहना सो परिग्रह-त्याग महाव्रत है। यह परिग्रहत्याग महाव्रत साधुवोंका मूल आचरण है।

(६) ईर्यासमिति—साधु यदि विहार करते हैं तो पवित्ताके उद्देश्यको लेकर पवित्र भावोंसहित दिनमें चार हाथ आगे जमीन देखकर अर्थात् जीवोंकी हिंसा बचाकर विहार करते हैं। यह साधुके दयालुता व धीरताका परिणाम है। इसे ईर्यासमिति कहते है। ईर्यासमिति साधुवोंका मूल आचरण है।

(७) भाषासमिति— हितकारी, परिमित व प्रिय वचन बोलनेको भाषासमिति कहते हैं। सत्यमहाव्रत में तो अधिक भी बोला जा सकता था, किन्तु भाषासमितिमें सत्य बात तो है ही साथही परिमित अर्थात् कमसे कम बोलना भाषासमितिमें होता है। भाषासमितिके प्रसादसे साधु निरूपद्रव कल्याणमार्गमें बढ़ लेता है। भाषासमिति भी साधुवोंका मूल आचरण है।

(८) ऐषणासमिति—जिन अन्तरात्मावोंके निराहार चैतन्यस्वभावकी उपासना रहती है उनके आहारकी इच्छा नहीं होती तथापि कर्मोदयवश आहार करना पड़ता है सो निर्दोष आहार ही लेना तथा भक्तिपूर्वक हो तभी लेना, दैन्यभावसे नहीं लेना सो ऐषणासमिति है। यह भी साधुवोंका मूल आचरण है।

(९) आदाननिक्षेपण समिति— पुस्तक, कमण्डलु, पीछी आदि उठाते या धरते समय जीव जन्तुरहित स्थान व वस्तु देख लेना, जिससे जीवहिंसा न हो सके, ऐसी सावधानीपूर्वक वस्तु धरना उठाना सो आदाननिक्षेपण समिति है। यह भी साधुवोंका मूल आचरण है।

(१०) प्रतिष्ठापनासमिति— निर्जन्तु प्रासुक स्थानपर ही मल, मूत्र, नाक, थूक आदिका क्षेपण करना जिससे हिंसा न हो सके, ऐसी सावधानीको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं। यह भी साधुवोंका मूल आचरण है। आगे

कहे जाने वाली १८ बातें भी मूल आचरण है।

(११) स्पर्शनेन्द्रियरोध—कामविकार उत्पन्न न होने देना, शीत व उष्णकी बाधा होनेपर भी उष्ण व शीतस्पर्शका यत्न न करना सो स्पर्शनेन्द्रियरोध है।

(१२) रसनेन्द्रियरोध— पुष्ट मधुर आदि रसोंके सेवनका राग न होने देना सो रसनेन्द्रियरोध है।

(१३) घ्राणेन्द्रियरोध— सुगन्ति पदार्थोंके गन्ध लेनेका राग न होने देना सो घ्राणेन्द्रियरोध है।

(१४) चक्षुरिन्द्रियरोध— सुन्दर रूपोंके अवलोकनका राग न होने देना सो चक्षुरिन्द्रियरोध है।

(१५) श्रोत्रेन्द्रियरोध— रागभरे शब्द गायन आदि सुननेका राग न होने देना सो श्रोत्रेन्द्रियरोध है।

(१६) केशलुञ्च— दो या तीन या चार माहमें केशोंको मूंछ दाढ़ी व शिरके बालोंको उखाड़कर अलग कर देनेको केशलुञ्च कहते हैं। निष्परिग्रह व निर्ममत्व साधुको नाई आदिसे बाल बनवानेका या खुद उस्तरा वगैरहसे बना लेने का भाव ही नहीं होता है। केशलुञ्चमें स्वाधीनता, निर्ममता, ब्रह्मचर्य आदिका प्रकाश होता है।

(१७) समता—सुख दुःख, प्रशंसा निन्दा, लाभ अलाभ, भवन वन आदिमें सर्वत्र समताभाव रखना सो समता है।

(१८) वन्दना— किसी तीर्थङ्कर अथवा केवलीका वन्दन, नमस्कार करनेको वन्दना कृति कहते हैं।

(१९) स्तवन—परमात्माके गुणोंका, स्वरूपका भक्तिपूर्वक स्तवन, कीर्तन करनेको स्तवन कृति कहते हैं।

(२०) प्रतिक्रमण—लिये हुए व्रतोंमें किसी प्रकार दोष लगनेपर उसका प्रायश्चित्त लेनेको प्रतिक्रमण कहते हैं।

(२१) स्वाध्याय—ज्ञानवृद्धि व ज्ञानोपासनाके अर्थ शास्त्रोंको वाचना, किसी तत्त्वके बारेमें पूंछना, किसी तत्त्वका बार-बार मनन करना, किसी

ज्ञानप्रकरणको याद करना, धार्मिक उपदेश करना या सुनना –ये सब स्वाध्याय हैं। स्वाध्यायमें स्व याने आत्माका अध्याय याने मनन प्रधान है।

(२२) कायोत्सर्ग--शरीर आदि समस्त उपधियोंका ममत्व छोड़ना व ममत्व छोड़कर ध्यानमें लीन होना सो कायोत्सर्ग है।

(२३) आचेलक्य—आरम्भ व परिग्रहके पाससे मुक्त होनेके लिये समस्त परिग्रहोंके त्यागके साथ वस्त्रका भी त्याग कर देना व यथाजात बालककी तरह नग्न रहना सो आचेलक्य है। वस्त्रके रखनेमें धोना, संभालना, सुखाना, सीना, चिंता करना, विकार छिपाना आदि अनेक दोष होते हैं। इसलिये नग्न रहना साधुवोंके मूल आचरण हैं।

(२४) अस्नान—स्नान नहीं करनेको अस्नान कहते हैं। साधुपुरुष शरीरकी सेवा संवारमें रुचि नहीं रखते तथा शरीरके स्नानमें शीतल जलसे नहायें तो जल कायकी विराधना व गर्म जलसे नहायें तो पृथ्वीपर त्रसकाय तककी विराधना हो जाती है एवं शरीरके शृङ्गारसे पदके अयोग्य राग आता है। अतः साधुपुरुष स्नान नहीं करते, केवल चर्याके समं हस्त, पैर व शिर धोकर आहार चर्या करते हैं। कदाचित् हिंसक पुरुष आदिसे स्पर्श हो जाय तो मात्र दंडस्नान करते हैं अर्थात् खड़े होकर शिरपर धारा डाल लेते है।

(२५) भूमिशयन—भूमिपर लेटकर अल्प निद्रा ले लेनेको भूमिशयन कहते है। किसी तखत आदिपर लेटनेकी आदतमें परतन्त्रता है, परिग्रहका भार हो जाता है। अतः साधुजन भूमिपर सोकर अल्पनिद्रा ले लेते हैं। बीमारी आदि अवस्थामें कदाचित् काष्ठ, तृण आदिकी शय्याका भी उपयोगकर लेते है।

(२६) अदन्तधावन—दातौन, मंजन आदिसे दन्तोंको संवारनेके त्यागको अदन्तधावन कहते हैं। साधुपुरुष आहारके अनन्तर ही जलसे अंगुलि द्वारा दांतोंको साफ कर लेते हैं ताकि उसके मैलमें सम्मूर्च्छन जीव न हो जाय जिससे हिंसा न हो। इसके सिवाय दांतोंको स्वच्छ चमकदार रखने आदिका कोई प्रयोजन नहीं। अतः साधुजन दातौन, मंजन आदिसे दांतोंको नहीं

संवारते हैं।

(२७) स्थितिभोजन—खड़े रहकर व हाथ ही में भोजन लेनेको स्थिति-भोजन कहते हैं। खड़े रहकर आहार ग्रहण करनेमें साधुके अनेक प्रयोजन हैं; जैसे—अनात्मीय इस कार्यमें अधिक समय न लगने देना, अपने आप अल्प आहार रह जाना, गृहस्थको अनेक आडम्बरकी दिक्कत न रहना आदि।

(२८) एकभक्त—दिनमे एक बार ही आहार जल ग्रहण करनेको एक-भक्त कहते हैं। जिस दिन साधु आहार ग्रहण करना उचित समझें उस दिन वे मात्र एक बार ही गृहस्थके चौकेमें विधिपूर्वक आहार ग्रहण करते है। शरीरकी स्थितिके लिये दिनमें एक बार का आहार ही पर्याप्त होता है। इससे अधिक आहार लेनेमें लोलुपता, प्रमाद, स्वच्छन्दता, व्यासङ्गता आदि अनेक दोष हो जाते है। साधुजन तो निराहार निज परम ब्रह्मस्वरूपकी उपासनामें यत्नशील होते हैं। यह एक बारका आहार भी वे विडम्बना समझते हैं। फिर भी संयमके वाह्य साधनभूत शरीरकी स्थितिके लिये जिस दिन वे आहार ग्रहण करना उचित समझते हैं। दिनमें एक बार ही स्वयं चर्यासे जाकर भक्तिवान् श्रावक विनयपूर्वक प्रार्थना करे तो उसके यहां आहार ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार उक्त २८ आचरण साधुओंके मूल आचरण हैं। उत्तर आचरण अर्थात् इससे भी विशेष विशेष तप करना इन २८ मूल आचरणोंका विस्तार है। साधुका परिचय उक्त २८ मूल आचरणोंसे प्राप्त होता हैं। यदि उनमें शिथिलता होती है तो उससे उनके अन्तरङ्गकी मलीमसता विदित होती है और जो अन्तरङ्गमें मलिन हैं वे साधु कैसे हो सकते हैं? किसी किसी असाध्य परिस्थितिमे किसी मूलआचरणमें शिथिलता भी हो जाती है तो भी वह शिथिलता कुछ समयके लिये ही होती है और वह अन्य महासाधुके आदेशसे होती है। अतः ऐसी स्थितिमें भी वे साधु कहलाते है, किन्तु स्वच्छन्दता-पूर्वक शिथिलता आवे तो वहां साधुता नहीं रहती। अतिविरक्त, ज्ञानी, ध्यानी, तपोलीन, निरारम्भ, निष्परिग्रह साधु जनताके सत्य—उपकारक हैं। वे

अपनी मुद्रासे, उपदेशसे जनताके उपकारक होते रहते हैं। ऐसे साधुवोंका जहां वास हो वह तीर्थ है, जहां पग पड़ें वह तीर्थ है। ॐ नमः सत्त्वहितङ्कराय साधवे नमः।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

६३–परमेष्ठित्व

साधुजन स्वयं परमेष्ठी हैं तथा जब अभेद आत्मोपासनाके बलसे परम आत्मसिद्धि पा लेते हैं तब उन आत्मावोंके विशेषतया परमेष्ठित्व प्रकट हो जाता है। परमेष्ठी उसे कहते हैं जो परमपदमें स्थित हो। परमेष्ठी पांच प्रकारके होते हैं—(१) सशरीर परमात्मा, (२) अशरीर परमात्मा, (३) साधुनायक, (४) पाठक साधुव (५) साधु।

कोई गृहस्थ पुरुष वस्तुस्वरूपके यथार्थ अवगम व भेदविज्ञानके दृढतर अभ्यासके कारण जब बाह्यविषयोंसे विरक्त हो जाता है, जिससे वह किसी साधुनायकके समीप जाकर सर्वपरिग्रहत्यागमय साधुदीक्षाकी प्रार्थना करता है। साधुनायक भी उसकी पात्रता देखकर साधुदीक्षा दे देता है। वह महापुरुष जिसने कि सर्वपरिग्रहका त्याग किया तथा ज्ञान ध्यान व तपस्या में लीन रहने का संकल्प किया, वह पुरुष साधु परमेष्ठी कहलाता है। साधुका क्या धर्म है और मूल आचरण क्या है? यह विषय साधुमूलाचार नामक प्रकरणमें आ चुका है। साधुपुरुषको किसी भी लौकिक बातका रंच भी प्रयोजन नहीं रहता है। वे केवल आत्मार्थी होते हैं। अतश्च साधुकी अहोरात्रचर्या समाधिभावपोषक रहती है जो कि शान्तिका सत्यमार्ग है। इसी कारण साधुपुरुष अन्य लोगोंके लिये आदर्शरूप हैं, अनुकरणीय हैं, वन्दनीय हैं। इसी हेतु वे परमेष्ठी कहलाते हैं।

इन्हीं साधुवोंमें जो साधु बहुज्ञानी हैं व जिनके हृदयमें जीवोंके प्रति ज्ञानमय सत्यमार्गके उपायसे उनके दुःख दूर होने की भावना भी रहती हैं; वे साधु साधुनायक द्वारा "पाठक" संज्ञासे उद्घोषित होते हैं। ऐसे साधु "पाठक

साधु" कहलाते हैं। जिनका अपरनाम "उपाध्याय" है। उपाध्याय परमेष्ठी साधुवोंकी भांति आत्मार्थी होते है और उनकी अहोरात्र चर्या भी साधुवोंकी भांति होती है। केवल यह विशेषता है कि उपाध्याय परमेष्ठी किसी योग्य-वेलामें साधुवोंको पढ़ाते है, शिक्षा देते हैं।

साधुनायक जिस योग्य साधुको अन्य सब साधुवोंकी सम्मति देखकर साधुनायक बनाते हैं अथवा सब साधु मिलकर जिस योग्य साधुको साधुनायक बनाते है वे साधुनायक परमेष्ठी कहलाते हैं। साधुनायक बनने योग्य पुरुष ऐसा होता है जिसका जन्म व पोषण धर्माचारके वातावरण वाले देशमें हुआ हो, जिसके कुल परम्परामें भी यथायोग्य धर्माचरण होता चला आया हो, जिसके जीवनमें पूर्वकाल में भी पाप व अन्याय न हुआ हो, जिसकी वाय अवस्था योग्य हो आर्थात् जो न तो बाल हो, न वृद्ध हो और न विकार-वाली जवानो वाला हो। जो वास्तविक करुणासे पूरित हो तथा जो आत्मार्थी, विरक्त और तपस्याओंके करनेमें प्रबल हो। ऐसा साधु साधुनायक होनेके योग्य होता है। साधुनायकका तप, संयम साधु व उपाध्यायके समान ही होता है। इसके अतिरिक्त साधुनायकमें ८ गुण विशेषतया अधिक पाये जाते हैं—(१) आचार, (२) आधार, (३) व्यवहार, (४) प्रकार, (५) आयापाय-दर्शन, (६) उत्पीडन, (७) अपरिश्राविस्व, (८) निर्यापन। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्यसम्बन्धी आचारका दृढ़तासे पालन करनेको व अन्य शिष्योंको आचारोंमें स्थिर करने को आचार गुण कहते हैं। शास्त्रोंका विशेष ज्ञान व आधार होनेको आधारगुण कहते हैं; आधार गुणके प्रतापसे ही शिष्योंका प्रत्येक परिस्थितियोंमें सम्यक् आत्मपोषण किया जा सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, परिणाम आदि को देखकर जिस प्रकार शिष्यके परिणाममें उज्जवलता बढ़े उस प्रकार विधिपूर्वक प्रायश्चित्तादि देनेकी सामर्थ्यको व्यवहारगुण कहते हैं। किसी रोगी वृद्ध आदि साधुकी सेवा अन्य साधुओं द्वारा होनेपर भी स्वयं उस साधुकी सेवा टहल करनेको प्रकार गुण कहते है; ऐसे प्रकर्ता आचार्यदेवके रहते हुए सेवा योग्य विधि से होती है तथा अन्य साधुवोंको इस वैयावृत्य तपके करनेमें उत्साह मिलता

है। धर्मपरिणाममें शिथिलता लानेवाले साधुको उपदेशादि द्वारा धर्मकी रक्षा व पालनामें लाभ और धर्मसे गिरनेमें हानि (अपाय) दिखा देने, विश्वास करा देनेको आयापायदर्शन कहते हैं। कोई साधु अपना दोष प्रकट करनेमें लज्जा या भ्रम करके ठीक ठीक आलोचना न कर सके, उसे उत्तम उपदेश देकर विश्वास उत्पन्न करके अथवा हानिप्रदर्शन करके व भय दिखाकर आदि उपायोंसे उसके दोष उसके मुखसे उगलवा देनेके सामर्थ्यको अवपीडन गुण कहते हैं। किसी साधुके आलोचित दोषको प्रकट नहीं करनेको अपरिश्रावित्व कहते है। उपद्रव व विघ्नोंको टालकर शिष्यको संसार-समुद्रके पार कर देनेको निर्यापन कहत हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी उक्त आठ गुणोंसे संपन्न होते हैं। ये साधुनायक परमेष्ठी कहलाते हैं।

उक्त तीनों प्रकारके साधुवोंमें से कोई साधु जब कभी परम निर्विकल्प समाधिके बलसे क्षीणकषाय हो जाते हैं, तब उनमें ऐसा आत्मबल प्रकट होता है कि जिसके निमित्तसे ज्ञान, दर्शन व शक्तिके निरोधके निमित्तभूत ज्ञानावरण दर्शनावरण व अन्तराय इन शेष घातियाकर्मोंका भी क्षय हो जाता है और उसी समय केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व), केवलदर्शन (सर्वदर्शित्व) तथा अनन्तवीर्य प्रकट हो जाते हैं, तब यही आत्मा परमात्मा हो जाते हैं। इनके जब तक शरीर रहता है तब तक ये सकल परमात्मा कहलाते हैं। सकल परमात्मा, सगुणब्रह्म जिन, अरहंत, जिनेन्द्र आदि नाम एकार्थवाचक हैं। ये सकल परमात्मा अरहंत परमेष्ठी कहलाते है। इनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। इसका कारण शरीर की परम स्वच्छताका होना है। जहां ये होते हैं उसके चारों ओर चार सौ चारसौ कोश तक सुभिक्ष रहता है अर्थात् रोग, मरी, अकाल आदि नहीं होते। इनका विहार पृथ्वीसे ऊपर आकाशमें होता है। भगवान्के चारों तरफ बैठते आनेवालोंको भगवान्का मुख दीखता है इसका कारण भी शरीरकी स्वच्छता एवं परमातिशय है। भगवान्पर कोई किसी प्रकारका उपसर्ग नहीं कर सकता। ये परमेष्ठो भोजन नही करते, क्योंकि इनके ऐसा ही अनन्तबल प्रकट हुआ है कि भोजनकी आवश्यकता नहीं है और मोह, इच्छाका अत्यन्त अभाव है। इस लिये किसी प्रकार भी ऐसी प्रवृत्ति संभव नहीं है। इनके शरीरके नख व केश

नहीं बढ़ते। यदि वृद्ध मुनि भी अरहन्त हो जावें तो उनका शरीर भी सब प्रकारसे वलिष्ठ, पुष्ट एवं मनोरम हो जाता है। भगवान्के नेत्रोंकी पलक नहीं झपकती, क्योंकि उनमें कोई अशक्ति नहीं होती। इत्यादि अन्य भी अनेकों अतिशय होते हैं। देवेन्द्र, देव, नरेन्द्र, नरवृन्द, गजेन्द्र, पशु, पक्षी आदि सभी प्रधान प्राणी भगवान्के चरणोंमें नमस्कार, विनय, पूजा करते हैं।

अरहत परमेष्ठीके जब आयु तो थोड़ी रह जाती है और शेष कर्म अर्थात् वेदनीय, नाम व गोत्र कर्मकी स्थिति ज्यादह रहती है तब स्वयं ही समुद्घात होता है; इसे केवलिसमुद्घात कहते हैं। शरीरको न छोड़कर शरीरसे बाहर आत्माके प्रदेशोंके फैलनेको समुद्घात कहते है। केवलिसमुद्घातमें पहिले समय तो दण्डाके आकार ऊपर नीचे प्रदेश फैल जाते हैं जहां तक लोक है वहां तक, केवल वातवलयमें अभी नहीं फैल पाते। दूसरे समयमे अगल बगलमें प्रदेश वातवलयको छोड़कर जहां तक लोक है वहां तक फैल जाते हैं, तीसरे समयमें आगे व पीछे जहां तक लोक हैं वहां तक फैल जाते है शेष उसके सिर्फ वातवलय में नही फैल पाते। इस तरह चारों ओरके वातवलयको छोड़कर सर्वत्र लोकमें उनके आत्मप्रदेश फैल गये। फिर चौथे समयमें जो वातवलय शेष था उसमें [illegible] पूरेमें आत्मप्रदेश फैल जाते हैं। इस समयमें लोकके एक एक प्रदेश पर आत्मा [illegible] एक एक प्रदेश रहते हैं। पांचवें समयमे सकुड़ कर तीसरे समयके बराबर आत्मप्रदेश हो जाते हैं। छटे समयमें दूसरे समयके बराबर आत्मप्रदेश होजाते है। सातवें समयमें पहिले समयके समान दंडाकार रह जाते हैं। आठवें समयमें शरीरप्रमाण हो जाते हैं। इतनी क्रियामें जैसे फैली हुई चादर जल्दी सूख जाती है वैसे ही शेष अघातियाकर्मकी स्थिति सूखकर आयुकर्मके बराबर होजाती है। पश्चात् क्रम क्रमसे योग भी सूक्ष्म हो जाते हैं व अनेकों नष्ट हो जाते हैं। अन्तमें सब योग नष्ट हो जाते हैं। अरहंत परमेष्ठीके अयोग हो जाने के अल्पअन्तर्मुहूर्तमें सब कर्म खिर जाते हैं।

समस्त कर्मोके क्षय होते ही शरीरसे मुक्त होकर वे परमात्मा ऋजुगतिसे एक समयमें ही लोकशिखरमें जा विराजमान होजाते हैं। इन्हें सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं। ये सदाके लिये शुद्ध ही रहेंगे। यह अवस्था सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। आत्माका सर्वोच्च परमपद यही है। ॐ नमः सिद्धाय।

६४—परमात्मत्वविकास

"घट घटमें परमात्मा मौजूद है" यह वचन लोकमें बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु वह परमात्मा घट घटमें कैसे बस रहा है? इस मर्मके जाननेवाले अतिविरल हैं। उक्त वचनमें यह तो स्पष्ट है कि "घट घट" शब्दसे जो वाच्य है वह अनेक है। "घट घट" नामकी रूढि शरीरमें है जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देहमें परमात्मा बसता है। उक्त वचनमें परमात्मा शब्द एक वचन है जिससे जाहिर होता है कि परमात्मा एक है जो घट घटमें बस रहा है। वह परमात्मा एक किस प्रकारका है, क्या जैसे यहां कोई पुरुष एक है, इस प्रकारसे पूरा एक वह परमात्मा है अथवा परमात्मत्वगुणकी जाति अपेक्षा अथवा स्वरूपकी अपेक्षा परमात्मा एक है ? यदि परमात्मा प्रदेशरूपमें सर्वत्र एक है तो पहिले तो यही बुद्धिवाह्य बात है कि फिर तो घट घटमें अधूरा अधूरा याने किसी किसी हिस्से हिस्सारूपमें परमात्माका कोई हिस्सा ही बस रहा होगा। परमात्मत्वगुण अथवा स्वरूपकी अपेक्षा एक कहनेपर देहमें तो परमात्मत्व गुण है नहीं, अतः यह जानना पड़ेगा कि देहमें जो जीव हैं उनमें परमात्मत्वस्वरूप है। जीव अनन्तानन्त हैं, उन सबमें शुद्ध चैतन्यशक्ति है। जिनके चैतन्यशक्तिका शुद्ध विकास है वे व्यक्त परमात्मा हैं और जिनके चैतन्यशक्तिका शुद्ध विकास नहीं हुआ, किन्तु औपाधिक मायारूपमें लीला हो रही है वे शक्तपरमात्मा हैं।

इस प्रकरणमें यह जानना है कि जीवोंमें परमात्मत्वविकास कैसे हो जाता है ? प्रत्येक जीवमें परमात्मत्वस्वभाव है जैसे कि स्फटिकमें स्वच्छत्व स्वभाव है। स्फटिकमें स्वच्छत्वस्वभाव तब तक अप्रकट है जब तक कि उसपर डाककी उपाधिके निमित्तसे होनेवाला प्रतिबिम्ब आवरणरूप है। इसी प्रकार आत्मामें परमात्मत्वस्वभाव तब तक अप्रकट है जब तक कि उसपर कर्मोदयादि की उपाधिके निमित्तसे होनेवाला रागादि विकल्प आवरणरूप है। डाक व प्रतिबिम्बका आवरण हटनेपर जैसे स्फटिककी स्वच्छता प्रकट हो जाती है, वह स्वच्छता कहीं बाहरसे प्रकट नहीं होती। स्फटिककी स्वच्छता है, स्फटिकसे प्रकट हुई है। इसी प्रकार कर्म व विकल्पका आवरण हटनेपर आत्माका

परमात्मत्वस्वभाव प्रकट हो जाता है। वह परमात्मत्व कहीं बाहरसे प्रकट नहीं होता; आत्माका स्वभाव है आत्मासे प्रकट हुआ है।

जैसे—कोई पुरुष ऋषभ भगवान्की मूर्ति बनवानेको एक उत्तम पाषाण लाया। वह कारीगरको बुलाकर कहता है कि भैया इसमें ऋषभदेवकी मूर्ति बनानी है, वह इस चित्र माफिक होनी चाहिये। कारीगर अच्छी तरह देखता है और उसे दिख जाती है वह मूर्ति जो पाषाणमें प्रकट होगी। उस पाषाण में कारीगरको मूर्ति स्पष्ट ज्ञात हो रही है। वह समझ रहा है कि मूर्ति इसमें मौजूद है, मूर्तिको कहींसे जोर जार कर नहीं बनना है, मात्र उसके आवारक पाषाणखण्डों को अलग करना है। कारीगर मूर्ति नहीं बनाता, किन्तु हथौड़ी छैनीसे मूर्तिके आवारक पाषाणखण्डोंको अलग कर देता है। मूर्ति जो थी वह प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा आपमें परमात्माका स्वरूप देखता है, उसे दिख भी जाता है वह प्रभु जो आपमें प्रकट होगा। इस संसार अवस्थामें रहते हुए भी अन्तरात्माको परमात्मा स्पष्ट अनुभवमें आ रहा है। वह समझ रहा है कि प्रभु यहां मौजूद है, इस प्रभुको कहीं बाहरसे नहीं लाना है और न कुछ जोर जारकर इसे तैयार करना है। मात्र प्रभुताके आवारक इन रागादि विभाव विकारोंका अलग करना है। अन्तरात्मा परमात्माका निर्माण नही करता, किन्तु ज्ञानकी हथौड़ी व छैनीसे परमात्मत्वके आवारक विकारोंको अलग कर देता है। प्रभु जो था वह प्रकट हो जाता है। इस तरह आत्मामें सहजज्ञानकी कलासे परमात्मत्वका विकास हो जाता है। यह सहजबोधकला परिचय मिल जानेपर अति सुगम है, परिचय न मिलनेपर अति दुर्गम है।

कोई पुरुष आत्मा व परमात्माको जुदा जुदा सोचते हैं, किन्तु आत्मद्रव्य भिन्न द्रव्य हो, परमात्मद्रव्य भिन्न द्रव्य हो ऐसा नहीं है। ज्ञान और आनन्दकी शक्ति व व्यक्ति रखनेवाले ये चेतन पदार्थ परिणतिभेदसे तीन प्रकारसे परिणमते हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। जब तक चेतन पदार्थ शरीर व अपने आपको एक मानता है, शरीरसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावमय अपने आपका परिचय नहीं प्राप्त करता तब तक बाहिरात्मा है। जब शरीरसे [illegible]न्न चैतन्यमात्र अपने आपकी अनुभूति कर लेता है तब वह अन्तरात्मा है

तथा जब इसी यथार्थ अनुभवकी दृढ़ताके बलसे सर्व विभावोंसे मुक्त होकर ज्ञान व आनन्दकी अनन्तताको प्राप्त कर लेते हैं तब परमात्मा कहलाते हैं। परमात्मा शब्दके निरुक्त्यर्थसे भी यही प्रकट होता है। 'परा मा लक्ष्मीर्विद्यते यत्र स परमः, परमश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा। उत्कृष्ट लक्ष्मी (लक्षण) अथवा विकास जहाँ होता है उसे परम कहते हैं और जो परम आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं।

परमात्मत्वविकासका सीधा उपाय यह है कि पहिले तो नाना दृष्टियों में आत्मा व अनात्माका ज्ञान करे, फिर नाना दृष्टियोंसे आत्माका विशेष निर्णय करे, जिससे कि यह स्पष्ट होजाय कि यह मैं आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि अनन्तगुणोंका पिण्ड हूं और मुझमें प्रत्येक शक्तिका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है; यथार्थतः मैं किसी परिणमनमात्र नहीं हूँ। ध्रुव हूँ और अनन्तशक्तियोंके अभेदस्वरूप स्वभावमात्र हूं! अनन्तर यह देखें कि परिणतियां शक्तियोंसे उत्पन्न होती हैं, इस दृष्टिमें परिणतियां शक्तिमें गर्भित होकर उपयोगमें शक्तियां रह जाती हैं। अनन्तर समस्त शक्तियोंका एक निज स्वभाव (चैतन्यमात्र) में गर्भित करे इस दृष्टिमें सब शक्तियां एक स्वभावमें गर्भित होकर उपयोगमें एक अभेद स्वभावरूप चित्स्वरूप रह जाता है। पश्चात् सहज ही यह निश्चयविकल्प भी दूर हो जाता है। इस क्षणकी शुद्धिका यह चमत्कार है कि सर्वमलोंका क्षय होने लगता है और परमात्मत्वका विकास होने लगता है। ॐ नमः मत् परमात्मने नमः। शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्म तत्त्वम्।

६५—पावन द्रव्य

यों तो अनाद्यनन्त पावन द्रव्य धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य है, किन्तु परमार्थ—(परमहित) दृष्टिमें निश्चयतः सर्वविकारोंसे सर्वथा रहित, ज्ञानादिगुणोंके पूर्णविकासरूप परमात्मदेव हैं। उन्हींके सम्बन्धसे अथवा स्थापनादिसे व्यवहारमें अन्य भौतिक स्कन्ध भी पवित्र माने जाते हैं।

उनमें प्रधान तो सकल परमात्मा (सगुण ब्रह्म) का दिव्यशरीर है जो कि निर्दोष एवं अतिशयसम्पन्न है और उसके पश्चात् विचार करनेपर पवित्र स्कन्ध वह मूर्ति प्रतीत होती है जिसमें परमात्माकी स्थापनाकी गई है अथवा जो अनादिसे अनन्तकाल तक अकृत्रिम वज्रमय स्थित है। परमात्मा निर्दोष, कृतकृत्य एवं परमशान्त होते हैं। ऐसी ही मुद्रा जिस मूर्तिमें मिले वह मूर्ति पावनद्रव्य है। यद्यपि निश्चयतः इन मूर्तियोंमें परमात्मा नही है तथापि साक्षात् परमात्माके शरीर-दिखने पर जो जो लाभ उठाये जा सकते है, वे वे लाभ स्थापनाबलसे इन मूर्तियोंसे उठाये जा सकते हैं। केवल दिव्योपदेश (दिव्यध्वनि) मूर्तियोसे नही मिलती अन्य सर्वलाभोंकी निमित्तकारण (आश्रय-भूत) मूर्ति अर्थात् भगवत्प्रतिविम्ब है।

चूंकि भगवान्की स्थापनाका उद्देश्य निर्दोषता, वीतरागता व कृतकृत्यता का सबक लेनेके लिये होता है, अतः भगवान्की स्थापना सदोष, सराग व विकल्पक पुरुषोंमें या बालकादिमें नहीं की जा सकती। पाषाणादिकी मूर्ति यद्यपि चेतन नही है तो भी वह राग, द्वेष, मायाचार, तृष्णा, इच्छा, विकल्प आदि अवगुण करनेमें समर्थ नही है। इसी कारण भगवन्मुद्राकी स्थापना पाषाणादिबिम्बमें की जाती है। इसको आश्रय करके हम अपनी अपनी योग्यता के अनुसार गुणदृष्टि करके परिणामको विशुद्धि कर सकते हैं। मूर्ति भी स्थापित तब होती है जब अनेक पुरुषों द्वारा विधिपूर्वक मन्त्र, भावना व क्रियाकलापसे, विधानोंसे विशुद्ध हो जाती है।

हमारे भावविशुद्धिके बननेके निमित्त होने योग्य मूर्ति इस प्रकार होती है— प्रभुमूर्ति ध्यानमुद्रामें होती है, इससे दर्शक यह शिक्षा ग्रहण करते हैं।कि एक सत्यध्यान ही सार है, ध्यानसे ही सिद्धि है। प्रभुमूर्ति शस्त्र, स्त्री, पुत्र, वस्त्र आदि समस्त परवस्तुओंके संगसे रहित होती है। इससे दर्शक यह शिक्षा ग्रहण करते है कि परवस्तुओंसे अत्यन्त भिन्न यह आत्मा है। इसका हित किसी भी परपदार्थसे नहीं है। परपदार्थको त्यागकर ज्ञानानन्दपुञ्ज निज प्रभुकी उपासनामें ही हित है।

प्रभुमूर्ति दो प्रकारकी होती हैं—(१) कृत्रिम, (२) अकृत्रिम। साधक व

साध्य अवस्था सम्बन्धी चरित्रका सम्बन्ध दिखाकर व उसकी मन्त्रविधिसे स्थापना करके जो मूर्ति पधराई जाती है वह तो कृत्रिम मूर्ति है और जो इस लोकमें अनादि अनन्त प्रभुमूर्तिके रूपमें वज्रमय पवित्र स्कन्ध पाये जाते हैं वे अकृत्रिम मूर्ति हैं। अकृत्रिम भगवद्विम्व देवों द्वारा व यथासंभव विद्याधरादि मनुष्यों द्वारा पूजित हैं, अनेको मूर्तियां भव्य पशु पक्षियों द्वारा भी पूजित हैं। अकृत्रिम भगवत्प्रतिविम्व लोकमें कहां कहां पाये जाते है ? इस पर कुछ प्रकाश होना यहां प्रासङ्गिक एवं आवश्यक है—

यह लोक तीन भागोंमें विभक्त है—(१) अधोलोक, (२) मध्यलोक व (३) ऊर्ध्वलोक। अधोलोक तो मेरुपर्वतकी जड़से नीचे है, मध्यलोक मेरुपर्वत की जड़से लेकर मेरुपर्वतके अन्त तक है। मेरुपर्वतके ऊपर लोकके अन्त तक ऊर्ध्वलोक है। अधोलोकमें ७ पृथिवियां हैं जिनमें नीचेकी ६ पृथिवियोंमें तो चैत्य नहीं है, ऊपरकी एक पृथिवीके तीन भाग है, जिसमें ऊपरके दो भागोंमें चैत्यभवन है। सो इन भागोंमें रहने वाले भवनवासी देवोके भवनोंमें ७७२००००० अकृत्रिम चैत्यालय है। प्रत्येक चैत्यालयमें १०८ अकृत्रिम भगवद्विम्व हैं। इन चैत्यालयोंका संक्षिप्त विवरण यह है—असुरकुमार देवोंके भवनोंमें ६४ लाख, नागकुमार देवोंके भवनोंमें ८४ लाख सुवर्णकुमार देवोंके भवनोंमें ७२ लाख, वायुकुमार देवोके भवनोंमें ९६ लाख, चैत्यालय है। विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, मेघकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार व दिक्कुमार इन देवोंके भवनोंमें छिहत्तर छिहत्तर लाख चैत्यालय है।

व्यन्तर देवोके आवास उन भागोंमें भी है और मध्यलोकमें भी अनेक स्थानोंपर हैं व्यन्तरोके भवनोंमें कुल, असंख्यात चैत्यालय है।

मध्यलोकमें द्वीपस्थानोंमें ४५८ अकृत्रिम चैत्यालय है। ये इस प्रकार है—ढाई द्वीपमे ५ मेरुपर्वत हैं, एक एक मेरुमें चार चार वन है, प्रत्येक वनमें चार चार अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार मेरुपर्वतोंपर ८० चैत्यालय है। प्रत्येक मेरुके पूर्व व पश्चिम भागमें विदेह क्षेत्र हैं, प्रत्येक विदेहक्षेत्रमे (१० विदेह के क्षेत्रोंमे) ८—८ वक्षार पर्वत हैं, प्रत्येक वक्षार पर एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार विदेह क्षेत्रोंमे ८० चैत्यालय हैं। प्रत्येक मेरुके चारों

दिशाओंमें एक एक गजदन्त है, प्रत्येक गजदंतोपर एक एक चैत्यालय है। इस प्रकार गजदंतोंपर ८० अकृत्रिम चैत्यालय है। प्रत्येक मेरुसम्बन्धी छह छह कुलाचल हैं उनपर एक एक अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इस प्रकार कुलाचलों पर ३० चैत्यालय हैं। प्रत्येक पर मेरुसम्बन्धी वैताढ्य पर्वत ३४-३४ हैं प्रत्येक पर एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार वैताढ्यसम्बन्धी १७० चैत्यालय हैं। प्रत्येक पर मेरुसम्बन्धी उत्तम भोगभूमि दो दो है उनमें एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार यहां १० चैत्यालय हैं। धातकी खंड द्वीपमें २, पुष्करार्द्ध में २ इष्वाकार पर्वत हैं, उनपर एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार इष्वाकार पर्वतपर ४ चैत्यालय हैं। नन्दीश्वद्वीपमें ५२, रुचकगिरिपर ४, कुण्डलगिरिपर ४ चैत्यालय हैं। इस प्रकार ये सब ४५८ चैत्यालय हैं। इनमें अकृत्रिम भगवत्-प्रतिबिम्ब हैं।

उर्ध्वलोकमें प्रथम स्वर्गमें ३२ लाख, ईशान स्वर्गमें २८ लाख, तीसरे स्वर्गमें १२ लाख, चौथे स्वर्गमें ८ लाख, पांचवे व छटे स्वर्गमें ४ लाख, सातवें व आठवें स्वर्गमें ५० हजार, नवमें व दशवें स्वर्गमें ४० हजार, ग्यारहवें व बारहवें स्वर्गमें ६ हजार, तेरहवें चौदहवे पन्द्रहवें व सोलहवें स्वर्गमें ७००, ग्रैवेयकोंमें ३०९, अनुदिश विमानोंमें ९ व अनुत्तर विमानोंमें ५ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इस तरह ऊर्ध्वलोकमें सब चैत्यालय ८४९७०२३ हैं। इनमें अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं। इन सब भगवद्बिम्बोंके समक्ष भव्यजीव वंदनाभक्ति करके पुण्यलाभ एवं कर्मनिर्जरा करते है।

९९–धर्मक्षेत्र

निश्चयतः धर्मक्षेत्र निज आत्मास्वरूप है, जहां धर्मका निवास है और जहांसे धर्म प्रकट होता है। व्यवहारतः जिस आत्मामें धर्मका विकास हुआ है वह आत्मा जिस देहमें है वह देह धर्मक्षेत्र है, तथा सिद्धपरमात्मा सिद्धक्षेत्र में विराजमान हैं, वह सिद्धक्षेत्र धर्मक्षेत्र है तथा सशरीर परमात्माका जब

जहां आवास है वह स्थान धर्मक्षेत्र है। इन सबके अतिरिक्त उन स्थानोंको भी धर्मक्षेत्र कहते है, जिन स्थानोंपर पुराणपुरुषों ने तप व आत्मसाधनाकी जिन स्थानोंपर उन्हें केवलज्ञान प्रकट हुआ, जिन स्थानोंपर उनका दिव्योपदेश हुआ व जिन स्थानोंसे उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

यद्यपि ऐसे स्थान ढाई द्वीपमें सर्वत्र हैं। केवल दिव्योपदेश सामूहिकरूपमें क्वचित् हुआ है, वह भी प्रायः विशालक्षेत्र है और इन्हीं कारणोंसे ढाई द्वीप व उसके भीतरके समस्त जलप्रदेश धर्मक्षेत्र हैं तथापि विशिष्ट पुराण पुरुषोंकी विशेष साधनामें जो स्थान प्रसिद्ध हुए, उनका कुछ दिग्दर्शन किया जाना प्रासङ्गिक है। ढाई द्वीपोंमें से ऐसे धर्मक्षेत्र केवल आजकल इस जम्बू द्वीपके भरतक्षेत्रमें स्थित आर्यखण्डके मध्य बसे हुए इस भारतवर्षमें ही विदित हो रहे हैं। हैं तो ऐसे धर्मक्षेत्र ढाई द्वीपोंमें सर्वत्र, परन्तु आजकलकी धारणा-की सीमाके अनुसार यहांके ही कुछ धर्मक्षेत्र विदित हैं।

(१) श्री सम्मेदशिखर जी (बिहार प्रान्त)–इस भूमिपर अनन्त तीर्थङ्करों ने एवं अनन्त मुनिराजोंने आत्मसाधनाकी एवं निर्वाण प्राप्त किया। इस वर्तमानके बीते हुए चतुर्थकालमें बीस तीर्थङ्करोंने यहांसे निर्वाण प्राप्त किया एवं अनेकों करोड़ मुनिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(२) पावापुर (बिहारप्रान्त)—इस स्थानसे वर्तमानके अन्तिम तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामीने निर्वाण प्राप्त किया एवं अनेकों मुनिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(३) मंदारगिरि— यहां बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्य भगवान्ने तथा अनेक ऋषियोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(४) गिरनार—यहांसे बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी (श्रीकृष्ण नारायणके चचेरेभाई) शंबुकुमार, प्रद्युम्नकुमार आदि अनेक ऋषियोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(५) कैलाश—यहांसे आदि तीर्थङ्कर भगवान् श्री ऋषभदेवने तथा अनेकानेक ऋषियोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(६) मथुराजी—यहांसे निबद्धकेलियोंमें से अन्तिम केवली श्री जम्बू-

स्वामी जी ने निर्वाण प्राप्त किया तथा अनेक ऋषियोंने भी निर्वाण प्राप्त किया।

(७) तारंगा जी—यहांसे वरदत्त सागरदत्त आदि अनेको ऋषि निर्वाणको प्राप्त हुए।

(८) शत्रुंजय— यहांसे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन-ये तीन पाण्डव तथा और ८ करोड़ ऋषि मोक्ष गये हैं (निर्वाणको प्राप्त हुए है)।

(९) पावागढ़—यहांसे भगवान् श्री रामचन्द्रजीके पुत्र श्री लव व अंकुश तथा और भी साड़े ५ करोड़ ऋषि निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।

(१०) मुक्तागिरि—यहांसे साड़े तीन करोड़ ऋषिराज निर्वाणको प्राप्त हुए है।

(११) कुण्डलगिरि (म० प्र०)—यहांसे अन्तिम केवली श्रीधर महाराज निर्वाणको प्राप्त हुए है।

(१२) नैनागिरि (म० प्र०)—यहांसे वरदत्तादि ५ ऋषिराजों ने निर्वाण प्राप्त किया।

(१३) द्रोणगिरि (म० प्र०)—यहांसे गुरुदत्तादि अनेक ऋषिराजोंने निर्वाण प्रप्त किया।

(१४) सोनागिरि जी—यहांसे अनंगकुमार आदि साड़े पांच करोड़ ऋषिराज निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।

(१५) गुणावा (बिहार प्रान्त)—यहांसे भगवान् गौतम गणेश निर्वाण-प्राप्त हुए।

(१६) खडगिरि उदयगिरि—यहांसे पांच सौ मुनि मोक्ष गये है। यह कलिंग देशका प्रधान धार्मिक स्थान है।

(१७) जैन बद्री श्रवणबेलगोल—यहांसे श्री बाहुबलि भगवान् एक वर्ष तक अनशन तप व एक खड्गासनसे ध्यान करके निर्वाणको प्राप्त हुए हे।

(१८) कुंथलगिरि—यहांसे देशभूषण कुलभूषण मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए।

(१९) गजपंथा—यहांसे बलभद्र आदि ८ करोड़ ऋषिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(२०) मांगी-तुंगी—यहांसे भगवान् श्री रामचन्द्रजी, हनुमानजी, सुग्रीव जी, नीलजी, महानीलजी आदि अनेक योगियोंने निर्वाण प्राप्त किया।

(२१) सिद्धवरकूट—यहांसे २ चक्रवर्ती, १० कामदेव व साढ़े तीन हजार और ऋषिराज निर्वाणको प्राप्त हुए।

(२२) चूलगिरि (बावनगजा जी)—यहांसे श्री कुम्भकर्ण व इन्द्रजीत जी आदि अनेक योगियोंने निर्वाण प्राप्त किया।

उक्त निर्वाणक्षेत्र बहुजनप्रसिद्ध हैं। यहांसे जितने ऋषि निर्वाण गये सुने जाते हैं उससे बहुत अधिक हैं। जनश्रुतिके आधार पर वह संख्या प्रसिद्ध हैं। उक्त क्षेत्रोंके अतिरिक्त श्री बद्रीनाथ, हिमालय, हरिद्वार, ऋषिकेश, विन्ध्याचल, चित्रकूट आदि आदि अनेकों स्थान निर्वाणक्षेत्र हैं, जहांसे अनेकों योगियोंने निर्वाण प्राप्त किया। इनके अतिरिक्त आजकी जानी गई सारी भूमि चाहे वहां पर्वत हों या जल या नगर निर्वाण स्थान है अर्थात् यहां सब जगहसे अनेकों ऋषिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया। जैन सिद्धांतके अनुसार तो जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखंड द्वीप, कालोद समुद्र व पुष्करार्द्ध द्वीप इतने ढाइद्वीपके अन्दर सर्वस्थानोंसे अनेकों योगिराजोंने निर्वाण प्राप्त किया।

६७–पुण्यक्षेत्र

वस्तुतः पुण्यक्षेत्र तो विशुद्धभावपरिणत आत्मा है। व्यवहारतः जिन स्थानोंपर कोई चमत्कार अथवा शुभकार्य हुआ है, वे स्थान भी पुण्यक्षेत्र कहलाते हैं। ऐसे पुण्यक्षेत्र भारतमें बहुत हैं, उनमें से कुछ का निर्देश दिया जाता है—

(१) अयोध्या—यहां तीर्थङ्करोंका जन्म होता है। इस ही कालमें ऐसा हुआ कि ५–६ तीर्थङ्करोंका अन्यनगरियोंमें जन्म हुआ है, बाकी सब तीर्थङ्करोंका अयोध्यामें जन्म हुआ और भूतकालके तीर्थङ्करोंका यहां जन्म होता

रहा व भाविकालमें भी यहां जन्म होता रहेगा। श्री भगवान् रामचन्द्रजीका भी यहां जन्म हुआ तथा अनेक पदवीधरोंका यहां जन्म हुआ।

(२) वाराणसी—यहां श्री सुपार्श्वनाथ व पार्श्वनाथ तीर्थङ्करका जन्म हुआ।

(३) सारनाथ—यहां श्री श्रेयांसनाथ तीर्थङ्करका जन्म हुआ। यहां बुद्धकालमें बौद्धोंका भी प्रचार केन्द्र रहा।

(४) चन्द्रपुरी—यहां श्री चन्द्रप्रभ तीर्थङ्करका जन्म हुआ।

(५) हस्तिनापुर—यहां श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ व अरहनाथ—इन तीन तीर्थङ्करोंके गर्भ, जन्म, तप व ज्ञान—ये चार कल्याणक हुए।

(६) मथुरा—यहां निबद्धकेवलियोंमें से अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया। श्रीकृष्णजी के समयमें उनका व उनके परिकरका चर्यास्थान रहा।

महावीरजी, अहिछत्र पारसनाथ, केशरियाजी, नाशिक, श्रवणवेलगोल इत्यादि अनेकों पुण्यक्षेत्र हैं। इन सब पुण्यक्षेत्रोंका मूल हेतु तो "पुण्य कार्य हुआ" यह हेतु है। आजकल इन क्षेत्रोंमें से अनेक क्षेत्रोंपर तो पुण्यकार्यकी प्रेरणा मिलती और अनेक क्षेत्रोंपर कामनासिद्धिका प्रयोजन रहता। कुछ भी हो, किसी न किसी प्रकारकी विशुद्धि इन क्षेत्रोंपर निवास करनेसे प्रायः होती है।

६८—धर्मपर्व

जिन पर्वोंका सम्बन्ध मुक्तिमार्गकी याद दिलानेका है व विशेष व्रत तप साधनाकी प्रेरणा करनेका है वे पर्व धर्मपर्व कहलाते हैं। ऐसे पर्व दो प्रकारके हैं—एक तो अनादिपरम्परासे चले आये हुए व दूसरे किसी निमित्तसे प्रारम्भ हुए।

पहिले प्रकारके पर्व अष्टमी एवं चतुर्दशी हैं। इन दिनों साधक पुरुष विशेषतया उपवास एकाशनपूर्वक धर्मसाधनमें लगते हैं। दशलक्षणपर्व भी पर्व है, इनका पर्युषण भी धर्मबुद्धि व कर्मक्षयभावनासे होता है। निर्वाण

दिवस भी धर्मपर्व है, किन्तु किसी किसी निर्वाणदिवसका लोगोंने सुखका सगुन मानकर उपयोग अपनी कल्पनाके अनुसार किया है। इत्यादि जिन पर्वोंका पर्युषण कर्मक्षयभावना अथवा आत्मानुभूति भावनासे किया जाता है, वे सब धर्मपर्व हैं।

अष्टमी और चतुर्दशी पर्व कबसे माने जाने लगे ऐसी जिज्ञासा होनेपर समाधान यह मिलता है कि व्रतप्रसङ्गमें अनादि परम्परासे चले आये हुए पर्व हैं। प्रोषधव्रतके स्वरूपमें अष्टमी चतुर्दशीका निर्देश है। आगम परम्परासे यही चला आरहा है।

दशलक्षणपर्व कबसे चले हैं ? इस जिज्ञासाके समाधानमें यह मालूम हो सका है कि सुदूर पूर्वकालमें धर्मोपद्रवादि पापके फलमें नाना कामनियोंमें भ्रमण करके मनुष्यभावमें राजकन्याके रूपमें अवतरित किन्तु संकटोपद्रुत इस कन्याको किन्हीं मुनीश्वरने दशलक्षण धर्मका पालन करनेके लिये भाद्रपद, माघ व चैत्रके सुदी पञ्चमीसे चतुर्दशी तकके दिनोंका निर्देश किया था। एक युक्तिमें यह भी विदित हुआ कि अवसर्पिणीके अन्तमें प्रलयकाल शान्त होते ही दशलक्षणधर्मके पालनके लिये दश दिनोंका उपयोग है। सो प्रलयमें होता है सावन वदी १ से और ४९ दिन तक शान्त वर्षा। इसके बाद जीव विहार करते हैं। ये ४९ दिन भाद्रपदसुदी ४ तक पूर्ण हो जाते हैं। सो इसके बाद ही पञ्चमीसे दशलक्षण शुरू होते हैं। इस दृष्टिमें दशलक्षण पर्व केवल भाद्रपदमें ही होना युक्त है। प्रसिद्धि भी भाद्रपदके दशलक्षणकी है और अन्यत्र भी भाद्रपदमें होनेकी बात मिलती है।

रत्नत्रय पर्व भी धर्मपर्व है, क्योंकि इस पर्वकी साधनामें शिवसाधनाका उद्देश्य रहता है। यह पर्व मुख्यतया भाद्रपद सुदी १३ से १५ तक माना जाता है। और माघ तथा चैत्रमें भी सुदी १३ से १५ तक माना जाता है। यह पर्व भी किसी निमित्तसे चला है, यह बात इसकी कथासे जानी जा सकती है।

इत्यादि अनेक वे दिन जो हमें विभावपरिणमनसे छुड़ाकर स्वभावोपासनामें लगनेकी याद दिलावें वे सब धर्मपर्व हैं।

६६—पुण्यपर्व

जिन पर्वोमें भगवद्भक्तिका तो सम्बन्ध है, किन्तु पुण्यकार्य व पुण्य भाव व शकुनादि भावकी ओर झुकाव होता है वे पुण्यपर्व कहलाते हैं।

पुण्यपर्व भी दो प्रकारके होते हैं-(१) अनादिपरम्परागत, (२) नैमित्तिक। अनादिपरम्परागत पुण्यपर्व आष्टाह्निका है। कातिक, फाल्गुन व असाढ़ मासके अन्तके आठ दिनोंमें आष्टाह्निका होती है। इन दिनोंमें नन्दीश्वरनामके आठवें द्वीपमें चारों प्रकारके (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक) देव अकृत्रिम चैत्यालयोंमें भगवन्मूर्तिके दर्शन पूजन करते हैं। सो भी कुछ समय नहीं किन्तु आठ दिन तक लगातार पूजन करते हैं, क्योंकि वहां दिन रातका तो भेद ही नहीं है, सदैव प्रकाश रहता है। यहाके हिसाबसे माने जाने वाले १ दिन रात में आठ पहर अर्थात् चौबीस घंटा होते हैं सो दो दो प्रहर तक एक दिशामें एक जातिके देव पूजन करते हैं। इस प्रकार चारों दिशाओंमें स्थित ५२ अकृत्रिम मन्दिरोंमें स्थित अकृत्रिम भगवत्प्रतिविम्बोंके समक्ष निरन्तर ६४ प्रहर तक पूजा होती रहती है। वहां देवोंका ही गमन है। मनुष्य तो जो विद्याधर हों अथवा ऋद्धिधारी साधु हों तो ढाई द्वीप तक ही जा सकते हैं। इन दिनोंमें यहांपर लोग भी पूजन करते हैं। किन्हीं किन्हीं स्थानोंमें तो सिद्धचक्रविधान करते हैं। इन दिवसोंमें विधानादि करनेवालोंके पुण्यभावकी अधिकता रहती है तथा सिद्धचक्रविधान करते हुए तो नीरोग शरीर रहे, सुख समृद्धि रहे, यह भाव भी हो जाता है तथा सिद्धोंके गुणोंपर भी कभी कभी ध्यान पहुंचता है आदि सम्मिश्रणोंके फलस्वरूप ये पर्व पुण्यपर्व कहलाते हैं। पुण्यपर्व भी ये तभी कहाते हैं जब धर्मकी ओर कुछ भावना हो, क्योंकि धर्मकी ओर भावना रहते हुए जो देवभक्ति, गुरूपासना आदि होती है उन्हीं परिणतियोंमें पुण्यभाव है व तभी पुण्यकर्मका बन्ध है और तभी पुण्यकर्मके फल सुख समृद्धि आदि होती है।

इत्यादि अनेक वे दिन जो पुण्यपुरुषके पुण्यचरित्रका स्मरण कराते हों, किन्हीं प्रवृत्तियों द्वारा पुण्यकार्य करनेके लिये नियत किये गये हों, वे सब पुण्यपर्व

कहलाते हैं। पुण्यपर्वोंसे हमें अशुभप्रवृत्तियोंसे बचकर शुभ कर्तव्योंमें उत्साहित होनेकी शिक्षा लेना चाहिये।

७०—संत-जन

यह मेरा, यह पराया—ऐसी अनुदार बुद्धि हटकर सर्वसमभाव जिनके प्रकट होता है वे संत-जन कहलाते है। कुछ संत तो ऐसे होते हैं जिनमें जन्माम्नाय की भी पुट नही होती, किन्तु मात्र विशुद्धिके नातेसे अपने आपके स्वरूपकी रुचि उत्पन्न होती है और कुछ संतजन ऐसे होते हैं जिनमें सत्क्रियाकी वृद्धिके लिये जन्माम्नायकी पुट भी रहती है और मात्र विशुद्धिके नातेसे अपने आपके स्वरूपकी रुचि उत्पन्न होती है तथा कुछ संतजन ऐसे होते हैं कि होती तो उनके हैं अपने आपको स्वरूपकी रुचि, परन्तु पूर्वोपदेशधारणावश या अन्य कारणोंवश जो भी अपने आपका स्वरूप समझा उसकी प्रीति, रुचि होती है। यह रुचि जान बूझकर उत्पथकी ओर नहीं है, अतः आशयमें बेईमानी न होनेके कारण वे भी संतजन हैं।

संतपन किसी जाति, कुल आदिकी अपेक्षा नहीं करता, फिर भी प्रकृत्या प्रायः ऐसा होता है कि निर्दोष जाति कुलसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंमें संतपन उत्कृष्ठतासे होता है। इनका जहां निवास होता है वहां शान्तिका वातावरण व न्यायका वातावरण फैल जाता है। ऐसा होनेका मुख्य कारण यह है कि सभी जीवोंमें संतपन है, किन्तु सङ्ग, उपाधि आदि कारणोंसे संतपन समुचित व्यक्त नहीं हो पाता। संतजनोंके निवासक्षेत्रमें शान्तिमुद्राके दर्शन, दर्शकोंका अकोलाहल व्यवहार आदि निमित्तोंसे जीवोंका सत्यकी ओर झुकाव होता है। इस निजगुणकी वृद्धिके कारण जीव स्वयं अशान्ति व अन्यायका परित्याग करके शान्त एव न्यायशील हो जाते हैं।

वर्तमान संतपनका पूर्वभवके जप तप अनुष्ठानोंका भी विशेष सम्बन्ध है। मनुष्य मनुष्य समान होकर भी किसी मनुष्यमें विरक्ति व ज्ञानोन्मुखता इतनी विशाल देखी जाती है कि विषयादिक प्रतिकूल अनेक साधन सामग्री

समक्ष होनेपर भी ज्ञातृत्वशीलतासे नहीं चिगते ।

७१–स्वात्मोपलब्धि

सहजस्वरूपमें निजतत्त्वके परिचय होनेको स्वात्मोपलब्धि कहते हैं। यह आत्मा सनातन है, शुद्धसत्ताक है। इसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न वर्ण है। इसके सहजस्वरूपमें मात्र चैतन्य है। इसमें न राग है, न द्वेष है, न विचारतरङ्ग है, न विकल्पतरङ्ग है। केवल संचेतनमात्र अनुभवसे यह उपलब्धव्य है। इसकी प्राप्तिका मात्र प्रज्ञा है। इसकी निर्मलताका उपायमात्र प्रज्ञा है। मिले हुए जीव अजीवमें अन्तर जाननेका उपाय भी मात्र प्रज्ञा है।

आत्माका स्वरूप वही है जो स्वत: अपने आप अकेलेमें सनातन स्थित हो। वह है चैतन्य। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। द्रव्यका स्वभाव द्रव्यसे भिन्न नहीं है सो आत्मद्रव्यका स्वभावभूत चैतन्य भी परिणमनशील है। परिणमन दो पद्धतिसे है—(१) सामान्य, (२) विशेष। सामान्य परिणमनको दर्शन कहते है। विशेष परिणमनको ज्ञान कहते हैं। मैं परिणमता हूं अर्थात् देखता हूं, जानता हूं (यहां देखनेका अर्थ सामान्य प्रतिभास होना है, आंखसे देखना नहीं) मैं देखता हूँ, अपनेको देखता हूं, अपनेद्वारा देखता हूं, अपने लिये देखता हूं, अपनेसे देखता हूँ, अपनेमें देखता हूँ। मैं जानता हूं, अपनेको जानता हूँ, अपने द्वारा जानता हूँ, अपने लिये जानता हूं, अपनेसे जानता हूँ, अपनेमें जानता हूं। अहो जानना देखना भी क्या है? इसके दो काम नहीं है। एक पर्यायरूप ही परिणमता है सो मैं चेतता हूँ, अपनेको चेतता हूं, अपने द्वारा चेतता हूं, अपने लिये चेतता हूं, अपनेसे चेतता हूँ, अपनेमें चेतता हूँ। अहो! चेतता भी क्या हूं ये तो सब विकल्पनाटक हैं। मैं तो शुद्ध चेतनामात्र हूं।

निष्पक्ष, निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमात्र स्वकी उपलब्धि ही स्वात्मोपलब्धि है। इसके पश्चात् इसीकी स्थिरताके यत्न होते हैं। ये सारी भूमिकायें भी स्वात्मोपलब्धि हैं। पूर्ण स्वात्मोपलब्धि, पूर्णशुद्ध, निर्लेप, निरञ्जन, निष्कल सिद्धपरिणति है। मोक्षमार्ग स्वात्मोपलब्धि है और मोक्ष भी स्वात्मोपलब्धि है। ज्ञानभाव स्वात्मोपलब्धि है और आनन्दभाव भी स्वात्मोपलब्धि है।

दृष्टिने पाया उससे उसे यह पूर्ण निश्चय हो गया है। कि निर्बाध, निर्मल अनन्त आनन्द जिसके अनवरत प्रकट रहता है वही उत्कृष्ट है, आराध्य है, देव है। देवके स्वरूपादिके सम्बन्धमें "सकल परमात्मा व निकल परमात्मा" नामके अधिकारोंमें विशेषतया वर्णन किया गया है। सम्यग्दृष्टिके सच्चे देवकी प्रतीति अटल होती है।

देव बननेका उपाय अर्थात् वीतराग व सर्वज्ञ बननेका उपाय जिसमें वर्णित हो वह शास्त्र है। वीतराग बननेका उपाय विषय कषायोंसे वैराग्य पाना है और यह वैराग्य तथा सहज आत्मस्वरूपके उपयोगमें संयत रहना सर्वज्ञ होनेका उपाय है। अतः वैराग्य व सत्यस्वरूपके निर्देशक शास्त्रोंकी उपासनामें, स्वाध्यायमें सम्यग्दृष्टिका उपयोग होता है। सम्यग्दृष्टि सच्चे शास्त्रकी ही उपासना करता है।

देव होनेमें जो यत्नशील हैं उन्हें गुरु कहते हैं। देव अनन्तज्ञान व अनन्त आनन्द आदि गुणोंके पूर्ण विकासरूप हैं। ऐसी स्थिति मात्र ज्ञानकी निश्चलता द्वारा साध्य है। अतः गुरु अन्य सर्वपदार्थोंसे परम निरपेक्ष होते हैं तथा आत्मानुभवके लिये सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ, निरारम्भ गुरुवोंकी उपासना सम्यग्दृष्टिके होती है। सम्यग्दृष्टिके सच्चे गुरुकी प्रतीति अटल होती है।

इस प्रकार व्यवहारमें देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान व जीवादिक सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और निश्चयमें समस्त परद्रव्यों, परभावोंसे विविक्त, चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका दर्शन सम्यग्दर्शन है।

यथार्थस्वरूप सहित वस्तुके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानमें आत्माकेस्वरूपका निर्णय एवं अनुभव अवश्य होता है तथा अन्य सभी पदार्थोंका सामान्यतया स्वरूपका निर्णय भी सम्यग्ज्ञानमें होता है। यथार्थताका जिनमें वर्णन है, उन शास्त्रोंका अभ्यास व उसके अनुसार जानकारी होना व्यवहार से सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसे जैसा अपने आपका स्वरूप प्रतीत किया व सम्यग्ज्ञानके द्वारा जैसा आत्मस्वरूप जाना उस ही में लीन होना सो सम्यक्चारित्र है। व्यवहारमें व्रत, समिति, गुप्ति, आराधना आदि सम्यक्चारित्र कहलाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके लाभको बोधिलाभ कहते हैं। शान्तिका अमोघ उपाय बोधिलाभ है। बोधिलाभके अभिलाषी भव्य जीवोंको गृहीत मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्ष्यका त्याग करना चाहिये और यथाशक्ति ज्ञानोपार्जन, शुद्धभोजन व ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इस त्रिपुटीकी चर्यामें रहते हुए जो आत्मज्योति जागृत होगी, उससे बोधिलाभका मार्ग मिल जावेगा। इस त्रिपुटीका वर्णन मूल आचरण नामके अधिकारमें किया गया है, उस अधिकारको पढ़कर इस सम्बन्धमें विशेष दृष्टि देनी चाहिये।

बोधिलाभ सुगमसे सुगम है व कठिनसे कठिन है। सुगम तो यों है कि इसके लिये किसी बाह्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस कारण बोधिलाभ का होना पराधीन नहीं, किन्तु स्वाधीन है। इसके लिये अपने आपका ज्ञान करनेकी आवश्यकता है सो खुद ही तो यह ज्ञानमय है, अतः खुद ही ज्ञाता है, खुद ही ज्ञान है और जानना भी अपने आपको है सो खुद ही ज्ञेय है। जहां वही ज्ञाता, वही ज्ञान, वही ज्ञेय है वहां पराधीनता कहांसे होगी? आत्मदृष्टि के लिये न तो धनकी जरूरत है, न जनकी जरूरत है, फिर कठिनाई ही क्या होगी बोधिलाभके होनेमें? किन्तु जिन जीवोंके तीव्र मिथ्या अभिप्राय बना हुआ है, परद्रव्यसे ही जिन्दगी, हित, आनन्द होता है ऐसा जिनका अभिनिवेश है उन्हें बोधिलाभ कठिनसे कठिन है। कठिन ही क्या, मोहकी दशामें बोधिलाभ का होना असंभव है।

बोधिलाभ ही आत्माका सच्चा वैभव है। जीवन भी जावे, किन्तु बोधिलाभ हो तो वहां बोधिका ही आदर करना चाहिये जीवनका नहीं। बोधिलाभसे तो सदाके लिये क्लेश छूट जाते हैं, जीवनसे लाभ ही क्या? जीवन मिलते रहना ही संसार है, विडम्बना है, क्लेश है। हे प्रभो! तेरे ध्यानके प्रसाद से बोधिका लाभ हो। ॐ तत् सत् परमात्मने नमः।

७३—आराधना

राध् संसिद्धौ, राध् धातुका अर्थ है सिद्धि करना अथवा साधना। आत्माकी

राधना अर्थात् साधनाको अथवा आत्माकी सिद्धि करनेको आराधना कहते हैं। आत्माकी सिद्धि आराधना द्वारा ही हो सकती है। आराधनाका अपर नाम "दृढतमभावना सहित उपयोगका उस रूप परिणमन" है। आराधना आत्माके सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र व तपके विषयमें की जाती है। अतः आराधना ४ प्रकार की हुई—(१) दर्शनाराधना, (२) ज्ञानाराधना, (३) चारित्राराधना, (४) तप आराधना। प्रत्येक आराधनाको प्रारम्भसे लेकर अन्त तककी उसकी अवस्थावोंको संक्षिप्त करके देखा जावे तो ५-५ प्रकारोंमें बांटा जा सकता है—(१) उद्योतन, (२) उद्यापन, (३) निर्वहण, (४) साधन, (५) निस्तरण। इस प्रकार आराधना २० प्रकारोंसे वर्णितकी जा रही है।

(१) दर्शनोद्योतन—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्वके दोषोंको दूर करना सो दर्शनोद्योतन है। वस्तुके स्वरूपमें शका करना, भोगोंकी वाञ्छा करना, धर्मात्मावोंमें ग्लानि करना, कुतत्त्वोंकी अनुमोदनाका भाव आना इत्यादि दोष सम्यक्त्वके कहलाते हैं, इन्हे दूर करना सो दर्शनोद्यतन है। सम्यक्त्वके दोष दूर करनेका उपाय ज्ञानोपयोग है।

(२) दर्शनोद्यापन— सम्यक्त्वके गुणोंसे बार बार परिणत होना अथवा सम्यक्त्वके गुणोकी वृद्धि होना सो दर्शनोद्यापन है। निःशङ्कता, निःकांक्षता निर्जुगुप्ता, अमूढता, उपगूहन, धर्मवात्सल्य, स्थितिकरण, धर्मप्रभावना आदि गुण सम्यक्त्वके है, इनकी वृद्धि होना सो दर्शनोद्यापन है।

३) दर्शननिर्वहण—सम्यक्त्व परिणामको निराकुलतामे धारण करना, उपसर्ग व उपद्रव आनेपर भी सम्यक्त्वसे च्युत नहीं होना सो दर्शननिर्वहण है।

(४) दर्शनसाधन—बार बार ज्ञानोपयोगके द्वारा सम्यक्त्वभावकी साधना आजीवन बनाये रहना सो दर्शनसाधन है।

(५) दर्शननिस्तरण—सम्यक्त्वकी निर्दोष ऐसी साधना होना कि अन्यभव में भी सम्यक्त्व साथ रहे, उसे दर्शननिस्तरण कहते हैं।

(६) ज्ञानोद्योतन—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, ज्ञानके आठ अंगोंका न पालना आदि ज्ञानमलोको दूर करना सो ज्ञानोद्योतन है।

(७) ज्ञानोद्यापन—ज्ञानकी उत्कर्षता प्रकट करना अथवा ज्ञानगुणकी वृद्धि करना सो ज्ञानोद्यापन है।

(८) ज्ञाननिर्वहण—ज्ञानगुणको निराकुलतासे धारण करना; उपसर्ग, उपद्रव आनेपर भी सम्यग्ज्ञानसे च्युत नहीं होना सो ज्ञाननिर्वहण है।

(९) ज्ञानसाधन—बार बार ज्ञानभावनासे सम्यग्ज्ञानकी साधना आजीवन बनाये रहना सो ज्ञानसाधन है।

(१०) ज्ञाननिस्तरण—ज्ञानकी ऐसी निर्दोष साधना होना कि आगामी भवमें भी सम्यग्ज्ञान साथ रहे, इस आराधनाको ज्ञाननिस्तरण कहते हैं।

(११) चारित्रोद्योतन—चारित्रकी भावनामें तत्पर होकर चारित्रके मल (शिथिल परिणाम) को दूर करना सो चारित्रोद्योतन है।

(१२) चारित्रोद्यापन—चारित्र गुणकी वृद्धि करना सो चारित्रोद्यापन है।

(१३) चारित्रनिर्वहण—चारित्रभावको निराकुलतासे धारण करना, उपसर्ग उपद्रव आदि बाधाओंके आनेपर भी चारित्रसे च्युत नहीं होना सो चारित्रनिर्वहण है।

(१४) चारित्रसाधन—निजस्वभावोपयोग द्वारा आजन्म चारित्रकी परिपूर्ण दृढ़ साधना करना चारित्रसाधन है।

(१५) चारित्रनिस्तरण—चारित्रकी दृढ़ साधनाके बलसे चारित्रके संस्कार को अन्य भवमें भी पहुँचाना सो चारित्रनिस्तरण है।

(१६) तप-उद्योतन—असंयमादि तपोमलको दूर करना सो तप-उद्योतन है।

(१७) तप-उद्यापन—तपश्चरणमें उत्साह रखकर उसकी वृद्धि करना सो तप-उद्यापन है।

(१८) तपोनिर्वहण—तपश्चरणका निराकुलतासे धारण करना, उपसर्ग उपद्रव आनेपर भी तपश्चरणसे च्युत नहीं होना सो तपोनिर्वहण है।

(१९) तपःसाधन—आजन्म तपकी निर्दोष साधना करने को तपःसाधन कहते हैं।

(२०) तपोनिस्तरण—तपश्चरणकी निर्दोष, परिपूर्ण साधनाके बलसे

तपश्चरणके पवित्र भावोंके संस्कारको अन्यभवमें भी पहुंचा देना सो तपोनिस्तरण है।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपकी आराधनायें होती है। इन चारोंका संक्षेप किया जावे तो आराधना दो ही है—(१) दर्शनाराधना, (२) चारित्राराधना। दर्शनाराधनामें तो ज्ञानाराधना गर्भित है व चारित्राराधनामें तप-आराधना गर्भित है, क्योंकि ज्ञान व तप तो सामान्य होता है अर्थात् सम्यक्त्व न होनेपर भी ज्ञानभाव हो सकती है व चारित्र न होनेपर भी तपश्चरण हो सकता है, किन्तु सम्यक्त्वाराधना होनेपर ज्ञानाराधना नियम से होती और चारित्राराधना होनेपर तप-आराधना नियमसे होती। गुणस्थान व्यवस्थामें भी सम्यक्त्व व चारित्रका ही सहयोग है।

आराधना ही कल्याणकी जननी है। विषयकषायोंमें रत जीवोका हित सम्पादन करनेमें कुशल आराधना ही है। अतः अनेक यत्नों करके एक स्वभावोपयोगके यत्नमें रहकर निर्मल आराधना व आराधनाका फल प्राप्त करना चाहिये।

७४—परिणामशुद्धि

आत्माके परिणामोंमें निर्मलता होनेको परिणामशुद्धि कहते हैं। परिणामशुद्धियां तो अंशभेदसे असंख्य प्रकारोंमें है, किन्तु न अतिसंक्षेप न अतिविस्तार से देखो तो परिणामशुद्धिको इतने भागोंमे बांटे—(१) प्रतीति, (२) दृष्टि, (३) अभीक्ष्णदृष्टि, (४) अनुभूति, (५) अपूर्व अनुभूति, (६) अभेद अनुभूति, (७) निष्कर्षानुभूति, (८ निष्कलङ्कानुभूति, (९) स्वभावपरिणति।

(१) आत्मस्वभाव जैसा कि सहज स्वतःसिद्ध स्वलक्षण मात्र है वैसी ही प्रतीति होनेको प्रतीतिनामक परिणामशुद्धि कहते है।

(२) जो आत्मदेव प्रतीतिमें है उसकी ओर दृष्टि (लक्ष्य) करनेको दृष्टि परिणामशुद्धि कहते है। अशुद्धिसंस्कारवश दृष्टिसे हटकर आत्मा फिर अन्य विषयोंमें उपयुक्त हो जाता है सो उस अशुद्धोपयोगसे हटकर फिर आत्मदेवकी

दृष्टिमें लग जाता है। इस तरह बार बार अन्तर सहित इस जीवके आत्म-स्वभावकी ओर दृष्टि होती है। इसे कालैकदेशदृष्टि कहते हैं।

(३) अभीक्ष्ण दृष्टि निरन्तर आत्मदेवके लक्ष्यके बने रहनेको कहते है। यह दृष्टि तभी संभव है जबकि इस दृष्टिके बाधक विकल्पोंके निमित्तभूत आरंभ परिग्रहका बिलकुल त्याग हो, न कोई आरामका साधनका ग्रहण हो, न वस्त्र आदिका ग्रहण हो।

(४) जिस आत्मदेवकी प्रतीति व दृष्टि हुई है उसीके अनुभव बने रहनेको अनुभूतिनामक परिणाम शुद्धि कहते हैं। यह दशा अप्रमत्त अवस्थामें होती है। अब इसके बाद भी जितनी परिणामशुद्धिकी भूमिकायें हैं, उन सबमें अप्रमत्त अवस्था है, विशिष्ट अप्रमत्त अवस्था है।

(५) ऐसी विशिष्ट अनुभूति जो पहिले कभी नहीं हुई अथवा इसके साधन कालसे पहिलेके साधनकालमें किसीके नहीं होती अथवा इसके साधनकालोंमें भी विवक्षित कालसे पहिले किसीके नहीं हुई, उसे अपूर्वानुभूति कहते हैं।

(६) जिस साधनामें समान साधनक्षणोंमें वर्तमान योगियोंके समान समान ही शुद्ध परिणाम होते हैं, ऐसी अनुभूतिको अभेदानुभूति कहते हैं। इसका कारण कषायोंकी अतिमन्दता है, जिससे सूक्ष्मलोभके अतिरिक्त सारी कषायें क्षीण हो जाती हैं।

(७) निष्कषानुभूति—उक्त प्रकारसे सारी कषाये क्षीण होनेपर जो सूक्ष्म लोभ अवशिष्ट रहा था, जिसकी कृष्टि (कर्षण) होकर सूक्ष्मता हो गई थी, उस कषायके भी क्षयके हेतु जो अनुभूति होती है, उसे निष्कषानुभूति कहते हैं।

(८) निष्कलङ्कानुभूति—जब इस अन्तरात्मापर रंच भी विभाव कलङ्क नहीं रहता उस समय जो निष्कषाय स्वकी अनुभूति है, उसे निष्कलङ्कानुभूति कहते हैं। इसके प्रसादसे पूर्ण स्वभावपरिणति होती है।

(९) स्वभावपरिणति— जहां किसी भी प्रकारको कषायादि कालिमा तो है हो नहीं और स्वभावका पूर्णविकास हो गया अर्थात् सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, अनन्तानन्दमयता, अनन्तशक्तिमत्ता प्रकट हो चुकी, ऐसी निस्तरङ्ग, स्वच्छ परिणतिको स्वभावपरिणति कहते है। यह परिणति परमात्म-अवस्थाकी है।

अब स्वरूप परिणति अनन्तकाल तक रहेगी। इस स्वरूप परिणतिके पश्चात् परिणामशुद्धिकी वृद्धिका कोई कार्य नही रहा।

७५—समाधि

जहां आधियां अर्थात् मानसिक कल्पनाये भी सम अथवा शान्त हो जाती हैं उस स्थितिको समाधि कहते हैं। समाधिसे मोक्ष होता है, परम आनन्द प्रकट होता है। अतः योगकी पूर्णता समाधिसे होती है। कल्याणके अर्थ समाधि अत्यन्त आवश्यक है। यह समाधि किन भावोंसे प्रकट होती है और किन भावोंमें सम्पूर्ण होती है उन भावोंकी गणना नहीं हो सकती। अतः उन भावोंको संक्षेपमें संक्षिप्त करके क्रमशः देखा जा रहा है—

(१) असमाधि अर्थात् अध्यवसान भाव (मोहरागद्वेष) निज व परके अविवेकके प्रकट होता है। असमाधिभावको दूर किये बिना समाधिभावका लाभ असंभव है। अतः असमाधिभावको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम विवेक/ख्यातिकी आवश्यकता है। यह संसार पुरुष और प्रकृतिके मेलका है। यद्यपि पुरुष और प्रकृति भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। पुरुष तो चेतन है व प्रकृति अचेतन है तथापि इनका अनादिपरम्परागत सम्बन्ध व निमित्तनैमित्तिक भाव इस इन्द्रजालको बनाये हुए है। जब ही इस पुरुष तत्त्व व प्रकृति तत्त्वकी भिन्नता व स्वतन्त्रताका विवेक व परिचय हो जाता है तब ही यह असमाधिभाव टूट जाता है। इस लिये समाधिके अर्थ सर्व प्रथम पुरुष (आत्मा) का व प्रकृति (कर्म तथा कर्म उपाधिवश प्रकट होनेवाली रागादि तरङ्गों) का यथार्थज्ञान करके भेदविज्ञान प्रकट कर लेना चाहिये। (इनका स्वरूप समझने के लिये इस पुस्तकमें लिखे हुए आत्मस्वरूप, कर्मसिद्धान्त आदि अधिकारोंको विशेष कर पढ़ना चाहिये। चेतन और प्रकृति भिन्न भिन्न हैं अथवा प्रकृति अर्थ परिणति करें तब चेतनकी प्रकृति (परिणति) चेतनमें है और अचेतनकी प्रकृति अचेतनमें है। इस प्रकारके विवेकसे अध्यवसान (असमाधि) नहीं रहती।

(२)चिद्ब्रह्म और प्रकृतिके विवेकके पश्चात् चैतन्यमात्र स्वको आत्मारूपसे देखना-अहं चिदस्मि अहं ब्रह्मास्मि, इस भावनामें जब साधक परोपयोगसे हटकर मात्र निजब्रह्ममें उपयुक्त होता है तब परम आनन्दकी वृद्धि होने लगती है।

(३) अहं ब्रह्मके अनुभवसे इन्द्रियसुख जो वास्तवमें क्लेशरूप हैं, सब छूट जाते हैं और सहज आनन्द प्रकट होने लगता है।

(४) इस सहज आनन्दके अनुभवके प्रतापसे पहिले अहं ब्रह्मास्मिका भाव था, यह विकार भी मिट जाता है। यहाँ तो स्वरूपमें आप ही आप आप करि स्वसंवेदित हो रहा है, अस्मिका भाव भी दूर हो जाता है।

(५) अब आत्मसंवेदनके प्रसादसे परमें आत्मबुद्धि तो हो ही गई थी, यहां उपयोग आत्मस्वरूपमें ही लीन हो गया। जब तक उपयोग स्वरूप में से नहीं निकलता तब तक लयसमाधि रहती है। यद्यपि अभी पूर्णतया समाधि नही है, इसी कारण यह साधक पुनः सम्यक् विचार व भावनामें लग जाता है तथापि यह लयसमाधि केवलज्ञानकी साक्षात् साधिका समाधिकी जातिकी है।

(६) यह साधक पुनः अखंड, ध्रुव चैतन्यस्वभावमें दर्शन करता है। अहो, चेतनाका प्रकाश अनन्त है, आपके भावका आप ही आधार है, यह आपकी परिणति आपको सौंप कर आपकी परिणति द्वारा आपको साध रहा है, आप ही कर्ता व आपही कर्म है तथापि आप ध्रुव अपरिणामी है। इस अभेद स्वके उपयोगसे ध्यानकी स्थिरतामें आनन्द बढ़ रहा है।

(७) यह साधक अब अभेदस्पर्शी भेददृष्टि द्वारसे आत्मवैभवको देख रहा है। अहो ज्ञान दर्शनको जान रहा है, दर्शन ज्ञानको देख रहा है, प्रत्येक गुण प्रत्येक गुणोंमें प्रयुक्त हो रहा है अथवा परिणामिक भावके कारण मूलतः अपरिणामी होकर भी मात्र परिणम ही तो रहा है। अहो, यह अभेद द्रव्य, यह अभेद स्वभाव, यह अभेद परिणमन।

(८) यह साधक कभी अपनी परिणतिस्वरूपमें लीन कर रहा है, कभी द्रव्यस्वरूपको देख रहा है, कभी द्रव्यसे गुणमें उपयुक्त हो रहा है, गुणसे

पर्यायकी ओर आ रहा है, पुनः गुणकी ओर, द्रव्यकी ओर आकर अभेदस्व-भावमें उपयोगी हो रहा है। इस तरह स्वरूपाचरणमें आकर परम आनन्दको पा रहा है।

(९) यह साधक अब ज्ञान द्वारा निजस्वरूपको जानकर ज्ञानानन्दका अनुभव कर रहा है, दर्शन द्वारा निजस्वरूपको देखकर दर्शनानन्दका अनुभव कर रहा है, निजस्वरूपमें परिणमकर चारित्रानन्दका अनुभव कर रहा है अथवा आप ही आपको वेद कर सहज आनन्दका अनुभव कर रहा है।

(१०) अब यह साधक अनुपम आनन्दोंसे तृप्त होकर अभेद निश्चल चैतन्यस्वरूपमें लीन हो रहा है। अब कोई विकल्प व वितर्ककी तरङ्ग नहीं रही।

(११) यह साधक अब पूर्ण निर्विकल्प समाधिको प्राप्त हो गया और अब पूर्ण निर्विचार समाधिको प्राप्त हो गया। यहां अबुद्धिगत भी सूक्ष्म ज्ञेय परिवर्तन भी नहीं है। यह पूर्ण निर्विचार समाधि अब कैवल्य पद (सर्वज्ञता) प्रकट करके ही विलीन होवेगी।

(१२) इस प्रकार समाधिबलसे यह साधक अब साधु अवस्थासे परमात्म अवस्थामें आ गया। तीन लोक तीनकालके समस्त ज्ञेय सहज ही झलकने लगे। साथ ही इस सर्वज्ञानने अनन्त सहज आनन्दका भी अनुभव किया।

दुःखका समूल उन्मूलन करनेवाली समाधि ही योगियोंको प्रिय है।

७६—निर्विकल्प समाधि

जिस अवस्थामें न तो किसी पर पदार्थका विकल्प है और न एकक्षेत्रा-वगाह तथा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको प्राप्त कर्म नोकर्मका विकल्प है, न औपाधिक जीवभावोंका विकल्प है, न अपूर्ण अथवा पूर्ण गुणपर्यायोंका विकल्प है और न निज शक्तियोंका विकल्प है। ऐसी निस्तरङ्ग अभेदग्राहक उपयोगकी स्थितिको निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

निर्विकल्प समाधिकी साधनाके लिये अनेकों लोग अनेक उपाय करते

हैं, किन्तु उनमेंसे अनेक उपाय तो मिथ्या हो जाते हैं व अनेकों उपाय अनुकूल बाह्य साधनमात्र होते हैं। वास्तवमें तो विकल्प द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त नहीं होती। फिर भी एकत्व दृष्टि निर्विकल्प समाधिका प्रशस्त उपाय है। इसका कारण यह कि निर्विकल्प समाधि भी एकत्व रूप है और यहां दृष्टि भी एकत्वकी की जा रही है।

निर्विकल्प समाधि निर्विकल्पस्वरूपकी भावनापर अवलम्बित है। वस्तुतः वस्तुस्वरूप निर्विकल्प है, आत्मस्वरूप निर्विकल्प है। आत्मस्वरूपकी यथार्थ भावना निर्विकल्प समाधिकी प्रयोजिका है। मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, परिपूर्ण हूं, अखण्ड हूं, सनातन हूं, शाश्वत हूँ—इस प्रकारकी अभेदस्वरूप भावना ज्यों ज्यों निर्विकल्पताको लिये होती है त्यों त्यों निर्विकल्प समाधिके समीप आ जाता है।

शरीर भिन्न है, जीव भिन्न है। समाधिभाव जीवका परिणमन है, देहका नहीं है। अतः देहकी किसी वृत्तिसे समाधिभाव नहीं होता, आत्माकी आत्मवृत्तिसे ही समाधिभाव होता है। हां यह बात संभव है कि देहकी निश्चलता से विचार निश्चल होने लगते हैं सो इसमें निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध जानना तथा वह भी संभावित जानना। देहकी निश्चलता होनेपर विचार भी निश्चल हो सकता है, ऐसा इस कारण है कि इस बन्धनावस्थामें ज्ञान इन्द्रियज व अनिन्द्रियज है। इन्द्रियां भी देहका अङ्ग हैं सो इन्द्रियोंके अथवा देहके निश्चल होनेपर ज्ञान भी समुचित निश्चल हो जाता है। इस कारण प्राणायामादिक समाधिमें परम्परा कारण हो सकते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञानके अभावमें ये सहकारी भी किसी रूपसे नहीं हो सकते। निर्विकल्प समाधिका तत्त्वज्ञानसे से ही अविनाभाव है।

अतः निर्विकल्प समाधिके इच्छुक पुरुषोंको तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें यत्नशील होना चाहिये। तत्त्वज्ञान होनेपर जब ऐसी स्थिति हो जायगी कि प्रत्येक इच्छासे अरुचि होने लगे तब निर्विकल्पसमाधिकी पात्रता आ जाती है।

निर्विकल्प समाधि कितने ही दर्जोंमें होती है। तत्त्वज्ञान होनेपर परपदार्थके स्वामित्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्वका विकल्प नहीं रहता, इन मिथ्या

विकल्पोंका अभाव होनेसे, अन्य तत्त्वज्ञानके अविरोधक विकल्प होनेपर भी निर्विकल्प समाधि कहलाती है। यह प्राथमिक समाधि है। इसके पश्चात् देशविरति होनेपर अन्य विकल्पोंमें भी हीनता हो जाती है, वह भी निर्विकल्प समाधि कहलाती है। इसके पश्चात् सकलविरति होने पर विकल्पोंकी अतिहीनता हो जाती है, वह भी निर्विकल्पसमाधिभाव कहलाता है। इनके पदोंमें स्वानुभवके होनेके समय निर्विकल्पताकी विशेषता होती है, वह भी निर्विकल्प समाधि कहलाती है। इन सबसे श्रेष्ठ प्रमादरहित अवस्थामें सहज निर्विकल्प समाधि होती है। यह निर्विकल्प समाधि इस प्रकरणमें लक्षित है।

निर्विकल्प समाधिसे जन्म-जन्मान्तरके कर्म कट जाते हैं और सहजचिज्ज्योतिरूप परमात्मतत्त्वके अनुपम दर्शन होते हैं।

७७—समाधिमरण

समताभावसहित मरणको समाधिमरण कहते हैं। मरण आयुके क्षयको कहते हैं। वास्तवमें तो प्रतिसमय यहां आयुका क्षय हो रहा है; इस जीवनमें भी प्रतिसमय नवीन आयुकर्मनिषेकोंका उदय आता है और अगले क्षणमें वह नहीं रहता है; अतः प्रतिसमय मरण हो रहा है। इसे सिद्धान्तमें आवीचिमरण के नामसे कहा है। इसी कारण जो भव्यात्मा प्रतिसमय समता परिणाम रखते हैं, वे प्रतिसमय समाधिमरणके वास्तविक लाभको प्राप्त करते रहते हैं। फिर भी तद्भवमरणकी बड़ी विशेषता है, क्योंकि मरते समय जैसा भाव होता है वैसी गति प्राप्त होती है।

मरण १७ प्रकारका होता है—(१) आवीचिमरण, (२) तद्भवमरण, (३) अवधिमरण, (४) आद्यन्तमरण, (५) बालमरण, (६) पंडितमरण, (७) अवसन्न मरण, (८) बालपंडितमरण, ९) सशल्यमरण, (१०) बलाकामरण, (११) वशार्तमरण, (१२) विप्पाणसमरण, (१३) गृद्धपृष्ठमरण, (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण, (१५) इंगिनी मरण, (१६) प्रायोपगमनमरण, (१७) केवलिमरण (पंडितपंडितमरण)।

(१) आवीचिमरण—जैसे समुद्रमें निरन्तर लहरें उठती रहती हैं, इसी प्रकार प्रतिसमय आयुकर्मका नवीन नवीन निषेक उदयमें आता रहता है। वह उदयमें आकर व्ययको प्राप्त होता है। इस प्रकार एक ही भवमें प्रतिसमय आवीचिमरण होता है। यह मरण सामान्य है अर्थात् आवीचिमरण समाधि-सहित भी हो सकता है और समाधिरहित भी हो सकता है।

(२) तद्भवमरण—पूर्वभवका नाश होकर उत्तरभवकी प्राप्ति होना सो तद्भवमरण है। यह मरण भी सामान्य है अर्थात् समाधिसहित भी हो सकता और समाधिरहित भी हो सकता है।

(३) अवधिमरण—जो प्राणी जिस प्रकारका मरण करता है, वैसा ही मरण अथवा कुछ वैसा ही (सदृश) मरण आगे करेगा, ऐसे बन्धवाले मरणको अवधिमरण कहते हैं। यह भी सामान्य मरण है।

(४) आद्यन्तमरण—वर्तमानमें जीव जैसा मरण करता है वैसा अर्थात् सदृशमरण उसका आगे न होगा, ऐसे नियम वाले मरणको आद्यन्तमरण कहते हैं। यह मरण अवधिमरणका विपक्षभूत है।

(५) बालमरण—अज्ञानी अर्थात् सम्यक्त्वरहित जीवके मरणको बाल मरण कहते हैं। इस संसारी प्राणीने अनन्तों बालमरण किये हैं, इससे कोई सिद्धि नहीं है प्रत्युत संसारपरिवर्द्धन ही है। यह मरण समाधिरहित ही होता है।

भेद प्रभेदोंकी पद्धतिमें चारित्ररहित सम्यग्दृष्टिके मरणको बालमरण कह दें तो मिथ्यादृष्टिके मरणको बालबालमरण कहना चाहिये।

(६) चारित्रसहित सम्यग्दृष्टि मुनिके मरणको पंडितमरण कहते हैं। यह मरण समाधिसहित ही होता है।

(७) अवसन्न मरण— रत्नत्रयधारियोंका संघ जिसने छोड़ दिया है, ऐसे स्वच्छन्द आसक्त मुनियोंको अवसन्न कहते हैं, उनके मरणको अवसन्नमरण कहते हैं। यह मरण समाधिरहित होता है।

(८) बालपंडितमरण—सम्यग्दृष्टि संयमासंयमी अन्तरात्माओंके मरणको बालपंडितमरण कहते हैं। यह मरण समाधिसहित ही होता है।

(६) सशल्यमरण—मायाचार, मिथ्याभाव व निदान परिणामसहित मरण होनेको सशल्यमरण कहते हैं। यह मरणसमाधि रहित पुरुषके होता है।

(१०) बलाकामरण—देववंदना व नित्यनैमित्तिकक्रियामें आलसी, विनय व वैयावृत्यादि कार्यमें आदरभाव न रखनेवाले, व्रतादिके पालनमें शक्ति छुपाने वाले, ध्यान नमस्कारादि कर्तव्योंमें उपयोग न लगनेसे उनसे दूर रहनेवाले पुरुषोंके मरणको बलाकामरण कहते हैं। यह मरण भी सामान्य है क्योंकि यह कभी ज्ञानीके भी हो सकता है।

(११) वशार्तमरण—इन्द्रियविषयोंके वश होकर, वेदनाके वश होकर, कषायके वश होकर रौद्रध्यानमें मरण करनेको वशार्तमरण कहते हैं। यह मरण भी कदाचित्, सम्यग्दृष्टि व श्रावकके भी हो सकता है, किन्तु वह बालपंडित मरणं कहलावेगा।

(१२) विप्पाणसमरण—उपसर्ग उपद्रव सहनेमें असमर्थ होनेपर, चारित्रमें दोष आनेपर संविग्न होता हुआ, पापसे डरता हुआ अन्तमें धैर्यधारण करके विशुद्ध होता हुआ आलोचना करके परमेष्ठिस्मरण कर जो मरण होता है, उसे विप्राणसमरण कहते हैं।

(१३) गृद्धपृष्ठमरण—उपसर्ग उपद्रव न सहे जानेसे अथवा दु.ाचारके पछतावे इत्यादि कारणोंसे शस्त्रग्रहणसे मरना सो गृद्धपृष्ठमरण है।

(१४) भक्तप्रत्याख्यानमरण—यथाक्रमसे या अचानक मरणकाल आया हो तो तभी चार प्रकारके आहारका त्याग करके व कषायोंका त्याग करके समाधि पूर्वक मरण करना सो भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इसमें साधक स्वतः भी शुश्रूषा करता है अन्यसे भी करा लेता है।

(१५) इंगिनीमरण—पूर्ववत् भक्तका व कषायका त्याग करना और स्वयं तो शुश्रूषा कर लेना, किन्तु दूसरेसे शुश्रूषा नहीं कराना सो इंगिनी मरण है।

(१६) प्रायोपगमनमरण—भक्त प्रत्याख्यानमरणकी भांति भक्त (आहार) का व कषायका त्याग करना तथा शुश्रूषा स्वयं भी न करना और न दूसरेसे कराना, इस पद्धतिके मरणको प्रायोपगमनमरण करते है।

(१७) केवलिमरण—अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तमें आयुक्षय होकर

निर्वाण हो जानेको केवलिमरण अथवा पंडितपंडितमरण कहते हैं। इसको ही मोक्ष हो जाना कहते है।

उक्त १७ प्रकारके मरणोंमें किसमें समाधि है किसमें नहीं है, यह अच्छी तरह विदित हो सकता है। अब इन १७ प्रकारके मरणोंको समाधिमरणके प्रयोजनको रखकर संक्षेप करते हैं। इनका संक्षेप करने पर ये मरण ५ प्रकार के जाने जाते हैं—(१) बालबालमरण, (२) बालमरण, (३) बालपंडितमरण, (४) पंडितमरण, (५) पंडितपंडितमरण।

(१) बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि जीवके मरणको बालबालमरण कहते हैं।

(२) बालमरण—संयमरहित सम्यग्दृष्टि (अविरतसम्यग्दृष्टि) जीवके मरणको बालमरण कहते हैं।

(३) बालपंडितमरण—संयमासंयमी श्रावक सम्यग्दृष्टिके मरणको बालपंडितमरण कहते हैं।

(४) पंडितमरण—सम्यग्दृष्टि संयमी मुनिके मरणको पंडितमरण कहते हैं।

(५) पंडितपंडितमरण—निर्वाण हो जानेको पंडितपंडितमरण कहते हैं।

समाधिमरण एक अलौकिक वैभव है। इसको महोत्सव बताया गया है। अनेकों मुनिराजोंने घोर उपसर्ग व परीषह आनेपर भी समता परिणाम नहीं छोड़ा। इसके फलमें अनेकोंने निर्वाण प्राप्त किया और अनेकों सर्वार्थसिद्धि आदि उत्तम भवोंमें उत्पन्न हुए, जहांसे च्युत होकर यथाशीघ्र निर्वाण प्राप्त करेंगे।

इस संसारी प्राणीने अनन्तों मरण किये, परन्तु यदि कभी समाधिमरण किया होता तो अल्पभवोंमें ही मुक्ति प्राप्त कर ली जाती। यह इष्ट मित्र बन्धुवोंका समागम जीवके मोह रागादिका ही हेतु हो सकता है। आत्महित तो मात्र आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे होता है।

परवश होकर तो अनेको प्रकारकी वेदनायें सहनी पड़तीं। नरकोंमें घोर दुःख सहे जाते हैं। पशुवोंके दुःख तो सामने भी कुछ कुछ विदित हो रहे है। कीट पतंगोंकी तो दशा ही दयनीय है। एकेन्द्रियोंके दुःखोंको तो वे ही जानते

हैं, अपनको तो अनुमान ही प्रमाण है। अनेकों क्लेश यह जीव सहता है। यदि स्ववश होकर समतासे क्लेश सह लिया जावे तो सदाके लिये क्लेश दूर हो जायेंगे।

समाधिमरणका अति विशेष महत्त्व है। बड़े बड़े योगी अनेकों योगियों के तत्त्वावधानसे समाधिमरण करते हैं। एक साधकके समाधिमरणमें ४८ मुनि भी विभिन्न सेवाओं द्वारा व्यावृत रहते हैं।

समाधिमरणके लिये तैयारी जीवनमें ही बहुत पहिले से की जाती है, १२ वर्ष पहिलेसे भी की जाती है और अचानक मरणकाल आवे तो अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें भी की जा सकती है।

इस साधकका उपयोग विशुद्ध रहे एतदर्थ निम्नाङ्कित भावनावों का सहारा लेना चाहिये।

(१) अनित्या, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ, धर्मस्वरूप—इन १२ भावनाओंकी भावना करना चाहिये।

(२) नरक, पशु, अमानुष आदिके तो घोर दुःख हैं,मेरेको तो दुःख ही क्या हैं? ऐसी तुलना करके प्राप्त सकटोंसे उपयोग हटा लेना चाहिये।

(३) कितने ही ऋषियोंको सिंहने खा लिया, गीदड़ोंने चौंट लिया, वैरियोंने छेद दिया इत्यादि अनेकों उपसर्ग सहे, परन्तु धीरता नही त्यागी, समाधिमरण ही किया।अब तो तुम्हारे (हमारे) दुःख ही क्या हैं, ऐसा विचार करके वर्तमान क्लेशसे अपना उपयोग हटा लेना चाहिये।

(४) इष्ट मित्र, बन्धुओं इत्यादिका समागम, स्नेह पतन व संसार परिभ्रमणका ही कारण है, ऐसा जानकर वर्तमान संयोगसे उपेक्षा कर लेना चाहिये।

(५) मैं समस्त चेतन (अन्य चेतन) व अचेतन पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न हूं, ऐसा निज तत्त्वको शुद्ध देखना चाहिये।

(६) विभावोंके औपाधिक व अध्रुव होनेके कारण व सामान्य या स्वभावपर्यायके क्षणिक होनेके कारण मैं ध्रुव तत्व समस्त पर्यायोंसे परे

त्रिकाल स्थिर हूँ, ऐसा शुद्ध निज तत्त्वको देखना चाहिये।

(७) मैं एक सामान्य चेतन द्रव्य हूँ, समस्त चेतनोंका जो स्वरूप है, वही मेरा है, अतः मैं कुछ भी विलक्षण व विशेष नहीं हूं, सर्वसामान्य हूँ, नाम रहित हूं, ऐसा व्यापकस्वरूप देखकर अति शुद्ध चैतन्यमात्र अनुभव रह जाना चाहिये।

समाधिमरणकी ही सर्वोपरि महिमा है। इसका दिग्दर्शन नित्य नैमित्तिक क्रियाओंमें मिलता है। प्रत्येक भक्तिमें आदि अन्तमें समादिमरण मे भवदु, सम्मं समादिमरणं इत्यादि शब्दोंसे समाधिमरणकी भावनाकी जाती है।

सम्मं समादिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झ।

७८—परलोक

एक आयुके समाप्त होनेके बाद दूसरी आयुके उदयको परलोक कहते हैं। जैसे कोई हाथी है, वह मरनेके बाद मनुष्य बनता है तो हाथीकी आयु समाप्त होते ही मनुष्यकी आयुका उदय उसके हो जायगा अर्थात् जो मनुष्यायुके उदयका पहिला समय है वही हाथीकी आयु (तिर्यञ्चायु) के समाप्त होनेका समय है। यह मनुष्य तभीसे कहलाने लगेगा जबसे मनुष्यायुका उदय हो गया, चाहे वह मनुष्यशरीरमें जन्मस्थानमें कुछ समय बाद पहुंचे या उसी समय पहुंचे। मरणके बाद जन्मस्थानमेंपहुंचनेके लिये अधिकसे अधिक बीचमें ३ समय लगते हैं, कमसे कम २ भी लगते, एक भी लगता, नहीं भी लगता। यह समय बहुत ही कम क्षण है। एक बार आंख की पलक गिरनेमें असंख्यात समय लगते हैं, उनमें से एक समयको विचार लिया जाय कि कितना होता है? इससे कोई कम काल नहीं है।

यह लोकोंमें स्वार्थवश कुछ लोगोंने भ्रम फैलाया है कि "मनुष्य मरके कई दिनों तक जन्म पानेके लिये भटकता तड़फता रहता है, किन्तु उसके नाम पर भोज करानेसे व गाय, सुवर्ण, धन आदि का दान देनेसे वह जल्दी ठिकाने लगता है"। जिस क्षणमें पहिली आयु नहीं रही, उसी क्षणमें दूसरी आयु हो

जाती है। यह जीव अपने किये हुए शुभ अशुभभावोंके अनुसार दूसरी गतिको प्राप्त करता है। मरणके बाद या उसके जीवनमें भी उसके नामपर कोई कुछ दान करता रहे, इससे उसे पुण्य नहीं हो जाता। पुण्यका होना तो अपने अपने शुभ परिणामपर निर्भर है।

मरणके बाद यदि वह जीव एक ही समयमें जन्मस्थानपर पहुंच जाता है तो मरणस्थान व जन्मस्थानके बीचके मार्गमें उसे कोई आकार नहीं रखना पड़ता। यदि बीचमें एक समय लगता है अर्थात् दूसरे समयमें जन्मस्थानपर पहुँचता है तो जिस भवका मरण हुआ है उस भवका आकार जीवका रास्तेमें होता है, किन्तु नाम उसका अगले भवका ही होता है अर्थात् जिस भवमें जन्म हो रहा है, उस भवका नाम उदय रहता है। यदि किसीको मरणके बाद जन्मस्थानपर पहुंचनेमें बीचमें २ समय लगते हैं अर्थात् तीसरे समयमें जन्मस्थानपर पहुँचता है तो वह विग्रहमार्गमें २ समय तक पूर्वदेहाकारमें रहता है, तीन समय लगनेपर ३ समय पूर्वदेहाकार रहता है। विग्रहमार्गमें १,२ वा ३ समय लगनेका कारण यह है कि मरणके बाद जीवकी गति सीधी होती है अर्थात् पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, दक्षिणसे उत्तर, उत्तरसे दक्षिण, ऊपर नीचे, नीचेसे ऊपर—इस तरह सीधी दिशावोंमें जाता है, किन्तु यदि किसीका जन्मस्थान सीधमें नहीं पड़ता तो सीधा चलकर मुड़कर फिर सीधा जाता है। इस तरह लोकके किसी भी स्थानसे किसी भी स्थान तक पहुंचनेमें अधिकसे अधिक ३ मोड़ हो सकती हैं। जितनी मोड़ लगें उतने ही समय उस बीचमें लगते हैं।

इस अधिकारके बाद निर्वाणनामक अधिकार आवेगा। परलोक व निर्वाणमें यह अन्तर है कि परलोक तो नवीन जन्मधारण करके नवीनभवमें रहनेको कहते हैं और निर्वाण जन्म व भवसे अत्यन्त रहित होनेको कहते हैं। आयुके क्षयके बाद नवीन जन्म नहीं हो, उसे निर्वाण कहते हैं व आयुके क्षयके बाद नवीन जन्म हो उसे परलोक कहते हैं।

जिन भव्यजीवोंने बोधि, आराधना, समाधि व समाधिमरण किया उनका परलोक देवगति है। यदि देवोंने अपनी शक्ति माफिक समाधि व

समाधिमरण किया तो उनका परलोक मनुष्यगति है। यदि नारकियोंने समाधि व समाधिमरण किया तो उनका परलोक भी मनुष्य समाधिमरण करके भी नरकगति व तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हो जाता है तथा मनुष्यके बाद भी मनुष्यगतिमें उत्पन्न हो जाता है। वह परिस्थिति यह है कि किसी मनुष्यने पहिले नरकायु बांधी या तिर्यञ्चायु बांधी या मनुष्यायु बांधी, इसके अनन्तर कभी उसने क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया तो वह पहिले बांधी हुई आयुके कारण मरकर नरकगति, तिर्यञ्चगति व मनुष्यगतिमें जन्म लेगा, किन्तु ऐसा जीव पहिले नरकका ही नारकी, भोगभूमिमें पञ्चेन्द्रिय पुरुषवेदी तिर्यञ्च व भोगभूमिका पुरुषवेदी मनुष्य होगा। वह पहिले नरकसे नीचे नहीं उत्पन्न होगा। भोगभूमिके पञ्चेन्द्रिय पुरुषवेदी तिर्यञ्चके सिवाय अन्य किसी भी तिर्यञ्चमें उत्पन्न नहीं होगा और भोगभूमिके पुरुषवेदी मनुष्यके सिवाय अन्य किसी भी मनुष्यदेहमें उत्पन्न नहीं होगा।

आत्मा तो आत्मस्वरूप है, वह अज, अमर है। आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है, किन्तु देह बदलनेको मरण और जन्म कहते हैं। अतः निश्चयसे देखा जाय तो आत्माके लिये आत्मा ही लोक है व आत्मा ही परलोक है। चैतन्यस्वरूप यहाँ है चैतन्यस्वरूप ही वहाँ है। इसी चैतन्यमें चैतन्यके परिणमन यहां होते हैं, इसी चैतन्यमें चैतन्यके परिणमन वहां होते हैं। जिस अन्तरात्माकी दृष्टिमें यह निज चैतन्यस्वरूप है, उसके लिये इस लोक परलोकका कोई भेद नहीं है। वह सर्वप्रज्ञाता है, सुखी है।

कुछ लोगोंकी यह धारणा होती है कि यमराज व उसके सिपाही भयंकर रूप रखकर जान लेने आते हैं और जान लेकर भगवान्के सामने पेश करते हैं। वहांके न्यायके बाद वे यमराज नरक या स्वर्ग वगैरहमें भेज देते हैं। कुछ मरनेवाले लोग ऐसा बकते भी हैं कि यह जान लेने आया, बचावो, मुझे यमराज दीखते हैं इत्यादि। इस बकवाद के सुननेसे लोगोंकी उक्त धारणा और पुष्ट हो जाती है। ऐसी ही धारणावालोंको अपनी कल्पनाके अनुसार वह चित्र समझमें आता है व बकते हैं। वस्तुतः यमराज कोई नहीं है, जो जीवोंका प्राण हरे। वह तो आयुका क्षय है जो प्राणके वियोगका कारण है। स्वर्ग, नरक

भी भेजनेवाला और कोई नहीं है। अपने परिणाम ही स्वर्ग या नरकमें जाने की तैयारी कर देते हैं। किसी और भगवान्‌के सामने न्याय होता है। इसका मतलब यह है कि प्रत्येक जीव भगवत्स्वरूप है। इस भगवान् आत्माके समक्ष न्याय होता ही है तथा जो अशेषकर्म मलमुक्त भगवान् हैं, उनके ज्ञानमें सारा पदार्थ झलकता है सो इसी रूपमें सबका न्याय है।

कुछ लोग शङ्का करते हैं कि परलोक है या नहीं। इस सम्बन्धमें एक बात ही स्पष्ट न्याय दे देती है कि जो पदार्थ सत् है उसका कभी नाश नहीं होता और सत् पदार्थकी प्रतिसमय कोई न कोई अवस्था रहती है। यह आत्मा सत् अवश्य है, यह अहंप्रत्ययवेद्य भी है। अतः परलोक अर्थात् पूर्वदेहके बाद होनेवाली उत्तर अवस्था आत्माकी अवश्य है। हां, कोई आत्मा यदि अशेपकर्ममुक्त हो जाय तो उत्तर अवस्था देहसंयुक्त नहीं होती, किन्तु उसकी अवस्था देहरहित (निर्वाणदशा) हो जाती है।

कदाचित् परलोक नहीं है, इस बातका भी हठ किया जावे तो भी वर्तमान आनन्दके सत्य उपायपर विचार करनेसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विकल्प छोड़नेमें ही सत्य आनन्द है। सत्य आनन्दके मार्ग पर चलना ही विवेक है। इसमें हानि क्या है? वर्तमानका आनन्द तो है ही और यदि परलोक निकल आया तो परलोकका भी आनन्द हो जायगा।

नरक लोकमें नारकी अशुभ देह, अशुभ परिणाम, अशुभकायचेष्टा व अशुभ वेदना वाले होते है। वहां नारकी ही दूसरे नारकीको मारते हैं। वे जीर्ण शीर्ण खण्ड खण्ड कर डालते हैं। खण्ड खण्ड हो जानेपर भी नारकी की आयु का जब तक उदय चलता है मरते नहीं है, पाराको तरह उनका शरीर मिलकर फिर पूरा हो जाता है। नारकी जीव अपने देहका ही हथियार व अन्य प्रकारके दुःख देनेके साधन विक्रियासे बना लेते हैं। नारकियोंको कोल्हूमें पेलना, भट्टी में जलाना, शस्त्रोंसे छेदना आदि अनेक प्रकारके क्लेश दिये जाते हैं। इन नारकियोंकी आयु कमसे कम दस हजार वर्षकी व अधिकसे अधिक ३३ सागर की होती है।

तिर्यग्लोकमें तिर्यञ्चोंकी कैसी अवस्था होती है, इस सम्बन्धमें "जगत्के

जीवोंकी स्थिति" नामके अधिकारमें विशेष वर्णन किया गया है। वहांसे पढ़कर जान लिया होगा।

मनुष्य लोकमें स्थितियां अनेक प्रकारकी विचित्र हैं। कोई विकलाङ्ग है, कोई रोगी है, कोई दरिद्र है, कोई श्रीमान् है, कोई पंडित है, कोई मूर्ख है, कोई विषयासक्त है, कोई आत्मध्यानरत है, कोई कोई मोक्षमार्गी है, कोई अरहंत भगवान् है। ये सब विचित्रतायें अशुभ भाव, शुभभाव, शुद्धभावके परिणामस्वरूप हैं।

सब भवोंमें मनुष्यभव अनुपम भव है। इसी भवमें वह उपाय बनता है जिससे कि परलोकका उत्पाद नष्ट होकर निर्वाण प्राप्त किया जाता है।

७६—निर्वाण

समस्त क्लेश व उपाधियोंसे सदाके लिये बिलकुल निवृत्त हो जानेको निर्वाण कहते हैं। इसको अनेक ऋषियोंने अनेक प्रकारसे लक्षणोंमें बांधा है।

कोई कहते है कि प्रकृतिकी उपाधिसे मुक्त होनेको निर्वाण कहते हैं। प्रकृतिका अर्थ क्या है? इसे सब कुदरतके शब्दसे समझते हैं। कुदरत पदार्थोंसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। पदार्थोंके ही विकारभावके संस्करणको कुदरत कहते हैं। यदि वह प्रकृति (कुदरत) आत्माकी है तो आत्मा प्रकृतिसे कभी मुक्त नहीं हो सकता। यदि प्रकृति अन्य पदार्थकी है तो वह अन्य पदार्थ कर्मके नामसे लोकख्यात है। फिर तो निर्वाणका तात्पर्य हुआ कि कर्मकी उपाधिसे मुक्त होनेको निर्वाण कहते हैं।

कोई कहते हैं कि सुख, दुख, इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, धर्म व अधर्म आदि संस्कारोंके विनष्ट होनेको निर्वाण कहते हैं। सो ठीक ही है लौकिक सुख, दुःख, इच्छा, राग, द्वेष, क्रिया, विकल्पक ज्ञान, पुण्य व पापका संस्कार नष्ट होनेका ही नाम निर्वाण है। इसमें भी उन सबके निमित्तभूत उपाधिकी निवृत्तिकी बात निर्वाणके स्वरूपमें आ ही जाती है।

कोई परमब्रह्मस्वरूपमें लीन होनेको निर्वाण कहते हैं। सो परमब्रह्म

चैतन्यस्वरूप है। यद्यपि चैतन्यस्वरूप सब जीवोंमें एक समान है तो भी पर-जीवके आधारभूतपनेके लक्ष्यसे देखे गये चैतन्यस्वरूपमें चैतन्यमात्रकी दृष्टि नहीं बनती है। निजके आधारभूतपनेके लक्ष्यसे देखे गये चैतन्यस्वरूपमें भी उस समय चैतन्यमात्रकी दृष्टि नहीं बनती है तथापि निजके चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें यथाशीघ्र चैतन्यमात्रकी दृष्टि बन जाती है। इसका कारण यह है कि वह खुद ही तो ज्ञाता है व खुद ही ज्ञेय है। खुद ही ज्ञाता व खुद ही के ज्ञेय हो जानेपर विकल्प सब दूर भाग जाते हैं और प्रतिभासकी स्थिति अनिवार्य होनेके कारण बनी रहती है। अतः चैतन्यसामान्यकी दृष्टि हो जाती है। यही चैतन्यस्वभाव जो कि अहेतुक एवं ध्रुव है, परमब्रह्म कहलाता है। इस परमब्रह्ममें सर्वथा लीन होने को निर्वाण कहते हैं। इस कथनमें भी परस्वरूपमें लीन होनेके निमित्तभूत उपाधिकी निवृत्ति प्रसिद्ध हो जाती है।

निर्वाणमें परमहित है। परमहित अनाकुलताको कहते हैं। निर्वाणमें किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं है। लोकमें जिन्हें सुख कहा जाता है वह सुख नहीं दुःख है, आकुलता है, किन्तु मोहमें किसी जातिकी आकुलताके कम हो जानेको सुख या आनन्द कह दिया जाता है। परमार्थसे देखो तो वह सुख दुःख ही है। जब तक जीवको अपना स्वभाव अनाकुलतामय प्रतीत नहीं होता और अनेक जीवोंने तत्त्वज्ञान व वैराग्यके बलसे अनाकुल स्वभावका परिपूर्ण विकास किया है यह प्रतीत नहीं होता तथा मैं भी अनाकुलस्वभाव निज चैतन्य महाप्रभुकी उपासनाके बलसे अनाकुल स्वभाव का परिपूर्ण विकास कर सकता हूं यह प्रतीत नहीं होता तब तक जीवका उद्धारमार्गमें चलना ही असंभव है।

निर्वाणको प्राप्त होना, सिद्ध होना, बोधको प्राप्त होना, मुक्त होना, सर्वदुःखोंका अन्त करना, आदि अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जिनसे यह ध्वनित होता है कि निर्वाण होनेपर जीवकी क्या क्या स्थितियां होती है।

जिस निर्वाण तत्त्वके बारेमें किसीको सन्देह नहीं, सभीके इष्टता है, उस परम निर्वाण तत्त्वको हमारी वंदना हो। जिस स्थितिमें आत्माके न सूक्ष्म स्थूल किसी भी प्रकारका शरीर है और न कभी शरीरका सम्बन्ध होगा, जिस स्थितिमें व किसी प्रकारका कोई कर्म है और न कभी कर्मबन्ध होगा, जिस

स्थितिमें रागादिक किसी प्रकार विकार नहीं है और न कभी विकार होगा, ऐसी परम पवित्र शुद्ध परिणतिको निर्वाण कहते हैं। इस स्थितिमें स्वभाव और परिणतिकी एकता रहती है।

निर्वाण ही सर्वोत्कृष्ट पद है, पूज्य है, उपास्य है, आराध्य है, प्राप्तव्य है, आदर्श है, अनुचरणीय है, अनुकरणीय है।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

८०—निर्वाणका परमार्थ कारण

निर्वाण चेतन पदार्थका परमोत्कृष्ट शुद्ध विकास है। किसी भी पदार्थका विकास हो अथवा विकार हो अन्य पदार्थसे नहीं होते, किन्तु जिस पदार्थका विकास अथवा विकार हो उसी पदार्थसे वह होता है। विकास व विकारकी पद्धतिमें अन्तर इतना है कि विकार तो परपदार्थको निमित्तमात्र पाकर होता है, किन्तु विकास परको निमित्त करके नहीं होता है। अतः विकास तो स्वहेतुक ही निश्चित है। निर्वाण चेतनपदार्थका विकास है सो यह विकास चेतन द्रव्यके आश्रयसे ही होता है। विकासके अल्प महान् आदि कक्षों से असंख्यात कक्ष हैं। उनमें प्राथमिक विकास अविरत सम्यक्त्व है। यद्यपि अविरतसम्यक्त्वसे भी कम विकास सम्यग्मिथ्यात्व और उससे कम सासादनरूप परिणाम है तथापि पहले पहले मिथ्यात्व महाविकार वाले जीवको काललब्धिवशात् जब भी विकास होनेको होता है तब सम्यक्त्वरूप विकास होता है। यह सम्यक्त्वविकास कैसे हुआ, इसका विवरण पहिले कर आये हैं। यह आत्मा ज्ञानादि अनन्तशक्तिमय है। यह अपनी शक्तियोंका बल परपदार्थको विषयकर कर खर्च करता था। जब वस्तुस्वलक्षणके अध्ययनसे स्वपरिचय प्राप्त करके अपना बल अपनी ओर, आत्मस्वभावकी ओर ढालनेमें अपने उपयोगको व बलको लगाता है तब सहज सम्यक्त्व विकास होता है। यह आत्मस्वभावविकास अब उत्तरविकास का कारण होता है, वह उत्तरविकासका कारण होता है। इस तरह पूर्व पूर्व विकास उत्तर उत्तर विकासके कारण होते जाते हैं। अन्तमें पूर्ण विकास हो

जाता है। यही पूर्व विकास निर्वाण है। इसके पहिलेके विकास निर्वाणमार्ग हैं। निर्वाणमार्गमें यह आत्मा करता क्या है? अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके यह आत्मा स्वयं उस विकासरूप परिणमता है। स्वभावको कारणरूपसे ग्रहण करनेका मतलब स्वभावकी दृष्टि, स्वभावका आश्रय, स्वभावका अवलम्बन होनेसे है। अतः यह सुसिद्ध बात है कि अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव निज ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि निर्वाणका परम्परा पर-. मार्थ कारण है। वही विकास बढ़कर बढ़ आश्रयरूप परमार्थ कारण हो जाता है और यही विकास बढ़ बढ़ कर अवलम्बनरूप कारण हो जाता है। इसी उपाय से निर्वाणकी प्राप्ति है। इस उपायमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता आजाती है। अतः यह कह सकते हैं कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकतारूपसे परिणत आत्मा ही निर्वाण का कारण है, स्वयं ही स्वयंके निर्वाणका कारण है, निर्वाणका परमार्थकारण स्वयं आत्मस्वभाव है।

परपदार्थ तो अन्य परके परिणमनमें कारण होते ही नहीं है।। निर्वाण मार्गमें चलनेवाले अन्तरात्मा, निर्वाणमार्गके प्रतिपादक शास्त्र व परम निर्वाण मार्ग एवं निर्वाणमें स्थित परमात्मा भी अन्य किसी आत्माके निर्वाणके कारण नहीं है, क्योंकि ये सब भी परद्रव्य हैं।

परपदार्थका विषय करके होनेवाले भावोंमें रागादिभाव तो कारण हैं ही नहीं, किन्तु सत् देव, सत् शास्त्र, सत् गुरुको निमित्त पाकर होनेवाले भाव भी निर्वाणके कारण नहीं, क्योंकि ये नैमित्तिक भाव भी विकल्परूप हैं, शुभविकल्परूप हैं। तत्त्वज्ञानसे विकल्परूप ये भाव शुद्धविकासके लिये उत्साह देते हैं। इसलिये व्यवहारसे निर्वाणमार्ग कहे हैं अथवा आंशिक शुद्धिविकासके साथ अन्तरात्माके ये नैमित्तिकभाव भी होते हैं। इसलिये साहचर्यसे इन्हें भी निर्वाणमार्ग कहते हैं, परन्तु है सब यह व्यवहारदृष्टिकी बात।

परमार्थतः परमार्थ निज स्वभावकी दृष्टि व अवलम्बना ही परमार्थ-कारण है वह आत्मास्वभावसे पृथक् नहीं है व आत्मस्वभावकी आंशिक एकतारूप परिणति है अतः निजस्वभावकी दृष्टि, ज्ञप्ति, चर्यारूप परिणत यह आत्मा ही अथवा आत्मस्वभाव ही निर्वाणका परमार्थ कारण है।

हे आत्मन्! अपने आपसे ही नित्य अन्तःप्रकाशमान शुद्ध निज चैतन्य-

स्वभावको ही निर्वाणका परमार्थ कारण जान करके सर्वप्रयत्न करके एक इस ही भगवान् आत्म-चैतन्यस्वभावकी उपासनामें लगो ।

८१–पूर्णसत्य

पूर्णसत्य वह होता है जो निरपेक्ष, निरुपाधि ध्रुवस्वभाव हो अथवा जो सत्में त्रिकाल अन्तःप्रकाशमान हो वह पूर्ण सत्य है । पूर्णसत्य का विषय नहीं, किसी भी इन्द्रियका विषय भी नहीं, मनका भी अनुभूयमान विषय नहीं । हां विवेकी मन द्वारा पूर्णसत्यका अनुमान किया जा सकता है । जिन्होंने पूर्णसत्यका परिचय प्राप्त किया है, वे ही वास्तवमें संन्यासी साधु, मुनि, ऋषि, योगी, तपस्वी हो सकते हैं । पूर्णसत्य किसी महजबके रागमें नहीं मिल सकता । यह तो सर्व पक्षमिटाकर मात्र वस्तुस्वरूपके उपयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

यद्यपि प्रत्येक वस्तुका पूर्णसत्य प्रत्येक वस्तुमें सनातन है, इस कारण पूर्णसत्य भी निश्चल अनेक हैं तथापि पूर्णसत्यमें न तो अवस्था भेद है और न व्यक्तिभेदसे ग्राह्य है । अतः सामान्यरूप होनेसे वह मात्र जाति बन जाती है और इसी कारण पूर्णसत्य तो प्रथम भागोंमें में संक्षिप्त होता है और फिर चिदचिद्रूपके रूपमें २ भागोंमें संक्षिप्त होता है और फिर एक सत्स्वरूप के रूपमें एक अद्वैतमात्र विदित हो जाता है ।

पूर्णसत्यसे अतिरिक्त अन्य सब कुछ माया है । इस मायाका पूर्णसत्यके साथ मेल भी है, भेद भी है । मेल न हो तो उसका अत्यन्ताभाव ही होगा, भेद न हो तो न पूर्णसत्यका ही स्वरूप रहेगा और न आधारके अभावके कारण मायाका भी प्रकरण रहेगा । दोनों एक हैं व अनेक हैं, इनमें से माया का परिचय पूर्णसत्यकी प्रतीतिरूपमें जगत्के प्रायः सभी जीवोंको है, इसी कारण आनन्दपथसे भ्रष्ट हो रहे हैं । जिन अन्तरात्माओंने पूर्ण सत्यका परिचय पाया है वे मायासे विरक्त होकर यथार्थ पूर्णसत्यको देख देखकर अपना निर्बाधमार्ग बनाते हैं ।

पूर्णसत्यका प्रतीक कोई शब्द नहीं है, फिर भी तत्त्वज्ञ महर्षियोंने इस सत्यका संकेत प्रणवमंत्रमें किया है। वह प्रणवमंत्र है "ॐ" इसके उपाय, उपेय, उपासना आदि दृष्टियोंसे अनेक अर्थ हैं उनमें सबके मूलरूप वस्तुस्वरूप का अर्थ उपयोगी होनेसे प्रधान मानकर निर्दिष्ट करना आवश्यक समझा जा रहा है। ॐ के तीन विभाग हैं—अ उ म्। अ=अत्यय, उ=उद्गम, म्=मध्य। अत्यय उद्गम मध्यात्मक वस्तुस्वरूप है अर्थात् व्ययोत्पादध्रौव्यात्मक वस्तुस्वरूप है। यह स्वयं परिपूर्ण है। इसका जो पर्याय है वह भी परिपूर्ण होता है, पूर्वपर्यायका व्यय होता है वह परिपूर्णका विलय है। तभी तो देखो इस आत्मीय पूर्ण तत्त्वको स्वभावरूपमें देखो, इस पूर्व तत्त्वको विकासरूपमें देखो और देखो पूर्ण वह है, पूर्ण यह है, पूर्णसे पूर्ण उद्गत है, पूर्णमें पूर्ण विलीन है अर्थात् पूर्णसे पूर्ण निकल गया, अहो देखो फिर भी पूर्ण ही पूर्ण अवशिष्ट रहता है।

इस पूर्ण स्वभावकी, भगवान् आत्मस्वभावकी उपासना करनेसे प्रकटरूपमें भी यह सत्य पूर्णसत्यके अनुरूप विकसित होकर पूर्णसत्य प्रकट होता है। यही परमात्मा है और यही ब्रह्मत्व है। ॐ तत् सत् परमात्मने नमः।

८२–आत्मभावना

मैं स्वयं अपने आप क्या हूं? इसका परिचय व अनुभव पाकर उसी प्रकार भावना रखनेको आत्मभावना कहते हैं। मैं स्वयं अपने आप वह हूँ जो स्वतःसिद्ध, निर्विकल्प, निजस्वरूपास्तित्वमात्र है। यद्यपि मैं परिणमनशील हूँ और मेरे प्रतिसमय परिणमन होते रहते हैं तथापि परिणमन तो अध्रुव है और मैं अनादि अनन्त ध्रुव हैं। अतः मैं पर्यायमात्र नहीं, किन्तु स्वभावमात्र हूँ। मेरे अतिरिक्त अन्य सब अनन्तानन्त जीव, सर्व अनन्तानन्त पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, अकाशद्रव्य, असंख्यातकाल द्रव्य इन—सर्व परपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न हूं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि अनन्त गुणोंका अभेद पिण्ड हूं।

जैसेकि सभी द्रव्य परिणमनशील हैं, वैसे मैं भी परिणामनशील हूं। मेरे

परिणमन प्रतिसमय नये नये होते हैं, किन्तु वे सभी परिणमन मात्र अपने अपने समयमें रहते हैं, अगले समयमें नहीं रहते। अतः मैं किसी परिणमनरूप नहीं हूं, किन्तु उन सब परिणमनोंमें रहनेवाला अथवा उन सब परिणमनों को करनेवाला एक ध्रुव पदार्थ हूं, ऐसा परमपारिणामिक भावरूप हूं।

वस्तुतः शब्द तो एक संकेतक वस्तु है। मैं शब्द और संकेतसे भिन्न जैसा हूं तैसा हूं। जैसे चन्द्र न देखनेवाले बालकको माता अंगुलिको संकेतसे दिखाती है। वहां चन्द्र अंगुलि और संकेतसे भिन्न जैसा है तैसा ही है। शब्द, संकेत, उपाधि, औपाधिक आदि सब अज्ञान हैं, मैं तो शुद्ध ज्ञानमय हूं, अज्ञानसे न्यारा हूं, जैसे कि सूर्य अंधेरेसे न्यारा है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, नय, प्रमाण, निक्षेप, संकल्प आदि आत्मद्वार हैं, शुद्ध आत्मपदार्थ नहीं। इन द्वारोंसे चलकर ज्ञानी पुरुष आत्मातत्त्वसे भेंट करते हैं अथवा आत्मा इन द्वारोंसे आता जाता है इसलिये ये आत्मद्वार हैं। द्वार तो द्वार ही हैं, आत्मा आत्मा ही है। जैसे राजद्वार वह कहलाता है जिस द्वारसे चलकर राजासे भेंट की जाती है अथवा जिस द्वारसे राजा आता जाता है, किन्तु द्वार तो द्वार ही है, राजा राजा ही है। द्वार राजा नहीं है, राजा द्वार नहीं है। जैसे राजा द्वारसे विविक्त पुरुष है तैसे मैं भी आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि द्वारोंसे विविक्त शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्व हूं।

अन्य सर्व पदार्थोंसे सर्वथा विविक्त होनेसे मैं शुद्ध हूं, बोधभाव स्वभाव होनेसे बुद्ध हूं, त्रिकालस्थायी होनेसे नित्य हूं, सर्व कर्ममलोंसे विलक्षण एवं भिन्न होनेसे निरञ्जन हूं, ज्ञानानन्द स्वभावी होनेसे ज्ञानानन्दमय हूं, रूपरसगंधस्पर्शसे रहित होनेसे अमूर्त हूं। अभेदस्वरूप होनेसे निर्गुण हूं, भेदव्यवहार प्रतिपाद्य होनेसे गुणवान् हूं।

मैं ज्ञानज्योतिसे तन्मय हूं, आनन्दमय, हूं, ध्रुव हूं। वस्तुतः यह भी कथनमात्र है; मैं तो जैसा हूं, तैसा हूं; देखते ही बनता, कहते नहीं बनता।

जैसे एक वस्तु रखी है उसे पूर्वदिशास्थ नर कहता है यह पश्चिममें रखी है, पश्चिमस्थ कहता है पूर्व में है, उत्तरस्थ कहता है दक्षिणमें है, दक्षिणस्थ कहता उत्तरमें है। अरे वह तो कहीं नहीं, अपनेमे जैसी है तैसी ही है। जैसे कान्तिमान स्फटिकपर जैसी उपाधि हो वैसा ही झलक स्फटिकमें है, किन्तु स्फटिक उपाधिसे भिन्न ही है और वह झलक भी स्फटिकका स्वरूप नहीं। इसी प्रकार ज्ञानज्योतिर्मय मुझ दर्पण पर कर्म नोकर्मकी उपाधि लगी है सो उसके अनुसार राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिकी झलक मुझमें है, किन्तु मैं कर्म नोकर्मसे भिन्न ही हूं और वह झलक भी मेरा स्वरूप नही है। मैं सर्वविविक्त शुद्ध चैतन्य तत्त्व हूँ।

आत्मस्वरूपसे आत्माकी भावना करनेका फल आत्मव्यवहार है। ज्ञाता द्रष्टा रहनेको आत्मव्यवहार कहते है। आत्मव्यवहारमें ही शिव, शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति है। आत्मस्वरूपसे आत्माकी भावना करनेका फल आत्म-व्यवहार है यह कैसे जाना जाय? प्रथम तो आत्मभावना करनेवाले ही आत्म व्यवहारको यथार्थतया जानते है और फिर देखो—जो जीव अपनेको जिस प्रकारके रूपसे भाते है वे उस प्रकारसे व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। जैसे अपनेको सेठ रूपसे भानेवाला सेठाईका व्यवहार करता है, अपनेको अमुकका पिता हूँ, इस रूपसे भानेवाला पितृव्यवहार करता है अर्थात् पुत्रका राग, पुत्रका पालन चिन्ता आदि करता है। इसी प्रकार अनेकों दृष्टान्त जनना। इस तरह यह देखा गया है कि जो जैसा अपनेको भाता है वह उस रूप व्यवहार करता है। जो फिर अपने ज्ञान दर्शन स्वभावी भाता है, वह ज्ञाता द्रष्टा क्यो न बनेगा? अतः आत्मभावना करो तो आत्मव्यवहार ही करोगे, जिससे सहज प्रायः आनन्द प्राप्त होता हूं।

८३—कल्याणार्थीका कर्तव्य

शाश्वत, हितकारी, सहज आनन्दके लाभको कल्याण कहते है।

कल्याणके अर्थी पुरुषका कर्तव्य है कि जिन उपायोंसे कल्याणका लाभ हो उन उपायोंको करे। विज्ञानवाद, युक्तिवाद, आर्षवाक्य एवं अनुभवसे यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि किसी भी पदार्थका परिणमन कोई अन्य पदार्थ नहीं कर सकता। हां मलिन परिणमन करनेवाले पदार्थ परपदार्थका निमित्त पाये बिना मात्र अपने स्वभावसे मलिन परिणमन नहीं कर पाते; सो इसका भी मर्म यही है कि विकार परिणमनकी योग्यता वाले पदार्थ परपदार्थको निमित्तमात्र पाकर अपनी ही परिणतिसे विकाररूप परिणम जाता है। यह एक सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। यहां भी कोई अन्य पदार्थ किसी पदार्थका परिणमन नहीं कर देता अर्थात् निमित्त उपादानका परिणमन नहीं कर देता। फिर भी इस सम्बन्धमें विशेष चर्चासे यहां प्रयोजन नहीं है, क्यों कि मलिन परिणाम हितरूप नहीं और उसकी जरूरत है। परम आनन्दरूप अवस्था आत्माकी अपने आपमें प्रकट हो सकती है। उसे अन्य कोई आत्मा अथवा कोई पुद्गल आदि प्रकट नहीं करता। प्रत्येक आत्माकी आनन्द अवस्था उस ही आत्माकी सहजकलासे प्रगट हो सकती है।

परम आनन्दके लाभके लिये सर्व प्रथम वस्तुस्वरूपके यथार्थ विज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि यह जीव अपनेको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें रम कर ही तो आकुलित हो रहा है। सो बाह्य पदार्थोंसे निवृत्ति और निज पदार्थ में अनुष्ठान हुए बिना वास्तविक आनन्द कैसे आ सकता है? बाह्य पदार्थसे हटना बाह्यपदार्थकी अहितरूपता जाने बिना कैसे हो सकता है? बाह्य पदार्थ की अहितरूपताका ज्ञान उस पदार्थके यथार्थ परिचयके बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनुष्ठान भी आत्माके यथार्थ परिचय बिना नहीं हो सकता।

वस्तुका यथार्थस्वरूप क्या है? इस विषयका वर्णन पूर्वके अनेक प्रकरणोंमें आगया है। अतः उसे यहा नहीं कहना है। संक्षेपमें यहां इतना जान लेना चाहिये कि आत्माका आनन्द किसी भी अन्य पदार्थसे प्रकट नहीं होता। वह

तो उसही आत्माके यथार्थ ज्ञानपर निर्भर है। स्व परका यथार्थ ज्ञान होनेसे मुझे बाह्यमें कुछ करनेका काम ही नहीं पड़ा है, यह मजबूत प्रत्यय हो जाता है। अतः बाह्यसे अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है और आत्मा करता भी क्या है। उक्त शुद्ध मार्गके उपयोगसे जो होना चाहिये वह स्वयं हो जाता है।

कल्याणमार्गमें बढ़नेके लिये बुद्धिपूर्वक व क्रमिक उपायका यत्न क्या है? इस विषयमें कुछ लिखते हैं। यद्यपि कोई आत्मा एकदम शीघ्र शीघ्र अनेक बातोंको पार कर कर मुख्य उपायोंको करके कल्याण कर लेता है तो भी क्रमिक उपाय जान लेना आवश्यक है ही, क्योंकि अधिकतर जीव क्रमिक उपायसे कल्याणमार्गपर चल सकते हैं।

कल्याणार्थीको साधारणतया व्यवहार ज्ञान तो होता ही है, जिसके बलपर वह गृहीतमिथ्यात्व, अन्यायप्रवृत्ति व अभक्ष्यभक्षणका त्याग करे। आरम्भी परिग्रही गुरुवोंकी सेवाका त्याग करना रागवर्द्धक अतत्त्वपोषक शास्त्रोंका हितबुद्धिसे स्वाध्याय करना व सरागी देवोंकी उपासना करना गृहीतमिथ्यात्व है। इस गृहीतमिथ्यात्वका त्याग करना चाहिये। जो कार्य अपनेको प्रतिकूल लगे उसे दूसरेके प्रति करना सो अन्याय है, इसका त्याग करना चाहिये। शराब, मांस, शहद, बड़, पीपल आदि कठूंवर इन चीजोंके सेवनका त्याग करना चाहिये।

किसी ज्ञानी पुरुषके समीप वस्तुस्वरूपके विवेचक ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये तथा अधीत ग्रन्थोंके मर्मका भावपूर्वक मनन करना चाहिये। ज्ञानोपासनाकी सिद्धि विनयपर अवलम्बित है। अहङ्कार भावको मिटानेमें परमकुशल अन्तर्विनय जिनके है वे ही ज्ञानकी सिद्धि पाते हैं। ऐसी अन्तर्विनय जिनके होती है उनका व्यवहार भी योग्य विनयको प्रकट करता हुआ होता है। अन्तर्विनय व बाह्यविनय ये दोनों ही कल्याणार्थीके लिये यथापद आवश्यक हैं।

ब्रह्मचर्य तो सब आचारोंका मूल आचार है। धर्मके नाम पर कितना

ही तपश्चरण आदि योग करे किन्तु यदि ब्रह्मचर्य नहीं रखा जा सकता तो वह सब विडम्बना है। ब्रह्मचर्यसे ही सब आचारोंकी सिद्धि है।

उक्त सब प्रयोग निरहङ्कारता प्रकट होनेपर ही यथार्थतया किये जा सकते हैं। किसी भी पर्यायमें अहंबुद्धि नहीं करना ही वास्तवमें निरहङ्कारता है। अहङ्कार मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वसे संसारपरिभ्रमण है।

प्रिय आत्मन्! संसारपरिभ्रण क्या हित है? कल्पनासे माने जाने वाले सुखभावसे क्या आत्मसिद्धि है? सुख और दुःख सब पञ्चजाल है, इन्द्रजाल है। इनमें विश्वास मत कर। शुद्ध सनातन निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि कर, उसीको हित समझ।

कल्याणकी चाह जिसे हुई है उसे किसी भी मजहबका पक्ष नहीं होता, किन्तु वह वस्तुके यथार्थस्वरूपकी प्रतीति में रहता है। वस्तुके यथार्थस्वरूपका परिचय होनेपर वह निःशङ्क रहता है, मोहको दूर ही कर देता है। सम्यग्ज्ञान से सर्व क्लेश नष्ट होजाते हैं। अतः कल्याणार्थियोंको यही उचित है कि सर्व उपायसे पक्षपात छोड़कर वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय प्राप्त करनेके लिये उपयोग लगाये और फिर उस परिचित स्वरूपकी प्रतीति रखे।

चाहे दुनियां उस क्रियाको, धर्मको निन्दाकी दृष्टिसे देखे या प्रशंसाकी दृष्टिसे देखे उसकी परवाह कल्याणार्थी को नहीं करना चाहिये। पक्षपात छोड़कर सर्व आशावोंको त्यागकर स्वयं ही स्वयं जो स्वयंका अनुभव किया जाता है वही पन्थ है।

विशुद्ध कल्याणकी भावना रखनेवाले साधकको यदि यह समस्या आवे कि किस धर्मका मैं पालन करूं जिससे मेरा उद्धार हो, क्योंकि सभी लोग व प्रायः सभी गुरु अपने अपने धारण किये हुए मजहबकी प्रशंसा करते हैं तो ऐसी स्थितिमें साधकको सभी मजहबोंका आलम्बन छोड़ देना चाहिये, जिस कुल व मजहबमें वह उत्पन्न हुआ है उसका भी चिन्तन छोड़ देना चाहिये, किन्तु साथ ही ममत्व, राग, द्वेषके विकल्प भी शान्त कर

लेने चाहियें। इस स्थितिको बनाकर आराम व शान्तिसे कुछ स्थिर हो जावे, उसे अवश्य सत्यस्वरूपका दर्शन होगा, अनुभव होगा। पश्चात् उसी तत्त्वकी प्रतीति सहित उसके अनुकूल आचरण बनावे व इस आराधनाका जिन्होंने फल पाया उनके शुद्धस्वरूपकी भक्ति करे, यह मोक्षमार्ग जिन शास्त्रोंमें मिले उसका सविनय मनन करे; इस आराधनामें जो लग रहे हैं उन गुरुवोंकी सेवा व संगतिमें रहे।

ये सब बातें कल्याणार्थीके सहज होने लगती हैं। भगवान् चैतन्यस्वभाव परमब्रह्मके दर्शन और अनन्यशरणताके प्रसादसे सर्व मङ्गल होते है, अर्थात् शाश्वतः सहज आनन्दकी सिद्धि होती है।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः